

महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व

लेखक

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

एम. ए., पी-एच. डी., शास्त्री

भूमिका

डा० हीरालाल माहेश्वरी

एम. ए., एल्-एल्. बी., डी. फिल., डी. लिट्.

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक

सोहनलाल सोगानी

मंत्री

प्रबन्धकारिणी क्रमेटी

वि० जैन ग्र० क्षेत्र भीमहावीरजी,

महावीर भवन, जयपुर-३

विषय-सूची

प्रकाशकीय

श्रीभार

भूमिका

प्रस्तावना

श्रीबंशरस्वामि चरित	(पूरी कृति)	१-७२
विवेक बिलास	"	७३-१५०
अध्यात्म आन्हलड़ी	आंशिक पाठ	१५१-२४२
श्रीपाल चरित	"	२४३-२५२
पद्मपुराण भाषा	"	२५३-२८०
हरिवंश पुराण भाषा	"	२८१-२९४
परमात्मप्रकाश भाषा टीका	"	२९५-२९८
आदिपुराण	"	२९९-३१०

प्रकाशकीय

“ महाकवि दौलतराम कासलीवाल-व्यक्तित्व एवं कृतित्व ” पुस्तक को पाठकों के हाथों में देते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता है। श्री महावीर ग्रंथमाला का यह १७ वां प्रकाशन है। इनमें राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची के पाँच भाग, पञ्चस्तुत संग्रह, प्रद्युम्नचरित, जिरादस्त चरित राजस्थान के जैन सन्त-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, *Jaina Grantha Bhandars in Rajasthan*, हिन्दी पद संग्रह जैसी महत्वपूर्ण पुस्तकों के नाम उल्लेखनीय है। “राजस्थान के जैन सन्त”, पुरस्कृत पं० गोपालदास बरैय्या पुरस्कार द्वारा पुरस्कृत होना हमारे प्रकाशनों के स्तर की ओर एक संकेत है। क्षेत्र द्वारा संचालित साहित्य शोध विभाग का मुख्य उद्देश्य प्राचीन एवं अलभ्य साहित्य का संरक्षण, महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन तथा राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों का सूचीकरण करना रहा है। इस उद्देश्य में उसे कहीं तक सफलता मिली है इसके बारे में तो विद्वान ही कुछ कह सकते हैं। लेकिन क्षेत्र द्वारा प्रकाशित साहित्य के आधार पर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैनधर्म एवं साहित्य के प्रति विद्वानों में जो रुचि पैदा हुई है वह इसकी प्रगति का शुभ सूचक है। इसके अतिरिक्त साहित्य शोध विभाग में जितनी अधिक संख्या में विद्वान एवं शोध छात्र अपने शोध कार्य के लिये आने लगे हैं वह भी जैन साहित्य के प्रति विद्वानों की अभिरुचि में वृद्धि का एक कदम है ऐसा हमारा विश्वास है।

जयपुर नगर गत २४५ वर्षों से जैन विद्वानों का केन्द्र रहा है। हिन्दी साहित्य की इन्होंने जो महत्वपूर्ण सेवा की थी वह देश के विद्वानों से छिपी नहीं है। इन विद्वानों में दौलतराम जी, टोडरमल जी, बलतराम जी, जयचन्द्र जी, पारसदास जी, सदासुख जी, गुमानीराम, चंगाराम भांवसा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों में से पं० टोडरमल जी के बारे में तो समाज अवश्य जानता है लेकिन अन्य विद्वानों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी बहुत कम लोगों को है। दौलतराम कासलीवाल जयपुर नगर के ऐसे ही प्रथम महाकवि थे जिनके ग्रन्थों का हम स्वाध्याय तो करते रहते हैं लेकिन उनके व्यक्तित्व के बारे में अधिक नहीं जानते। इन्होंने हिन्दी भाषा में १८ ग्रन्थों की रचना करके साहित्य की महान्त सेवा की थी। प्रस्तुत पुस्तक में उनके विस्तृत जीवन परिचय के अतिरिक्त डा० कासलीवाल जी ने तत्कालीन जयपुर के विद्वानों एवं

राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में भी अच्छी जानकारी दी है । पुस्तक में उनकी दो महत्वपूर्ण कृतियों - जीवन्धर चरित एवं विवेक विनास को पूर्ण रूप से तथा अन्य कुछ कृतियों के पाठांश दिये गये हैं । हमारा विश्वास है कि हिन्दी साहित्य पर काम करने वाले विद्वानों के लिये यह पुस्तक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण सिद्ध होगी । प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के जैन कवियों को प्रकाश में लाने की हमारी योजना का एक शुभारम्भ है ।

हिन्दी जैन कवियों पर विस्तृत परिचयात्मक पुस्तकों के अतिरिक्त भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित हिन्दी कृतियों के सम्पादन का कार्य भी चल रहा है । इनके प्रकाशन का कार्य भी शीघ्र ही प्रारम्भ होने वाला है ।

पुस्तक की भूमिका लिखने में राजस्थानी भाषा एवं साहित्य के अधिकारी विद्वान् डा० हीरालाल जी माहेस्वरी ने जी कष्ट उठाया है इसके लिये हम उनके पूर्ण आभारी हैं ।

१-६-७६

सोहनलाल सोमानी
मंत्री

भूमिका

गोध मनन और महानता की दृष्टि से हिन्दी भाषा और साहित्य के अनेकविध अध्ययन में बहुत सी जिज्ञासियों, पूर्वपर सम्बन्ध सूत्रों के शोभन रह जाने के कारण उत्पन्न उसभक्तों और समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएँ भिन्न-भिन्न रूपों में हिन्दी के विद्वानों और शोधकों के सम्मुख घटाकदा आती रहती हैं। जहाँ तक जनसाधारण का प्रश्न है, वह तो 'खड़ी बोली' को, जो राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकृत है, हिन्दी मानता है किन्तु हिन्दी से थोड़ा-बहुत भी प्रेम रखने वाले यह जानते हैं कि हिन्दी की इपत्ता खड़ी बोली एक ही नहीं है। विद्वानों ने पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी, बिहारी तथा पहाड़ी और इनकी बोलियों को हिन्दी के अन्तर्गत समझा है। कतिपय विद्वानों ने पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी को बोलियों को हिन्दी के अन्तर्गत लेने का सुझाव दिया है। इस प्रकार, मोटे रूप में हिन्दी के अर्थ के सम्बन्ध में ये तीन मत प्रचलित हैं। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से मैथिली, ब्रज, राजस्थानी, अवधी और खड़ी बोली पृथक्-पृथक् भाषाएँ हैं, पर साहित्यिक दृष्टि से विद्वान इनमें लिखे गए साहित्य को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत समझते हैं, और यह तो स्वीकृत तथ्य है ही कि परिमाण और गुण की दृष्टि में इन पाँचों में लिखा गया साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी में बहुत बड़े परिमाण में एक प्रकार के मिश्रित साहित्य का भी निर्माण हुआ है। यह उस मिश्रित भाषा में रचा गया है जो प्रमुखतः दो भाषाओं के संवलन और एकीकरण से बनी है, यथा— राजस्थानी और ब्रज (जिसे पिगल कहते हैं), राजस्थानी और खड़ी बोली (जिसके उदाहरण भूलणा, नोसाणी और अरिल्ल छन्दों में रचित प्रचुर रचनाएँ हैं), ब्रज और खड़ी बोली। पं० टोडरमल, पं० दौलतराम कामनीदाज आदि अनेक लेखकों की गद्य रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। मिश्रित भाषा का आधारभूत व्याकरणिक ढाँचा तो प्रायः एक भाषा का ही रहता है परन्तु दूसरी भाषा स्पष्टतः अन्योन्याश्रित रूप से समीकृत हुई रहती है। कहना न होगा कि "पिगल" के अतिरिक्त अन्य ऐसी किसी भी 'मिश्रित भाषा' और उसके साहित्य का अध्ययन हिन्दी में नहीं हुआ है। मैं कहना चाहता हूँ कि मिश्रित भाषा का ऐसा समवाय और समवायिक मिश्रित भाषाओं का प्रचार-प्रसार हिन्दी भाषा के इतिहास की महनीय घटना है, यह उसकी समन्वया-

त्मक प्रवृत्ति और सरलीकरण का उद्बोध है । शोधार्थियों को इस ओर प्रेरित होना चाहिए ।

इसलिए जब हिन्दी संज्ञा के अन्तर्गत उसका भाषिक या साहित्यिक अध्ययन किया जाता है (विशेषतः लगभग संवत् १९२५ तक) तो अध्येता के लिए यह बताना परमावश्यक हो जाता है कि वह इसके अन्तर्गत किस भाषा का (राजस्थानी, ब्रज, अवधी या मिथिल आदि का) अध्ययन प्रस्तुत कर रहा है । यदि कोई अध्येता हिन्दी नाम के अन्तर्गत उसके आभोग में आने वाली किसी भाषा-विशेष का उल्लेख न करके, सामान्य रूप से एक भाषा या उसके साहित्य का ही अध्ययन प्रस्तुत करता है, तो वह हिन्दी नाम की सार्थकता कदापि सिद्ध नहीं करता । यह केवल अध्येता का अपना और सुविधावादी दृष्टिकोण ही है । दुर्भाग्य से हिन्दी में आजकल ऐसे अध्ययन ही अधिक हो रहे हैं, जो अनेक भ्रान्तियों को जन्म देते हैं ।

उपयुक्त कथन से यह सिद्ध है कि हिन्दी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और उसकी-अर्थात् उसकी विभिन्न बोलियों को प्रयोग में लाने वालों की संख्या देश की लगभग एक तिहाई जनसंख्या के बराबर है । इतने बड़े प्रदेश में हिन्दी की विभिन्न बोलियों में रचे गए साहित्य का, अभी तक आकलन और संक्षेप भी भली प्रकार नहीं हो सका है, और जब कोई भी साहित्यिक महत्त्व की कृति या अस्त्र कवि जब कभी प्रकाश में आता है तो हिन्दी साहित्य की परम्परा में या तो वह एक नई कड़ी जोड़ता है अथवा खीरा ही सही, किसी नई परम्परा की सूचना देता है । अनेक कारणों से बड़े क्षेत्र विशेष में लोक-भावना के अनुसार, कतिपय नवीन साहित्यिक परम्पराएँ आरम्भ हो जाती हैं । इसके विनिष्ट कारण पारम्परिक, भौगोलिक, राजनैतिक और सामाजिक होते हैं । यद्यपि सांस्कृतिक स्रोत प्रायः सबका समान ही रहता है तथापि इन कारणों से लोक में विभिन्न परम्परा या परम्पराओं का विकास और प्रसार हो जाता है । जैसे भाषा विशेष की अपनी प्रकृति होती है वैसे ही इन साहित्यिक परम्पराओं की भी अपनी विशेषताएँ होती हैं, जिन्हें भाषा विशेष की साहित्यिक जातीय परम्पराएँ कह सकते हैं । उदाहरणार्थ, ब्रज भाषा की प्रकृति की मुख्य बातें ये कही जा सकती हैं—मुक्तक, सर्वथा, मनहरण, और दोहा छन्द, शृंगार प्रेम तथा राधा-गोपी-कृष्ण विषयक रचनाओं का बाहुल्य, हृदय की कोमल मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति आदि । राजस्थानी की प्रकृति की मुख्य बातें हैं— मुक्तक रचनाओं के साथ-साथ प्रभूतशः प्रबन्धात्मक ऐतिहासिक और वीर रसात्मक रचनाओं का निर्माण, शुद्ध लौकिक प्रेमकाव्य, ओज गुण प्रधान, कोमल भाक्तियों के साथ-साथ पुरुष और कठोर

वृत्तियों का चित्रण, राम और कृष्ण के वीर और उद्धारक रूपों का विशेषतः चित्रण, डिगल गीत दोहा और भीमांगी आदि छन्दों का प्रभूत प्रयोग आदि। जहाँ में जहाँ राधा कृष्ण और गोपी कृष्ण से सम्बन्धित अनेक लीलाओं और चरित्र का वर्णन मिलता है, वहाँ राजस्थानी में रुक्मिणी-कृष्ण प्रबन्ध अथवा रामचरित विष्णु प्रबन्ध काव्यों का समुदाय है। यद्यपि भगवान के सभी अवतार सभी जगह मान्य है तथापि उल्लिखित कारणों से राजस्थानी में जहाँ भगवान के उद्धारक और वीर रूप को विशेष रूप से लिया गया है, वहाँ वहाँ में विशेषतः कृष्ण के बाल अथवा राधा कृष्ण या गोपी कृष्ण रूप को। यह तो एक छोटा सा उदाहरण है जो यह सिद्ध करता है कि व्यापक रूप से हिन्दी साहित्य के सम्यक् और सांगोपांग अध्ययन में प्रत्येक क्षेत्र में लिखे गये प्रत्येक प्रकार के हिन्दी साहित्य का आलोड़न-विलोड़न और वहाँ प्रचलित विशेष परम्पराओं की समझने की एक महती आवश्यकता है। इस संदर्भ में एक और बात की ओर संकेत करना भी आवश्यक है। ऐसी अनेक समृद्ध साहित्यिक परम्पराएँ और काव्य ग्रन्थ हैं, जिनका इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ है। कइयों का तो नामोल्लेख मात्र भी नहीं है। विद्वानों के पुनः विचारार्थ इन परम्पराओं की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है—जैन साहित्य परम्परा, संत काव्य परम्परा, राम और कृष्ण काव्य परम्परा, ऐतिहासिक और वीर रसात्मक काव्य परम्परा, विभिन्न जीवन्त सम्प्रदायों का सम्प्रदायिकता से भुक्त साहित्य और उसकी सतत प्रवृद्धमान परम्परा। 'आदिकाल' के जाली या परवर्ती सिद्ध हुए काव्यों का यथाकालों में सन्निवेश, भक्ति काल में अनेकशः वीर काव्यों तथा लौकिक प्रेम काव्यों आदि का विवेचन, रीतिकाल में पूर्वकालों की परम्पराओं के प्रतिरिक्त, नवीन उद्भूत सम्प्रदायों के साम्प्रदायिकता भुक्त काव्यों, राष्ट्रीय काव्यों का समावेश आदि आदि। ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनको हिन्दी साहित्य के इतिहास में सम्यक् स्थान मिलना चाहिए। अब यह बात अनेक विद्वानों द्वारा मान ली गई है कि जिन रचनाओं में साहित्यिक गुण हैं और जिनका प्रेरणा स्रोत धर्म है, साहित्यिक, इतिहास में विवेचनीय हैं।

ऊपर हिन्दी साहित्य के इतिहास में जैन साहित्य के सन्निवेश और मिश्रित भाषा का उल्लेख हो चुका है। कहना न होगा कि जैन साहित्य के अनेक कवि और कृतियाँ इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में विवेचनीय हैं। भाषा की दृष्टि से भी जैन साहित्य का गौरवपूर्ण स्थान है। हिन्दी की अन्यान्य प्रमुख काव्यधाराओं की भाँति, जैन साहित्य धारा भी किसी न किसी रूप में सतत प्रवृद्धमान रही है। आदिकाल से लेकर अद्य पर्यन्त जैन साहित्य की

अनेक कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं किन्तु फिर भी उनका किसी प्रकार का कोई उल्लेख साहित्येतिहास में एक धारा विशेष के रूप में अथवा भाषागत देन के रूप में विद्वानों द्वारा नहीं किया गया है ।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल की प्रस्तुत कृति 'महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व' एक ऐसा ही ग्रन्थ है जो पाँच दृष्टियों से विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—(१) दौलतराम का काव्य (२) उनका गद्य (३) पाठ-सम्पादन और व्याख्या की दृष्टि से (४) काव्य रूप, भाषा, कथानक रुढ़ियाँ और तत्कालीन समाज चित्रण (५) कवि द्वारा अपनी भाषा विषयक संकेत ।

यह आश्चर्य की बात ही कही जानी चाहिए कि दौलतरामजी का आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उल्लेख किए जाने के बाद भी, ये परवर्ती विद्वानों की दृष्टि से ओझल ही रहे । शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'गद्य का विकास' (पृ० ११) के संदर्भ में दौलतराम का नामोल्लेख और उनके गद्य में लिखे आदिपुराण की नमूने के रूप में कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की हैं । इस प्रकार एक हिन्दी गद्य लेखक के रूप में दौलतरामजी साहित्य संसार में थोड़े बहुत परिचित तो थे किन्तु इस रूप में भी उनकी किसी प्रकार की कोई चर्चा नहीं हुई ।

प्रस्तुत पुस्तक के सुयोग्य संपादक और लेखक डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इसमें न केवल काव्य की तीन गद्य कृतियों—'पद्मपुराण भाषा', 'आदि-पुराण', और 'हर्षविंश पुराण' के कतिपय अंशों को मूल रूप में दिया है, अपितु उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाओं, 'जीवन्धर स्वामी-चरित', 'विवेक-विलास' पूर्ण रूप में तथा श्रीपाल चरित, परमात्म प्रकाश भाषा टीका एवं अध्वरम बारहसड़ी का प्रांशिक रूप में समावेश किया है । इससे गद्य लेखक के रूप में भी दौलतरामजी प्रकट होते हैं । हिन्दी गद्य के अनुसन्धितसुओं के लिए इसमें पर्याप्त सामग्री है । इनकी भाषा खड़ी बोली मिश्रित ब्रज भाषा है जिसमें यत्र-तत्र हूँदाड़ी की झलक भी दिखाई देती है, किन्तु बहुत ही कम । और निश्चय ही यह मिश्रित भाषा अध्ययन का नवीन बिन्दु उपस्थित करती है । ब्रज और खड़ी बोली मिश्रित ऐसी भाषा के उदाहरण केवल दौलतरामजी की रचनाओं में ही नहीं प्राप्त होते, इनसे किञ्चित् पूर्व हुए पं० टोडरमलजी के मोक्षमार्गप्रकाशक की भाषा भी ऐसी ही है । दोनों की भाषा में अंतर इतना है कि जहाँ टोडरमलजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक की भाषा में ब्रजी अपेक्षाकृत प्रधान है, वहाँ दौलतरामजी की भाषा में ब्रज और खड़ी बोली दोनों का बराबर सा मिश्रण है । हूँदाड़ी का इत्का पृष्ठ दोनों की ही भाषाओं में है, जो दोनों के इस क्षेत्र के निवासी होने

के कारण स्वाभाविक ही था। खड़ी बोली और ब्रज भाषाओं के विकास क्रम में इस प्रकार की भाषा का प्रचलन, उसकी मुख्य-मुख्य कृतियाँ और उसके समय विशेष के स्वरूप तथा मानक खड़ी बोली के विकास क्रम में उसका योगदान, अध्ययन के बने हुए आग्राम हैं, जिनकी ओर शोधार्थियों का ध्यान जाना चाहिए। यह जहाँ हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रसार का छोटक है, वहाँ तदनुगुण एक सामान्य भाषा की आवश्यकता पूर्ति की ओर उल्लेखनीय कदम भी।

दौलतरामजी का काव्य जैन धर्म से प्रभावित तो है किन्तु उनकी कृतियों में सुन्दर काव्यत्व के भी दर्शन होते हैं। जैन काव्यों की चरित परम्परा में उनके 'जीवन्धर स्वामी चरित', 'श्रेणिक चरित' और श्रीपाल चरित उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये प्रबिकीर्ण में पद्यात्मक कृतियाँ हैं, तथापि अनेक स्थलों पर रूप, स्थिति और मनोभावनाओं के मोहक चित्र इनमें मिलते हैं। काव्य, अद्यात्म और रूप की दृष्टि से दौलतरामजी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ विवेक-विलास और अद्यात्म-बारहखड़ी हैं। ये दोनों कृतियाँ हिन्दी की दो विशिष्ट परम्पराओं-रूपक काव्य तथा कवको काव्य या बावनी काव्य या बारह खड़ी काव्य परम्परा की न केवल महत्वपूर्ण कृतियाँ ही हैं, अपितु उनके प्रौढ़ रूप का दिग्दर्शन करती हैं। विशेष विभास में ६२४ दोहे हैं, जो दोहा काव्य परम्परा में भी विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। जैन कवियों द्वारा लिखित रूपक या प्रतीक काव्य की परम्परा पुरानी है। हिन्दी में पन्द्रहवीं शताब्दी उत्तरार्ध के आरंभ में राजशेखर सूरि रचित 'त्रिभुवन दीप प्रबन्ध' (अपर नाम प्रबोध चिन्तामणि या परमहंस प्रबन्ध) इस प्रकार की एक महत्वपूर्ण रचना है। इस परम्परा में जैन और जैनेतर सभी कवियों ने योगदान दिया है किन्तु सर्वाधिक कृतियाँ जैन कवियों की ही मिलती हैं। जैनेतर कवियों में इस कोटि की रचना अधिकांशतः विभिन्न सम्प्रदायों के कवियों ने अद्यात्म-दृष्टि से की हैं, जिनमें विष्णोई कवि सुरजनदासजी कृत 'ज्ञान महात्म' और 'ज्ञान तिलक' तथा सेवादास रचित 'पिसरा संघार,' प्रबन्धाभास बड़े रूपक काव्य हैं। ६२४ दोहों में रचित विवेक विलास इस परम्परा की सर्वाधिक बड़ी और महत्वपूर्ण रचना है। इसी प्रकार कवको या बारहखड़ी काव्य भी बहुत लिखा गया है जिसमें जैनेतर कवियों का योगदान, रूपक काव्यों की तुलना में बहुत ज्यादा है। ऐसी काव्य परम्परा में प्रस्तुत कवि की अद्यात्म बारहखड़ी का महत्व स्वयं स्पष्ट है।

पाठ संपादन और व्याख्या के क्षेत्र में भी दौलतराम जी के परमात्म-प्रकाश भाषा टीका का विशेष महत्व है। इसमें उन्होंने परमात्म प्रकाश के पाठ के साथ प्रत्येक छन्द की विस्तार से टीका, जिसे व्याख्या कह सकते हैं, की है। इस कृति के पाठ-संपादन के लिए दौलतरामजी द्वारा प्रस्तुत किया गया पाठ

भी विचारणीय सिद्ध हो सकता है । इसके जो दो उदाहरण प्रकाशित 'टीका' में दिए गए हैं, उनको डा० ए० एन० उपाध्ये संपादित 'परमात्म प्रकाश' से मिलाने पर शब्दान्तों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है । डा० उपाध्ये के संबंधित पाठ में जहाँ 'भासश्रो', 'दिव्व-काश्रो', 'दिव्व-जोश्रो', शब्द हैं, वहाँ इस टीका में उनके स्थान पर क्रमशः भासउ, दिव्वकाउ, तथा दिव्व जोउ शब्द हैं । शब्दान्त में 'श्रो' और 'उ' के ये प्रयोग स्वर परिवर्तन के लेखन-प्रमाद के कारण भी हो सकते हैं और भाषा-प्रवृत्ति भी । यदि इसकी विभिन्न प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध हो कि इस भाषा टीका का पाठ एक, विभिन्न परम्परा या उप-परम्परा का है, तो निस्सन्देह इसका महत्व बढ़ जाएगा । अर्थों का स्पष्टीकरण टीका में विस्तार से किया गया है जो इसके ग्रन्थेताओं को मूल मंतव्य को हृदय गम कराने में सहायता देता है । संदेश रासक को समझने के लिए जैसे लक्ष्मी चन्द्र कृत टिप्पणक रूपा व्याख्या तथा दूसरी टीका जिसे अचचूरिका कहा गया है, का जो महत्व है, वैसा ही महत्व परमात्मप्रकाश को समझने के लिए दौलतराम कासलीवाल की इस भाषा टीका का है । यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अपभ्रंश काव्यों को समझने के लिए ऐसी टीकाओं का आज बड़ा महत्व है । अपभ्रंश की ही नहीं, हिन्दी की बहुत सी पुरानी कृतियों को भी यदि उनकी टीकाएँ उपलब्ध होतीं, तो और भी अच्छी तरह समझा जाता । राठौड़ पृथ्वीराज की 'वेलि क्रिसन रूमणी' का भावार्थ उसकी ऐसी विभिन्न टीकाओं के कारण ही हमको प्रधानतः सुलभ हुआ है ।

मध्ययुगीन काव्यों में अनेक कथानक रुढ़ियों का प्रयोग हुआ है । जैन काव्यों में भी विभिन्न अवसरों पर कथा को बांझित मोड़ देने में इनका प्रयोग किया गया है । दौलतराम जी के उल्लिखित चरित काव्यों में उनका प्रभूत प्रयोग हुआ है । इस दृष्टि से यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है । तत्कालीन समाज और कतिपय स्थानों तथा व्यक्तियों के नामोल्लेख दौलतराम जी की रचनाओं में किए गए मिलते हैं । इससे उनके समय के समाज को विशेषतः जैन समाज को समझने का माध्यम तो मिलता ही है, साथ ही उस समय के अन्य जैन विद्वानों और कवियों का उल्लेख, जैन साहित्यिक परम्परा का द्योतन तथा उल्लिखित लोगों के विषय में अध्ययन करने की हमारी इच्छा को जाग्रत करता है ।

एक उल्लेखनीय बात यह है कि दौलतराम जी ने अपनी भाषा को 'देश भाषा' की संज्ञा दी है । प्रायः सभी हिन्दू कवियों ने अपनी भाषा-द्योतन के लिए ऐसे या ऐसे ही अन्य प्रयोग किए हैं । 'देश भाषा' प्राकृत भाषा या भाषा के ऐसे उल्लेख, मुसलमान कवियों द्वारा लिखी गई की सड़ी बोली रचनाओं के

लिए प्रयुक्त हिन्दी, हिन्दवी आदि के संदर्भ में कुछ विचारणीय संकेत उपस्थित करते हैं। खड़ीबोली प्रसार के प्रसंग में ऐसे संकेतों द्वारा चोटित भाषा और उसकी मूल प्रवृत्ति का अध्ययन, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से किया जाना नितान्त आवश्यक है। ऐसी हिन्दी की चलिचलित भाषी आवाज़ों विशेषतः खड़ी बोली के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलेंगे।

डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने अपनी वृहद् प्रस्तावना में दोलतरामजी और उनकी कृतियों पर तो अनेकविध प्रकाश डाला ही है, तत्कालीन विद्वत्-मंडली और विभिन्न कवियों का भी संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित परिचय दिया है, जो मूल रूप में पठनीय है। दोलतराम जी का समय संवत् १७४६ से १८२६ तक अर्थात् अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्ध और उन्नीसवीं का पूर्वार्ध था। इस प्रकार, डा० कासलीवाल जी की प्रस्तावना से उस समय के अन्य महत्वपूर्ण कवियों का परिचय भी प्राप्त हो जाता है। इस समय से सम्बन्धित जैन साहित्य पर शोध कार्य करने वालों के लिये एक आधार भूमि इस प्रस्तावना में मिलती है।

डा० कासलीवाल लगभग पिछले २५ वर्षों से किसी न किसी रूप में साहित्य सेवा करते रहे हैं। हिन्दी संसार उनकी विभिन्न कृतियों और लेखों के माध्यम से उनसे परिचित है। अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ उन्होंने साहित्य संसार को प्रदान की हैं। जिन तथ्यों, साहित्यिक मान्यताओं और परम्पराओं को उन्होंने साकार रूप दिया है, उनसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने अपने मत-मतान्तरों में संशोधन विए है। अनेक शोधार्थियों को उनकी रचनाओं से नवीन क्षेत्र, आधार भूमि, प्रेरणा और सम्बल मिला है। बिना किसी प्रकार का आर-गुल किए वे एकान्त भाव से साहित्य साधना में लीन और 'असुर्यपश्य' रचनाओं को हमारे सम्मुख रख रहे हैं। स्वतः प्रेरणा के स्रोत और धुन के घनी डा० कासलीवाल जैसे साहित्य साधक और शोधक कम ही मिलेंगे। उनकी सभी कृतियों का साहित्य संसार में बहुत अच्छा स्वागत हुआ है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनका यह ग्रन्थ यथार्थ, साहित्यिक और धर्मभाव-तुष्टि के अतिरिक्त मनन और शोध का आधार बनेगा तथा इसका उन अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया जाएगा जिनका किंचित् संकेत-उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

ऐसी महत्वपूर्ण और सुन्दर कृति के प्रकाशन के लिए डा० कासलीवाल तथा श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी के मंत्री एवं प्रबन्ध कारिणा के समस्त उद्देश्य हिन्दी संसार को और से धन्यवाद के पात्र हैं।

डा० हीरालाल माहेश्वरी

प्रस्तावना

हिन्दी के विकास में राजस्थानी जनता एवं वहाँ के कवियों का विशेष योगदान रहा है। १०वीं शताब्दि के पहले से ही अपभ्रंश और फिर राजस्थानी भाषा के माध्यम से हिन्दी की जितनी सेवा वहाँ के न्यासियों एवं विद्वानों ने की थी; वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अंकित रहेगी। अपभ्रंश भाषा के बहुचर्चित कवि धनपाल राजस्थानी विद्वान थे। जिनकी "भविस्यत् कथा" कथा साहित्य की बेजोड़ कृति है। इसी तरह 'धम्मपरिवर्त्ता' के रचयिता हरिषेण राजस्थानी महाकवि थे। जिन्होंने मेवाड़ देश को जन संकुल लिखा है। तब कथाओं एवं साहित्य का विकास जनप्रिय बनने में इन कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी तरह आचार्य हरिभद्रसूरी चित्तौड़ के थे; जिन्होंने प्राकृत एवं अपभ्रंश में कितनी ही कृतियों को प्रस्तुत करके हिन्दी के विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। हिन्दी की जननी अपभ्रंश राजस्थान की अत्यधिक लोकप्रिय भाषा रही थी और यही कारण है कि इस भाषा की अधिकांश पाण्डुलिपियाँ राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारों में आज भी सुरक्षित हैं। अबतक अपभ्रंश की छोटी बड़ी ५०० कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं। जिनमें अधिकांश राजस्थान के शास्त्र-भण्डारों में संग्रहीत हैं। जब जनता संस्कृत एवं प्राकृत से ऊब चुकी थी; तब उसने अपभ्रंश का सहारा लिया और उसी का आगे चलकर हिन्दी के रूप में विकास हुआ। सन् १३५४ में रचित 'जिएवत्त चरित' इसका स्पष्ट उदाहरण है। यह काव्य अपभ्रंश एवं हिन्दी के बीच की कड़ी का काव्य है। अपभ्रंश ने धीरे-धीरे हिन्दी का स्थान किस प्रकार लिया, वह अपभ्रंश के उत्तरकालीन काव्यों से जाना जा सकता है। इसी तरह सभारु कवि रचित प्रद्युम्न चरित (सं० १४११) का नाम भी लिया जा सकता है। इन काव्यों में हिन्दी के ठेठ (तद्भव) शब्दों का प्रयोग भाषा विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

हिन्दी का आदिकालिक इतिहास राजस्थान के कवियों का इतिहास है। वह वहाँ की जनता की भाषा का इतिहास है। रामो काल के नाम से जो काल निर्देश किया जाता है; वह सब राजस्थानी कवियों की ही रचनाओं के कारण है। रामो साहित्य वहाँ के आदिकालिक कवियों का प्रधान साहित्य है। यद्यपि जनप्रिय कवियों ने काव्य की अन्य शैलियों में भी खूब लिखा है; लेकिन

उसमें भी रासो साहित्य की ही प्रधानता है। ज्ञानिभद्र सूरि का “भरतेश्वर बाहुबलि रास” संभवतः उस काव्य विधा की प्रथम रचना है। इसके पश्चात् “स्थूनिभद्र रास” (संवत् १२०६), “चन्दनबाला रास” (१२५७ सन्) “रेवन्त गिरि रास”, “नेमिनाथ रास” जैसे पचासों रास संज्ञक काव्य लिखे गये; जिन्होंने जनता में पहुँच कर हिन्दी भाषा को लोकप्रिय बनाने में अपना पूरा योग दिया। प्रो० रामचन्द्र शुक्ल एवं डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के आदिकाल का स्वरूप जिस रूप में स्वीकार किया है, उसे संभारने में जैन कविगण ने विशेष योग भी। एक ओर तो इन कवियों ने अपनी सज्जत लेखनी से देश के वीरों के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित की तथा दूसरी ओर राजस्थानी कवियों के प्रति वीर रसात्मक काव्य लिखने के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट की। लेकिन जैन कवि एक ही धारा से चिपके नहीं रहे। उन्होंने ऐसे काल में भी आध्यात्मिक, भक्ति परक, एवं नीति परक काव्य लिखकर अपनी जनप्रिय दृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत किया। आदिकालिक कृतियों में मुनि रामसिंह का “दोहा पाहुड़” एक महत्वपूर्ण कृति है; जिसमें अध्यात्म, भक्ति एवं नीति के साथ ही तत्कालीन समाज की परम्पराओं पर भी आक्षेप किये गये हैं। डॉ० हीरालाल जैन के अनुसार यह सन् १००० की कृति है; जिसमें २२२ दोहे हैं। रामसिंह राजस्थानी कवि थे और अध्यात्म प्रचार एवं समाज सुधार में उनकी गहरी अभिरुचि थी। योगीश्वर कवि का “योगसार” एवं “परमात्म-प्रकाश” अध्यात्म साहित्य की अनुपम कृतियाँ हैं।

आदिकाल के पश्चात् मध्यकाल में गुजस्थानी विद्वानों की हिन्दी सेवा का क्रम अधिक जोर से चला। उस काल के विद्वानों ने दो नाम दिये हैं पहला भक्तिकाल और दूसरा गीतिकाल। इस काल में राजस्थान में मीरा, दादूदयाल, ब्रह्म जिनदास, भट्टारक, हनकीश, कुमुदचन्द्र, ज्ञानगुप्त, दौलतराम जैसे कवि हुए; जिन्होंने हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में सर्वाधिक योग दिया। इन कवियों ने हिन्दी को जन भाषा नाम देकर तथा उसमें संकड़ों कृतियाँ लिखकर उसे भोपड़ियों तक पहुँचाने में अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। हिन्दी में काव्य, चरित, रास, फागु, वेलि, लौपड़, दोहा आदि के रूप में संकड़ों हजारों कृतियों को लिखकर उसे लोकप्रिय बनाया। एक ओर मीरा जैसी सन्त कवियित्री कृष्ण की भक्ति में नल्लीन होकर भक्ति रास में मोत-प्रोत एवं गेय सुलभ पदों को रचना करने लगीं तो दूसरी ओर जैन कवियों द्वारा अध्यात्म, भक्ति एवं नीति परक रचनाएँ लिखकर साहित्य की त्रिवेणी को धलधल कर दिया। राधाकृष्ण के समान नेमि-राजुल के पदों का निर्माण हुआ,

और उनमें शृंगार एवं विरह की कहानी कही जाने लगी । फागु, राम एवं बेलि परक रचनाओं में खुलकर शृंगार रस का प्रयोग हुआ । भक्ति एवं रीतिकाल में राजस्थान के जैन कवियों ने एक विशाल साहित्य की सृजना की की; लेकिन अभी उसके शतांश का भी मूल्यांकन नहीं हो सका है । अभी तो केवल बनारसीदास, भूधरदास जैसे कवियों का नामोत्प्लेख मात्र हुआ है और शेष सारा साहित्य समालोचकों, विद्वानों एवं गवेषकों की दृष्टि से अछूता पड़ा हुआ है ।

मध्यकाल में हिन्दी पूर्णतः जन भाषा बन चुकी थी और संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भी सामान्य जन की समझ के बाहर हो चुकी थी । जैनार्थ एवं विद्वान् जनता की मनोभावना को पहिचान चुके थे । इसलिए उन्होंने १६ वीं शताब्दी से ही संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों की हिन्दी वचनिकाएँ लिखना प्रारम्भ कर दिया; जिससे उनकी रचनाएँ घर-घर पहुँचने लगी । उनकी न केवल धार्मिक दृष्टि से; अपितु साहित्यिक दृष्टि से भी परख होने लगी । आगरा, कामां, उदयपुर एवं जयपुर में ऐसी ही संलियां, जिन्हें आजकल के शब्दों में गोष्ठियों का नाम दिया जा सकता है, चलती थी । हिन्दी भाषा में वचनिकाएँ लिखने वाले कवि जनप्रिय कवि बन गये और उनकी कृतियों का प्रचार-प्रसार घर-घर तक पहुँच गया ।

ऐसे ही जनप्रिय कवियों में महाकवि दीनतराम का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है । कविवर दीनतराम का जन्म उस समय हुआ था; जब कबीर दास, मीरां, सूरदास, तुलसीदास एवं बनारसीदास जैसे कवि लोकप्रिय हो चुके थे और इसके साथ ही हिन्दी भाषा की नींव भी सुदृढ़ होती जा रही थी । मीरां एवं सूरदास के पद, रामायण की चौपाइयां तथा बनारसीदास के नाटक समयसार के छन्द मन्दिरों में, घरों में एवं राजघरों पर चलते-चलते गाये जाने लगे थे और सामान्य जनता भी उनके प्रचार-प्रसार के लिए कृत संकल्प हो चुकी थी । प्राकृत एवं संस्कृत ग्रंथों की भाषा वचनिकाएँ लिखी जाने लगी थी और सामान्य पाठक उन्हें चाव से पढ़ने लगा था । जैन कवियों का प्रमुख केन्द्र उत्तर प्रदेश से हटकर राजस्थान बन चुका था । ऐसे उपयुक्त वातावरण में कविवर दीनतराम का जन्म हुआ ।

महाकवि दीनतराम का जन्म राजस्थान की एक बड़ी रियासत जयपुर के तहसील स्तर के ग्राम बसवा में हुआ । बसवा^१ राजस्थान के प्राचीन नगरों

१ बसवा जयपुर से १०३ किलोमीटर एवं देहली से २०५ किलोमीटर दूरी पर स्थित है ।

में गिना जाता है। जो देहली से अहमदाबाद जाने वाली पश्चिमी रेल लाइन पर एक स्टेशन है। कवि ने अपनी कृतियों में बसवा का नामोल्लेख किया है किन्तु न उसे ग्राम लिखा और न नगर। जैसे राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारों में बसवा में लिपिबद्ध किये हुए कितने ही ग्रंथ मिलते हैं इनमें “त्रिलोक चौबीसी पूजा” की प्रतिलिपि सं० १७०४ में बसवा में ही लिखी हुई उपलब्ध होती है। संवत् १७३३ में त्रिलोकसार की पाण्डुलिपि भी अपने आप में उल्लेखनीय है। स्वयं कवि ने “बसवाँ वास हमारी जानि” कहकर अपने प्रथम निवास स्थान का ‘पुण्याश्रम कथाकोश’ की अन्तिम पुष्पिकाओं में अर्णन किया है इनके घर के सामने ही जिन मन्दिर था। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में बसवा को मध्यप्रदेश का नगर माना है, जो सही नहीं है।

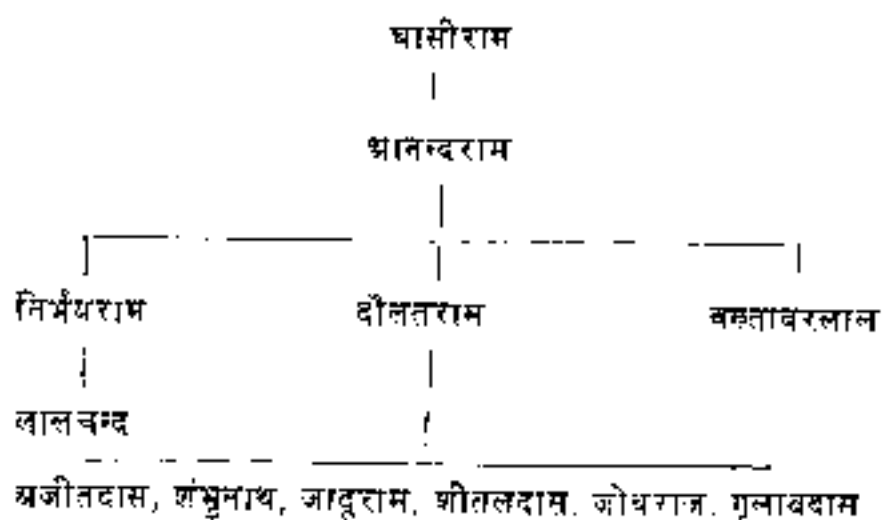
दौलतराम का जन्म संवत् १७४६ की श्रावण कृदी १४ को हुआ^१। इनका जन्म नाम बेगराज था। इनके पिता का नाम आनन्दराम एवं पितामह का नाम घासीराम था^२। ये खण्डेलवाल जाति एवं कासलीवाल गोत्र के दि० जैन श्रावक थे^३। कवि ने अपनी माता के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इनका बाल्यकाल कैसे बीता, कहीं तक अध्ययन किया और ये किसके पास पढ़े इन सब के बारे में कवि मौन हैं किन्तु इनके पिता के उच्च पद पर कार्य करने के कारण इनकी भी शिक्षा अच्छी हुई होगी। और ऐसा लगता है कि इन्हें संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी इन तीनों ही भाषाओं की उत्तम शिक्षा मिली थी। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी इन्हें कराया गया होगा। इनकी विद्वता एवं गहन अध्ययन के कारण ही वे आगरा की ‘अध्यात्म सैली’ के लोकप्रिय सदस्य बन गये थे।

परिवार :— कवि के परिवार का विवरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है।

१. देखिये राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची चतुर्थभाग - पृष्ठ संख्या २८३
२. दौलतराम आनन्दराम का घासीराम का दिवंगत श्री महाराजकवार माधोसिंह का। राजस्थान राज्य अभिलेखागार रजिस्टर कोमबाड़ सं० २१ पृष्ठ संख्या ७४८
३. जान जानियाँ श्रावक सोय, खण्डेलवाल जानहुं सब कोय।

अलि कहिए कासलीवाल आनन्दराम सुत बचन रसाल ॥ ६२ ॥

पुण्याश्रम कथाकोश



कवि के पिता आनन्दराम भी जयपुर महाराजा की सेवा में थे और जोधपुर के महाराजा अभैसिंह के पास जयपुर महाराजा की ओर से देहली में रहते थे।

इनका निधन संवत् १७६२ की आषाढ़ सुदी १४ को हुआ ।^{१४} जब कवि की आयु ४३ वर्ष की थी । कवि के पिता की मृत्यु के पश्चात् इनके बड़े पुत्र एवं कवि के बड़े भाई निर्भयराम को जयपुर महाराजा की ओर से मातमी का सिरोपाव देहली भेजा गया था । ऐसा राजस्थान राज्य अभिलेखागार में संग्रहीत रिकार्ड में उल्लेख मिलता है । निर्भयराम भी अपने पिता के समान देहली में महाराजा की ओर से अभैसिंह के पास ही रहते थे । कवि के छोटे भाई बस्तावरलाल के बारे में विशेष उल्लेख नहीं मिलता ।

कवि के ६ पुत्र थे । चार पुत्रों का उल्लेख तो स्वयं कवि ने अध्यात्म चारहखड़ी के इकारान्त वर्णन में किया है जो निम्न प्रकार है :—

ई में श्री जी की भक्ति प्रार्थना याइ कवि का कवीला को नाव आयो ।
अननद पिता दीलति इत्यादि पुत्र अजितदास इत्यादि चारि दीलति का पुत्र
इति इकारावर स्तुति सम्पूर्णा ।

ऐसा लगता है कि उक्त चार पुत्र अध्यात्म द्वारहखड़ी की समाप्ति तक (संवत् १७६८ तक) हो गये थे । शेष दो पुत्र जोधराज एवं गुलानदास बाद में हुए होंगे । जोधराज अपने पिता के समान ही साहित्यिक व्यक्ति थे । इन्होंने संवत् १८८४ में कामा में सुखविलास नामक विशाल संग्रह ग्रन्थ की रचना की थी । इस कृति में इन्होंने अपने आपका निम्न प्रकार परिचय दिया है :—

४. देखिये दस्तूर कोमवार राजस्थान अभिनेखागार वीकानेर S.No. 1252

दौलत मुख कामा वसै, जोध कासलीवाल ।

निज मुख कारन यह कियो, सुखविनास गुणमाल ॥

कवि के छठे पुत्र गुलाबदास का अग्निनेखागार के निकाई में दौलतराम का पुत्र एवं आनन्दराम का पौत्र के रूप में उल्लेख आया है । इन्हें संवत् १८२० व संवत् १८२४ में जयपुर महाराजा द्वारा सम्मानित किये जाने का उल्लेख भी मिलता है । इनके एक पुत्र सहाराम भी महाराजा जयपुर की सेवा में थे और संवत् १८२८ में इन्हें भी गांवों का पूरा लगान जमा कराने के कारण सिरोपाव देकर सम्मानित किया गया था ।

दौलतराम का प्रथम पुत्र अजीतदास था जो अपने पिता एवं पितामह के समान जयपुर महाराजाओं का अत्यधिक कृपापात्र था । तथा जिसे उसकी कार्यकुशलता के कारण समय समय पर सम्मानित किया गया था । अजीतदास का सर्वप्रथम उल्लेख संवत् १८०१ का मिलता है जब उन्हें बहाव परगना की वसूली का कार्य कुशलता पूर्वक सम्पन्न करने के कारण सिरोपाव दिया गया ।

संवत् १८०४ में उन्हें राज्य सेवा में सिरोपाव से सम्मानित करके उदयपुर भेज दिया गया था । उस समय स्वयं कवि दौलतराम भी वहीं थे । ऐसा मालूम पड़ता है कि इसके एक दो वर्ष बाद ही दौलतराम जयपुर आगये और उनके स्थान पर अजीतदास कार्य करने लगे । संवत् १८०८ में अपने ही गांव वसवा की वसूली का कार्य इन्हें दिया गया और इसके अपक्ष में इन्हें कर सिरोपाव दिया गया । इसके पश्चात् पुनः संवत् १८१२ में बहाव परगना एवं संवत् १८१८ में बागोड़ परगने की वसूली का कार्य करने के कारण इन्हें सम्मानित किया गया । संवत् १८२१ में कविवर दौलतराम की पौत्री एवं अजीतदास की पुत्री का विवाह हुआ जिसमें महाराजा जयपुर की और से ३००) की सहायता दी गई । संवत् १८२४ में दौलतराम के आग्रह से इन्हें मरहटा सरदार धुसःअराव के पास भेजा गया तथा इन्हें हाथी वस्त्रोपहारों में दिया गया । इस प्रकार अजीतदास, जोधराज एवं गुलाबदास के अतिरिक्त शेष तीन पुत्रों के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती !

मुक्ता होने पर महाकवि दौलतराम को एक बार कार्यवश आगरा जाना पड़ा ! वसवा से आगरा १०० मील से कुछ अधिक दूर है । आगरा उस समय

उत्तर भारत का प्रमुख नगर था। मुगल शासकों की राजधानी होने के कारण वह व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र था। लेकिन इन सबके अतिरिक्त वह सांस्कृतिक नगर भी था। और अध्यात्मिक सैली का केन्द्र भी। महाकवि बनारसीदास का स्वर्गवास हुए ७० वर्ष से भी अधिक हो गये थे लेकिन उनके द्वारा स्थापित अध्यात्म सैली पूर्ववत् चल रही थी। इस सैली में कविहर भुशरदास का व्यक्तित्व उभर रहा था। दीनतराम जब आगरा पहुंचे तो वे इस सैली के सहज ही में नियमित सदस्य बन गये और जब तक आगरा रहे, तब तक वे आध्यात्मिक सैली में बनावर जाने रहे। अपनी प्रथम कृति "पुष्पाग्रव कथाकोश" में उन्होंने आध्यात्म सैली एवं उनके सदस्यों का विस्तृत वर्णन दिया है। कुछ समय पश्चात् वे इस सैली के प्रमुख सदस्य बन गये। उनकी विद्वता एवं काव्य प्रतिभा के सभी प्रणामक हो गये। वे स्वयं शास्त्र पढ़ने लगे और श्रोताओं को उन्होंने अपनी व्याख्यान शैली से मुग्ध कर लिया। जब उन्होंने महापुराण का स्वाम्नाय समाप्त किया तो श्रोताओं ने उन्हें स्वतन्त्र काव्य लिखने की प्रेरणा दी और सब प्रथम उन्होंने आगरा रहते हुए ही संवत् १७७७ में 'पुष्पाग्रव कथाकोश' की रचना समाप्त की।

कवि आगरा में कितने वर्षों तक रहे-इसका उन्होंने कहां भी उल्लेख नहीं किया। लेकिन ऐसा लगता है कि जयपुर स्थापना के पूर्व ही वे बसवा लौट आये और यहां कुछ समय अपने परिवार के साथ रहने के पश्चात् वे जयपुर आगये। यह समय कोई सं० १७८५-८६ के लगभग का होगा।

जयपुर नगर का विकास तेजी से हो रहा था। बाहर से आने वाले विद्वानों, साहित्यकारों, कवियों एवं अन्य विद्या में पारंगत विद्वानों को सम्मानित जयपुर में बसाया जा रहा था। ऐसे ही समय में इन्हें भी जयपुर के तत्कालीन महाराज सवाई जयसिंह ने अपनी सेवा में बुला लिया और सर्वप्रथम संवत् १७८७ आषाढ़ वृदी ८ के शुभ दिन इन्हें जयपुर के महाराज अर्भसिंह की सेवा में मथुरा भेजा गया। मथुरा जाने के पूर्व इनका सम्मान करने हेतु ४११) रुपये का सिरोपाव दया गया^१। कवि की सूझ, बूझ, प्रतिभा एवं कार्य कुशलता के कारण उन्हें संवत् १७९३ की पोषवृदी दशमी के दिन

१. संवत् १७८७ मिति आषाढ़ वदी ८ सुकाम मथुरा जो सुसारन अनह ने अर्भसिंह को भेज्यो तीन अजयप महारवानगी सिरोपाव कीमती मानिक ४११) धान ३ राजस्थान राज्य अभिगार रजिस्टर क्रोमवार पृष्ठ संख्या

महाराजा कुमार माधोसिंह की सेवा में उनके दीवान में रूप में उदयपुर सिद्ध दिया गया और सम्मान सूचक सिरोपाव दिया। उदयपुर जाने के पश्चात् कवि को अपनी कार्य कुशलता दिखाने का अच्छा अवसर मिल गया। इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराजा जयपुर ने संवत् १७६४ एवं १८०० में उदयपुर में ही सिरोपाव भेजकर इनकी सेवाओं का मूल्यांकन किया। संवत् १८०३ में जब कवि उदयपुर दरबार में जयपुर महाराजा की और से वकील थे तो दरबार के खर्च के लिये इन्हें (१५०) भेजे गये। त्रेपन क्रियाकोश में इन्होंने अपने आपको "आनन्द सुत जयसुत की मंत्री जय को अनुचर" लिखकर एवं जीवधर स्वामी चरित में "दौलतराम उकील पुत्र आनन्द को हीरे" लिखकर अपना परिचय दिया है।

आगरा के समान उदयपुर में भी ये तत्कालीन समाज समाज में सम्मानित व्यक्ति माने जाने लगे थे। नगर की धानमंडी के दि० जैन अग्रवाल मन्दिर में ये प्रतिदिन जाते थे। इन्होंने आगरा के समान उदयपुर में भी एक आध्यात्मिक संली स्थापित की और स्वयं ही शास्त्र प्रवचन करने लगे। वहाँ आने के कुछ ही वर्षों के पश्चात् इन्होंने 'त्रेपन क्रियाकोश' की रचना की। यह ग्रंथ कवि की स्वतन्त्र कृति है, जिसमें आचर्य के आचार-धर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। 'त्रेपन क्रियाकोश' के पश्चात् वे 'अध्यात्म बारहसड़ी' की रचना में लग गये। यह कवि की सबसे बड़ी पद्यात्मक कृति है। भक्ति एवं अध्यात्म की इस यत्नशील कृति को लिखने में कितना समय लगा होगा। इन्होंने संवत् १७६८ में इसे विशाल कृति को समाप्त करके अपनी साहित्यिक प्रतिभा के चार चांद लगा दिये। इस कृति के निर्माण में कवि की गणेशाया और भी फँस गयी और अब उनकी चर्चा चारों ओर होने लगी। बारहसड़ी संज्ञक रचनाओं में इसका महत्वपूर्ण स्थान है और कवि के विशाल ज्ञान का परिचयाक है। उदयपुर उनके लिये वरदान सिद्ध हुआ और साहित्यिक क्षेत्र में उन्होंने यहां रहते हुए महान् सेवाएँ की। सं० १८०५ में उन्होंने "जीवधर चरित" नामक प्रबन्ध काव्य को समाप्त किया, जिसके निर्माण का आग्रह वहीं के कुछ श्रवकों ने किया था। इसके पश्चात् ये और भी साहित्यिक सेवा में लग गये। "जीवधर चरित" हिन्दी का प्रबन्ध काव्य है जिसमें कवि ने अपनी काव्य प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। कवि का उदयपुर में बहुत सम्मान था। शासक एवं शासित दोनों ही वर्गों में ये लोकप्रिय थे। वक्तृत्व शक्ति के धनी थे तथा तथा लेखन शक्ति इन्हें जन्म से ही प्राप्त थी। इसीलिये उदयपुर प्रवास में ये वहाँ सर्वप्रिय बन गये। स्वयं उदयपुर महाराजा की इन पर विशेष कृपा

थी । तत्कालीन महाराजा जगतसिंह की विशेष कृपा का इन्होंने निम्न प्रकार उल्लेख किया है

रहे राधा के पास, राधा अति किरपा करई ।

जानै नीची ताँहि, भेर भाव जु सीह धरई ॥

उसके पञ्चात् कति कितन वर्षों तक उदयपुर थीर रहे, उसकी उनकी रचना के आधार पर कोई निश्चय जानना नहीं मिलता : लेकिन संवत् १८०७ तक ये जयपुर आये होंगे—ऐसा जान पड़ता है । क्योंकि उसी वर्ष महाराजा रावाँ साधोसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठे थे और उसी महाराजा के कवि मन्त्री रह चुके थे ।

जयपुर आने के पञ्चात् ये गूत, जयपुर महाराजा की सेवा में रहने लगे । राज्य सेवा के अनिवार्य उन्होंने अपना शेष जीवन साहित्य सेवा में समर्पित कर दिया । उसी समय वहाँ पर टोडरमल का वर्चस्व चमक रहा था । ये महान् कान्तिकारी समाज-सुधारक थे, साथ ही वे विद्वान् ग्रन्थों के महान् जाना थे । उनकी वाणी में जादू था तथा उन्होंने अपने पांडित्य से सारे जयपुर को प्रभावित कर लिया था । जबकि टोडरमल का सर्व प्रथम परिचय जब उनसे हुआ तो ऐसा मालूम होने लगा जैसे गंगा-यमुना का संगम हो गया हो । दोलतराम घासग से थे । महाराजा के अधिक निकट थे । इसलिए उन्होंने अपने आपको सक्रिय समाज सेवा में दूर रखकर साहित्य निर्माण की ओर अधिक लगाया । अब तक उन्होंने "गुणगान कथाकोश" को छोड़कर शेष रचनाएँ प्रमुखतः पद्य में ही लिखी की थी । लेकिन टोडरमल के प्रभाव के कारण वे भी गद्य की ओर झुके और संवत् १८१६ से लेकर १८२६ तक वे महान् एवं विशालकाय ग्रन्थों की रचना कर डाली । कालक्रम में इनमें थोड़े से समय में इतना विशाल साहित्य का निर्माण कर उन्होंने तत्कालीन समाज के बड़े-बड़े पंडितों को आश्चर्य भक्ति कर दिया ।

दुर्गो श्रीपाल अरिष्ट एवं विद्वान्-विद्वान् को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थ हिन्दी मूल में लिखे गये । उनमें पञ्चपुराण आदिपुराण, हरिवंश पुराण जैसे ग्रन्थ भी शामिल हैं । कालक्रम में इस रचनाओं के माध्यम से उन्होंने जनता के स्वाध्याय का काम ही बदल दिया और फिर तो सारे देश में उन्हीं के ग्रन्थों का स्वाध्याय होने लगा ।

दोदतराम एवं टोडरमल का साथ अधिक समय नहीं रह सका । टोडरमल का स्वर्गवास संवत् १८२६ के पूर्व ही हो गया इसलिए उनकी अगुआई

कृति को भी इन्हें ही पूरा करना पड़ा । कवि टोडरमल की विद्वत्ता से अत्यधिक प्रभावित थे । इसलिए जब 'पुरुषार्थसिद्धि-धुपाय' को पूरा करने का प्रश्न आया, तो रतनचन्द्र दीवान ने अत्यधिक विनय के साथ दौलतराम से प्रार्थना की—

तासु रतन दीवान ने कही प्रीत बर एह ।

करिये टीका पूरण उर पा धरम सनेह ॥

तब टीका पूरण करी भाषा रूप निधान ।

“पुरुषार्थसिद्धि-धुपाय भाषा” का रचना काल सं० १८२७ है ।^१ इसी वर्ष या उसके कुछ समय पहिले इन्होंने “विवेक विलास” जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ को समाप्त किया और फिर “हरिवंश पुराण” जैसी विशाल गद्य कृति को संवत् १८२९ में समाप्त किया ।^२ यह कवि की अन्तिम कृति थी ।

उसी वर्ष भादवा सुदी २ को उनका स्वर्गवास हो गया । राजस्थान राज्य अभिलेखागार में संग्रहीत रिकार्ड के अनुसार फागुन सुदी ११ को कवि के बड़े पुत्र अजीतदास की मातमी होने पर राज्य की ओर से सिरोपाव प्रदान किया गया ।^३

दौलतराम नाम वाले अन्य विद्वान—

दौलतराम के नाम से अब तक जितने प्रसिद्ध विद्वान हुए, उनमें से कुछ प्रसिद्ध विद्वान् निम्न प्रकार हैं

१. दिलाराम अथवा दौलतराम

ये बूंदी के रहने वाले थे और इन्होंने संवत् १७६८ में दिलाराम

१ अष्टारहसै ऊपर संवत् सत्ताईस

मास मार्गशिर ऋतु शिविष दोयज रजनीश ॥

२ अष्टारह गौ संवत्, ता पर धर मुसातीस ।

बार शुक्र पूयो तिथि, चैत मास रति ईस ॥२६॥

३ संवत् १८८९ मिति भादवा सुदि २ वाले मिति फागुण सुदी ११ में बाबति भुसारन अवह का बाप की मातमी को सिरोपाव बखस्यो कीमती साबिक थान ३ ।

विलास एवं आत्म-द्वादशी कृतियां लिखी थीं। ये पाटनी गोज के आबक थे तथा पिता का नाम चतुर्भुज था।

२. दीलतराम :

ये असनी (फतेहर) के निवासी थे। और इनके पिता का नाम शिवनाथ था। इन्होंने लगभग १८६७ में अलंकार संग्रह एवं कविप्रिया पर टीका लिखी थी। ये जैनतर विद्वान् थे।

३. दीलतराम :

ये मारवाड़ नरेश महाराजा मानसिंह के आश्रित थे। इनका समय संवत् १८६३ के लगभग माना गया है। इनकी एक रचना "जालंधर नाथ जी रो गुण" उपलब्ध होती है।

४. दीलतराम :

ये मैनपुरी के रहने वाले थे। जाति से कायस्थ थे। उनकी एक लघु कृति "ज्योनार" नाम से मिलती है।

५. दीलतराम :

ये हाथरस के रहने वाले थे। इनका जन्म संवत् १८५५-५६ में हुआ। इनके पिता का नाम टोडरमज एवं जाति पल्लीवाल जैन थी। कपड़े के व्यापार के साथ कविता बनाने की भी इनकी प्रारम्भ से ही रुचि थी। इनके आध्यात्मिक एवं भक्ति परक पद अत्यधिक उष्णकोटि के मिलते हैं, जो १०० से भी अधिक संख्या में हैं। इनकी 'छहढाला' के लघु होने पर भी जैन समाज में अत्यधिक लोकप्रिय है।

तत्कालीन साहित्यिक वातावरण

कविवर दीलतराम का समय सं० १७४६ से १८२६ तक रहा है। उस समय राजस्थान का साहित्यिक वातावरण कैसा था—इस सम्बन्ध में यहां कुछ विचार करना है। यह तो निर्विवाद रूप से सही है कि उस समय तक हिन्दी भाषा की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और उसके चार स्तम्भ कबीरदास, सूरदास, भीरां, तुलसीदास जैसे महाकवि हो चुके थे तथा ही रसू, सवान्, ब्रह्म जिनदास, रसुकीति, कुमुदचन्द्र, बनारसीदास, राजमल्ल जैसे जैन कवियों ने भी अपनी हिन्दी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी को पूर्ण रूप से अपना लिया था। उधर आमेर में हिन्दी का अच्छा वातावरण था और यहां कितने

ही विद्वानों ने इसके प्रचार प्रसार की ओर विशेष योग दिया था। इनमें कविवर बिहारी की "सतसई" का शृंगार रस की महत्वपूर्ण कृति के रूप में समादर होने लगा था। आमेर में ही अजयराज पाटनी हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् थे। जिनकी छोटी-बड़ी लगभग २० रचनाएं प्राप्त हो चुकी हैं। इनमें आदिपुराण भाषा (१७६७), नेमिनाथ चरित (१७६२), यशोधर चौपई (१७६२) जैसे महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। अजयराज कवि के समकालीन विद्वान् थे। तथा उन्होंने आमेर के सम्बन्ध में अच्छा वर्णन लिखा है। पं० नेमिचन्द भी आमेर के ही कवि थे; जिनकी एकमात्र कृति 'नेमिनाथ रास' हिन्दी का अच्छा प्रबन्ध काव्य है। कवि ने इसे सं० १७६६ में ही समाप्त किया था।

सतरास गुणहस्तरे सुदि आसोज दसे रवि जागंती ।

रास रच्यो श्री नेमिको, वृद्धि साठ में कियो बखाराती ॥

आमेर के समान सांगानेर में भी कवि के पूर्व हिन्दी के कितने ही विद्वान् हो चुके थे और उन्होंने भी साहित्य की खूब सेवा की थी। इनमें ब्रह्म रायमल्ल, जोधराज गोदीका, किशनसिंह के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। ब्रह्म रायमल्ल सन्त कवि थे और उनकी कृतियों में 'हनुमत रास', 'श्रीपाल रास', 'सुदर्शन रास', 'भविष्यदत्त कथा' के नाम उल्लेखनीय हैं। जोधराज गोदीका की 'सम्यक्त्व कीमुदी' कथा उल्लेखनीय कृति है; जिसका रचना काल संवत् १७२४ है।

समकालीन हिन्दी विद्वान्

महाकवि दौलतराम का समय संवत् १७४६ से १८२६ तक का है। ८० वर्ष का यह समय भारत के इतिहास का एक घुंभला चित्र उपस्थित करता है। उस काल में राजनैतिक अस्थिरता तो थी ही, सामाजिक दृष्टि से भी समाज में अन्तर्विरोध था। रुढ़ियों एवं अन्धविश्वासों में वह फंसता जा रहा था। १४ से १८वीं शताब्दी तक अत्यधिक समर्थ भट्टारक संस्था का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, तथा समाज में उनके विरुद्ध चिद्रोह होने लगा था। अध्यात्म-शैलियों ने इस संस्था के ह्रास में विशेष योग दिया। समाज में स्पष्ट रूप से दो दल बन चुके थे। भट्टारकों के समर्थक ब्रह्म पंथ आम्नाय वाले कहलाने लगे। जबकि उनके विरोधी एवं समाज सुधारक तेरह पंच अम्नाय वाले कहलाने लगे थे। इसी प्रकार विद्वानों में भी दो विचार-धाराएं आचुकी थी। आगरा, आमेर, उदयपुर, जयपुर एवं सांगानेर में विद्वानों का विशेष जोर था। एवं वहां उनका व्यापक प्रभाव भी था। इन विद्वानों ने संवत् १७५० से

१९०० तक जितना जबरदस्त साहित्य-लेखन का कार्य किया, उसने देश में साहित्य के प्रति नवीन क्रान्ति पैदा की और इससे समाज में नव चेतना जागृत हुई। नये-नये ग्रन्थों की मांग होने लगी और उसकी पूर्ति भी हमारे इन्हीं विद्वानों ने की। यहाँ हम ऐसे ही कुछ प्रमुख विद्वानों का परिचय उपस्थित कर रहे हैं—

भूधरदास :

दीलतराम एवं भूधरदास की भेंट सर्वे प्रथम आगरे में हुई थी। दीलतराम के अनुसार भूधरदास आगरे की श्रव्यात्म शैली के प्रमुख विद्वान् थे। वे स्याहगंज में रहते थे। वे अधिकांश समय जिनेन्द्र पूत्रा एवं भक्ति में लवलीन रहते थे। भूधरदास का जन्म कब और कहाँ हुआ? उनकी शिक्षा-दीक्षा कहाँ हुई तथा वे जीवन भर क्या करते रहे, इनके सम्बन्ध में कवि की रचनाएँ भीन हैं। कवि को संस्कृत एवं प्राकृत ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान था। पुराण साहित्य का उन्होंने अच्छा अध्ययन किया था—जिसका स्पष्ट प्रभाव उनकी रचनाओं में मिलता है। कवि खण्डेनबाल जैन थे तथा एक विद्वान् के अनुसार उनका भी गोत्र कासलीबाल था। अतः दीलतराम जब आगरा पहुँचे तो दोनों कवियों में अनिष्ट सम्बन्ध हो गया।

‘भूधरदास’ का साहित्यिक जीवन संभवतः अधिक लम्बा नहीं रहा। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम १५-२० वर्ष ही साहित्य सेवा एवं लेखन में लगाये। उनकी प्रथम कृति जैन शतक है; जिसे उन्होंने संवत् १७८१ पीष कृष्ण १३ रविवार के दिन समाप्त की थी। इसकी रचना महाराजा सवाई जयसिंह के सूबा हाकिम गुलाबचन्द की प्रेरणा से हुई थी। गुलाबचन्द शाहू हरीसिंह के वंशज थे; जो चार्मिक प्रकृति वाले व्यक्ति थे तथा आगरा आने पर उसने कवि से निवेदन किया था—

आगरे में बाल बुद्धि भूधर खण्डेलबाल,

बालक के ख्याल सों कवित्त रच जाने हैं।

ऐसे ही करत भये जैसिघ सवाई सूबा,

हाकिम गुलाबचन्द आये तिहि ठाने है।

हरीसिंह शाहू के सर्वस धर्मरागी नर,

तिनके कहे सों जोरि दीनी एक ठाने है।

फिरि फिरि मेरे मेरे आलस का अंस भयो,

उनकी सहाय यह मेरे मान माने है ।

सतरहसै इक्यासिया, पोह पांस तमलीन,

तिथि तेरस रविवार को शतक समाप्त कीन ॥४१॥

जैन शतक स्तुति परक, नीति परक एवं जैनधर्म महिमापरक कृति है । उनकी दूसरी कृति पार्श्वपुराण है जो हिन्दी की एक बेजोड़ कृति है । यह एक महाकाव्य है; जिसमें २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के जीवन चरित को निबद्ध किया गया है । भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह कृति भाषा साहित्य की सर्वोत्तम कृतियों में से है । इसकी रचना सं० १७२६ में हुई थी । पार्श्वपुराण जैन-साहित्य में सर्वाधिक लोकप्रिय काव्यों में से है; जिसकी पाण्डुलिपियाँ प्रायः सभी राजस्थान के ही नहीं किन्तु समस्त देश के शास्त्र भण्डारों में विपुल संख्या में संग्रहीत हैं । इस पुराण के अतिरिक्त कवि ने हिन्दी पद भी लिखे हैं, जिनकी संख्या ७४ है जो अध्यात्म एवं भक्ति परक हैं ।

भूधरदास यद्यपि आगरे के थे, लेकिन उनका जयपुर के विद्वानों से विशेष सम्बन्ध था । कवि कभी जयपुर आये थे या नहीं—इसके सम्बन्ध में तो कोई निश्चित तथ्य नहीं मिलते लेकिन यह अवश्य है कि इनका जयपुर के विद्वानों एवं समाज के नेताओं तथा उच्च अधिकारियों से अच्छा परिचय था । आगरा के मन्दिरों में स्थित जैन भण्डारों की विशेष खोज नहीं होने के कारण अभी इनके जन्म एवं मृत्यु के बारे में निश्चित तिथि नहीं मिलती । लेकिन कवि संवत् १८०० के पूर्व ही स्वर्गवासी हो गये हों—ऐसा अनुमानित किया जाता है ।

किशनसिंह :

ये रामपुरा के निवासी थे । रामपुरा उगियारा-टोंक के समीप है तथा जो आजकल अलीगढ़ के नाम से जाना जाता है । किशनसिंह के पिता का नाम सुखदेव पाटनी था; जिनके द्वारा अलीगढ़ (रामपुरा) में एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया गया था तथा जिसका लेख इसी मन्दिर में उल्कीरा है । मन्दिर की नींव संवत् १७२१ में लगी थी । किशनसिंह दो भाई थे । आनन्द सिंह इनके लघु आता थे । ये भी खण्डेलवाल एवं पाटनी गोत्र के थे । इनके पिता माथुरदास बसंत के प्रधान थे । उनकी सभी ओर प्रसिद्धि थी । लेकिन किशनसिंह अपने गांव में नहीं रहे और सांगानेर आकर बस गये । वे संभवतः

कुछ समय चौथ का बरबाद तथा आगरा भी रहे थे। सांगानेर आने के पश्चात् वे साहित्य निर्माण में लग गये। उन्होंने १० से भी अधिक रचनाएँ की हैं। जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. रामोकार रास	संवत् १७६०
२. चौबीस दण्डक	,, १७६४
३. पुष्पास्तव कथाकोश	,, १७७३
४. भद्रबाहु चरित्र	,, १७८३
५. त्रेपनक्रिया कोश	,, १७८४
६. लब्ध विधान कथा	,, १७८२
७. निर्वाण काण्ड भाषा	,, १७८३
८. चतुर्विंशति स्तुति	—
९. चेलन गीत	—
१०. चेतन लौरी	—
११. पद संग्रह	—

नेमिचन्द्र :

आमेर के जिन हिन्दी विद्वानों एवं कवियों ने साहित्य निर्माण में गहरी अभिरुचि ली थी; उनमें कविवर नेमीचन्द्र का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। नेमिचन्द्र आमेर की भट्टारक गादी के भट्टारक जगत्कीर्ति के प्रमुख शिष्य थे। वे खण्डेलवाल जाति के सेठी गोत्र के श्रावक थे तथा अपनी आजीविका उपार्जन के अतिरिक्त शेष समय को काव्य रचना में लगाया करते थे। इनके समय में 'आमेर ही' डूँडाहड्ड प्रदेश की राजधानी थी और उनका यश अपनी सर्वोच्च अवस्था में पहुँच चुका था। कवि ने अपनी कृतियों में आमेर नगर का जो सुन्दर वर्णन किया है, उससे नगर के वैभव, सम्पन्नता एवं विशालता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।^१

नेमिचन्द्र दो भाई थे। भगदु इनके छोटे भाई का नाम था। इनके कितने ही शिष्य थे; जिनमें डूंगरसी एवं रूपचन्द्र के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। कवि की अब तक तीन कृतियों की उपलब्धि हो चुकी है, जिनके नाम नेमीश्वर रास, नेमीश्वर गीत एवं प्रीत्यंकर चौपई है।

'नेमीश्वर रास' इनकी प्रमुख कृति है। यह हिन्दी का एक पद्य-गद्य मिश्रित काव्य है। काव्य की कथावस्तु गद्य एवं पद्य दोनों में ही वर्णित है।

हिन्दी-भाषा का यह संभवतः प्रथम काव्य है। जो इतना प्राचीन है; जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों ही को अपनाया गया है। रास में ३६ अधिकार हैं। जिनमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन का वर्णन किया गया है। साथ ही में महाभारत की कथा का भी समावेश किया गया है। रास का रचना काल संवत् १७६६ आशोज सुदी १३ रविवार है। पूरा रास १३०८ छन्दों में समाप्त होता है, जिनका विभाजन निम्न प्रकार है—

दोहा	सोरठा	सवेया	कडख	ढाल	फुल योग
२६०	२५	२	११	१०१०	१३०८

इसके अतिरिक्त गद्य में जो वर्णन मिलता है, वह उक्त संख्या से अतिरिक्त है। कृति का दूसरा नाम हरिवंश पुराण भी दिया हुआ है।

“प्रीत्यंकर चौपई” कवि की दूसरी बड़ी रचना है, जो दोहा और चौपई-छन्दों में विवक्षित है, जिनकी संख्या ३१६ है। इसका रचना काल सं० १७७१ अंशाष्ट सुदी ११ है। चौपई का आरम्भ प्राचीन परम्परा के अनुसार हुआ है; जिसमें चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन के पश्चात् पंच परमेष्ठियों की भक्ति एवं आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण किया गया है। चौपई की भाषा राजस्थानी है—

जोयां बैर भाव मिट गयो, आपस में सब आनन्द भयो।

वनमाली हास्यौ भयो देखि, छह रिति मां फल फूल बसै।

वनमाली फल फूल विराय, श्रेणिक राजा बंदी जू भाय।

दीपचन्द कासलीवाल :

दीपचन्द कासलीवाल भी आमेर नगर के ही कवि थे। ये भी कवि दौलतराम कासलीवाल के समकालीन कवि थे और इन्हीं के समान गद्य-पद्य दोनों ही शैलियों में रचना करने वाले थे। लेकिन इनका अध्यात्म की ओर अधिक झुकाव था। इसलिये इनकी अधिकांश रचनाएँ अध्यात्म प्रधान हैं।

कवि का जन्म कब हुआ था। इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती। इनकी एक रचना ‘आत्मावलोकन’ सं० १७७४ की कृति है। इसलिए इनका जन्म सं० १७३० के आस पास होना चाहिये। इनकी एक अन्य रचना सं० १७८१ की है। यदि हमें कवि की अन्तिम रचना मान ली जावे तो इनका सम्पूर्ण जीवन संवत् १७३० से १७८५ तक का माना जा सकता है। इनके नाम के पूर्व शाह शब्द का प्रयोग होता था;

इससे ज्ञात होता है कि कवि समाज के प्रतिष्ठित पद पर आसीन थे। ये पहले सांगानेर रहते थे और फिर आमेर आकर रहने लगे थे। कवि ने अपनी 'चिद्विलास' नामक कृति में इनका वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

“इस ग्रंथ में प्रथम परमात्मा का वर्णन किया, पीछे उपाय परमात्मा पायवे का विखाया। जे परमात्मा को जनमो कियो चाहै ते या ग्रंथ को बार-बार विचारो। यह ग्रन्थ दीपचन्द सावर्मी कीया दास है, सांगानेर, आमेर में आय, तब यह ग्रंथ कियो सं० १७७६ का मिति फागुण बदी पंचमी को यह ग्रंथ पूर्ण कियो।

कवि की अब तक निम्न कृतियां उपलब्ध हो चुकी हैं—

१. अनुभव प्रकाश, २. आत्मावलोकन, ३. चिद्विलास
४. परमात्म पुराण, ५. उपदेश रत्नमाला, ६. ज्ञान मार्गण्ड

‘अनुभव प्रकाश’ पूर्ण आध्यात्मिक रचना है। धारावाहिक रूप में यह गद्य काव्य यद्यपि आकार में लघु है, लेकिन जिस रीति से कवि ने गागर में शक्कर भर दिया है। वह उनकी विद्वत्ता एवं पीछे में शक्ति सम्भीर बात कहने का चातुर्य्य प्रगट करता है।

‘आत्मावलोकन’ इनकी दूसरी आध्यात्मिक कृति है। जिसमें आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध पर विशद विवेचन किया गया है। गद्य शैली में इस प्रकार का विवेचन अन्य कवियों द्वारा बहुत ही कम हुआ है। ग्रन्थ में विभिन्न अधिकार हैं। इसकी भाषा कूँडारी है; जिस पर अज भाषा का पूर्ण प्रभाव है। पर साथ ही उर्दू भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

इसी प्रकार की कवि की अन्य कृतियां भी अध्यात्मपूर्ण हैं। महाकवि दौलतराम से इनका कितना सम्पर्क रहा इसके सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं मिलती।

अजयराज पाटनी :

“अजयराज पाटनी” दौलतराम के समकालीन ज्येष्ठ विद्वान् थे। पाटनी जी हिन्दी के श्रेष्ठ कवि थे। अपनी लघु रचनाओं द्वारा पाठकों को नयी-नयी कृतियां भेंट किया करते थे। अब तक उनकी २० रचनाओं का पता लग चुका है, जिनमें पूजा, जयमाल, कथा, गीत, चरित, चौपई, दिवाह, बंदना, बत्तीसी आदि सभी नाम की कृतियां मिलती हैं। राजस्थान के विभिन्न

शास्त्र-भण्डारों में अब तक इनकी लिख्न रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—

१. आदिनाथ पूजा, २. कवका वत्तीसी, ३. चरखा चौपई, ४. चार मिश्रों की कथा, ५. चौबीस तीर्थंकर पूजा, ६. चौबीस तीर्थंकर स्तुति, ७. जिन गीत, ८. जिनजी की रसोई, ९. ठामोकार सिद्धि, १०. नन्दीश्वर पूजा, ११. नेमिनाथ चरित्र, १२. पंच भेय पूजा, १३. पार्श्वनाथजी का सालेहा, १४. बाल्य वर्णन, १५. बीस तीर्थंकरों की जयमाल, १६. यशोधर चौपई, १७. बंदना, १८. शांतिनाथ जयमाल, १९. शिवरमणी विवाह, २०. विनती ।

उक्त रचनायें कवि की काव्य विविधता की ओर संकेत करती हैं । जिनमें सामान्य विषय से लेकर रूपक काव्य तक की रचनायें उपलब्ध होती हैं । कवि प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रेमी थे; जो उनकी रचनाओं की विभिन्न प्रशस्तिशैलियों से झलकती हैं । वे पाक शास्त्र के भी विशेषज्ञ थे । 'जिनजी की रसोई' कृति में पाक शास्त्र का अच्छा परिचय मिलता है । 'शिव रमणी विवाह' में तीर्थंकर की बरात का रूपक बांधा गया है; जिसमें तीर्थंकर दुल्हा है तथा मुक्ति को बहू के रूप में प्रस्तुत किया गया है । तीर्थंकर के प्रवचनों को सुनने वाले सभी भव्य जन उनके बराती हैं । पंचम गति अर्थात् मोक्ष समुद्राल है; जहां वे मुक्तिवधु के साथ ज्ञान सरोवर में खूब स्नान किया करते हैं । यद्यपि इसमें केवल १७ पद्य ही हैं; लेकिन रूपकों का अच्छा रूप प्रस्तुत किया गया है ।

इसी तरह चरखा चौपई भी एक सुन्दर रूपक काव्य है । इसमें कवि ने गागर में सागर भरा है । चरखे को लेकर कवि ने जो रूपक बांधा है, वैसा रूपक अन्यत्र मिलना कठिन है । इस लघु कृति में शील और संयम दो खूबे हैं । शुभ ध्यान ताड़ियां एवं शुक्ल ध्यान की चरखे का पाया बनाया है । संसार रूपी जेबड़ी का क्षमण, दश धर्म को माल, चार दान की हथेली तथा धारमा को ताक के रूप में प्रस्तुत किया है । क्षमा की आटिशां बनाकर ज्ञान गुफा में रखने की ओर संकेत किया गया है । उस शताब्दि में 'चरखा' अत्यधिक लोकप्रिय था तथा सब रोजी-रोटी देने वाला एवं गरीबों का एकमात्र सहारा था ।^१

— भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण कृति है ।

१. ऐसी चरखो गांव कोय, ताके घर अति आनन्द होय ।

अजैराज थोड़ा में कही, चतर नारि मानि जो सही ॥

‘जिनजी की रसोई’ पाक शास्त्र पर एक महत्वपूर्ण कृति है। जैन कवियों द्वारा लिखी हुई संभवतः ऐसी प्रथम रचना है जो केवल पाक-शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। इसमें कवि ने व्यञ्जनों, पक्वानों एवं फलों के नाम गिनाकर उनके बनाने की विधि का उल्लेख किया है। इसी के साथ तीर्थंकर के विविध प्रकार के आभूषणों का भी वर्णन मिलता है। जैसे रुठे हुए कृष्ण जी को यशोदा मनाती थी; उसी तरह इसमें कवि ने “सुम लसो मत मेरे चिमना, खेलो बहुविधि घर के अंगना” कहकर उन्हें मनाने की प्रक्रिया अपनायी है।

सोहे सुन्दर कुण्डल कान, गले हार मोतिन को जाणि ।
कडा जड़ाऊ हाथा पगा, रंग रंग का पहरे भंगा ॥
हीरा जडित पांच अति सोहे, सुर नर नाग सकल मन मोहे ।
माथे मुकुट अनुपम सार, खेले कुंवर महासुख कार ॥

इसी तरह विविध प्रकार के व्यञ्जनों का जब वर्णन किया गया है; तो ऐसा लगता है कि मानों स्वयं कवि उन्हें बनाने बैठ गया हो—

जांबू नींबू खारा मिठा, करी सवाद रही मति रुठा ।
सरदा खरबूजा काकडी, नीभी आणी तुरत की घड़ी ॥
केरीपाक मुरबा भला, पांति खांड घी में धिलमिला ।
छोलि बादाम धरे अखरोट, चारौली पिस्ता की मोट ॥
बेसण की चौखी पापडी, धिरत मांहि तलत भी धरी ।
मुख विलास मुख मांहि विलाई, तास वोपमा कही न जाई ।

प्रस्तुत रचना संवत् १७६५ की है। एक ओर आमेर में अजयराज साहित्य की गंगा बहा रहे थे तो दूसरी ओर दोलतराम उदयपुर में काव्य रचना कर रहे थे। अजयराज अन्त तक आमेर में ही रहे और जयपुर वसने के बाद भी उन्होंने आमेर में रहना ही उचित समझा। इन्होंने आमेर नगर, वहाँ के राजमहल, प्राकृतिक दृश्य, मन्दिर आदि का अच्छा वर्णन किया है। इन्होंने महाराजा जयसिंह के शासन काल का भी उल्लेख किया है। एक वर्णन देखिये—

अजयराज इह कीयो वखाण, राज सवाई जयसिंह आण ।
अंबावती सहरे सुभ थान, जिन मन्दिर जिन देव विमान ॥

नीर निवाण सोहै बनराई, बेलि गुलाब चमेली जाई ।
 चंपो मरबो अरु सेवति, यो हो नाना विधि किती ॥
 बहु मेवा बहुविधि सार, वरणात मोहे लागै बार ।
 गढ़ मन्दिर कछु कह्यो न जाइ, मुखिया लोग बसै अधिकाई ॥
 तामैं जिन मन्दिर इकसार, तहां विराजै नेमि कुमार ।
 स्याम मूर्ति शोभा अति घणी, ताकी वोधमा जाइ न वणी ॥

सुशालचन्द काला :

सुशालचन्द राजस्थान के गौरवमान कवि थे । अपने जीवन के बीस से भी अधिक बसन्त ऋतुयें इन्होंने साहित्य निर्माण में व्यतीत की थी । कवि को एक नगर में रहने का अवसर नहीं मिला । इनके पूर्वज टोडारामसिंह के निवासी थे; लेकिन फिर जिहानाबाद—जयसिंह पुरा में जाकर रहने लगे थे । कवि का जन्म संभवतः यहीं हुआ होगा । इनके पिता का नाम सुन्दरदास एवं माता का नाम सुजानदे था । काला इनका गोत्र था । इनकी प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा जयसिंहपुरा में ही हुई थी; लेकिन फिर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के साथ ये सांगानेर आ गये और कविवर लक्ष्मीदास चांदवाड़ के शिष्य बनने का इन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ । इन्हीं के पास इन्होंने शास्त्र ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसका उल्लेख कवि ने अपनी रचनाओं में बड़ी कृतज्ञता से किया है—

जिन सु भये तहां नाम लिखमीदास,
 चतुर विवेकी श्रुत ज्ञान कूं उपाय कै ।
 तिहने पास मै भी कछु अल्प सौ प्रकाश भयो,
 फेरि मैं वस्यो जिहानाबाद मध्य आयके ॥

इसके पश्चात् कवि फिर वापिस जयसिंह पुरा चले गये । वहां सुखानन्द नाम के उत्तम वरिष्ठा थे । उन्हीं के घर में गोकुलचन्द आबक रहते थे; जिनको कवि शास्त्र सुनाया करते थे । उन्हीं के आग्रह से कवि ने संवत् १७८० में हरिवंश पुराण की रचना की थी—

सरह मध्य इक वरिष्ठा वर, साह सुखानन्द जानि ।
 ताके गेह विषै रहै, गोकुलचन्द सु जानि ॥१०॥

तिन ढिग में जाऊँ सदा, पदुं शास्त्र सुभाय ।

तिनकी वर उपदेश लै, मैं भाषा बनवाय ॥११॥

कवि ने अपनी रचनाओं में—महाराज जयसिंह, उनके प्रसिद्ध नगर संगानेर एवं उसमें होने वाले धार्मिक उत्सवों का अच्छा वर्णन किया है। उस समय महाराज विश्वसिंह के पुत्र महाराज जयसिंह द्वितीय का आमेर में शासन था।

देश दुँडाहर जाणौं सार, तामैं वरम तरुं अधिकार ।

विसनसिंह सुत जैसिंह राय, राज करै सबकुं सुखदाय ॥

देश तनी महिमा अति बनी, जिन-मेहा करि अति ही बनी ।

जिन मन्दिर भवि पूजा करै, केइक व्रत ले केइक धरे ॥

जिन मन्दिर करवाये नवा, सुरग विमान तनी कर घवा ।

रथ जात्रादि होत बहु जहां, पुन्य उपादन भवियन तहां ॥

शुशालचन्द काला के अन्त तक जिन ग्रन्थों की उपलब्धि हो चुकी है—
वे निम्न प्रकार हैं—

१. हरिवंश पुराण, २. यशोधर चरित, ३. पद्मपुराण, ४. व्रत कथाकोश, ५. जम्बूस्वामी चरित, ६. घन्यकुमार चरित, ७. सद्-भाषितावली, ८. उत्तर पुराण, ९. चौबीस महाराज पूजा, १०. शान्ति नाथ पुराण, ११. बद्धमान पुराण ।

—ये सभी कृतियाँ हिन्दी भाषा की सुन्दर कृतियाँ हैं, जिनमें काव्य के सभी लक्षण उपलब्ध होते हैं। हरिवंश पुराण ३६ सर्गियों का महाकाव्य है, जिसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ एवं 'महाभारत की कथा का विस्तृत वर्णन है। पुराण में दोहा, चौपाई, अरिल्ल, सबंध्या, सोरठा आदि छन्दों का उपयोग हुआ है। इसका रचनाकाल संवत् १७८० वैशाख सुदी तीज है। इसी तरह उत्तर पुराण का रचना काल सं० १७९६ मंगसिर सुदी दशमी का है। यह भी सर्गियों में विभक्त है तथा इसकी वर्णन शैली प्राचार्य गुराबद्र के उत्तर पुराण के अनुसार ही मिलती है। इसकी भाषा में राजस्थानी एवं ब्रज का सम्मिश्रण है। वैसे यह पुराण दोहा चौपाई छन्द प्रधान है; किन्तु अडिल्ल, छप्पय जैसे छन्दों का प्रयोग भी हुआ है।

'व्रत कथाकोश' में कवि ने २३ व्रत कथाओं का संग्रह किया है। जिनकी रचना सं० १७८२ से १७८७ तक की गयी थी। कुछ कथाएँ तो छोटे-२

काव्यों के बराबर हैं, जिनकी छन्द सं० ३०० से भी अधिक हो गई है। कथाओं में धार्मिक पुट है तथा उनमें नैतिकता के वर्णन की प्रमुखता है। मध्य युग में जन-साधारण में कथाओं के प्रति जो आकर्षण पैदा हुआ था उसके परिणाम स्वरूप कवि ने ऐसी रचनाओं को छन्दोबद्ध किया था।

खुशालचन्द ने अपने साहित्य के माध्यम से जन-साधारण में जो जागृति उत्पन्न की थी, उसने सारे राजस्थान की ही नहीं; किन्तु उत्तर भारत की जन-समाज में भावात्मक एकता स्थापित करने में अत्यधिक योग दिया था। खुशालचन्द समन्वयवादी कवि थे। इसलिये हिन्दी में रचना भी उसी दृष्टि से किया करते थे।

कविवर दौलतराम यथवा महापंडित टोडरमल से कवि का साक्षात्कार कभी हुआ अथवा नहीं—इसके बारे में तीनों ही विद्वानों ने अपनी रचनाओं में कुछ उल्लेख नहीं किया। लेकिन खुशालचन्द भी महाराज जयसिंह के कृपा-पात्र थे, और दौलतराम उनके राजदूत थे, इसलिए दोनों में अवश्य ही मित्रता रही होगी। तीनों ही कवि समाज के अलग-२ वर्ग का नेतृत्व करते थे; इसलिए यद्यपि वे परस्पर में अधिक सम्पर्क में रहे भी नहीं हों, तो भी एक-दूसरे के मध्य साहित्यिक परिचय तो रहा ही होगा।

टोडरमल :

महापंडित टोडरमल कविवर दौलतराम के समकालीन विद्वान् ही नहीं थे, किन्तु वे उनके घनिष्ठ मित्र भी थे। महाकवि द्वारा पुराण ग्रंथों की भाषा टीका टोडरमल की विशेष प्रेरणा के कारण ही सफल हो सकी थी। जिस मनोयोग से टोडरमल ने गोम्मटसार आदि ग्रंथों की हिन्दी में भाषा टीका की थी, उससे भी अधिक मनोयोग से कवि ने पद्मपुराण, आदिपुराण एवं हरिवंश पुराण की भाषा की थी। टोडरमल के ग्रंथ अत्यधिक गम्भीर एवं सूक्ष्म शैली में लिखे गये हैं, तथा साधारण पाठक के लिए सहज गम्य नहीं हैं; जबकि दौलतराम ने अपने सभी ग्रंथ साधारण पाठकों के लिए निबद्ध किये। इसलिए जितना जबरदस्त प्रचार दौलतराम के ग्रंथों का हो सका, उतना टोडरमलजी के ग्रंथों का नहीं हो सका।

टोडरमल जी की आयु एवं जन्म संवत् दोनों के बारे में विद्वानों की धारणाएँ बदल रही हैं। पहिले उनकी आयु २६-२७ वर्ष की ही मानी जाती थी; लेकिन राजस्थान के अजमेर के भण्डार में "सामुद्रिक सुरूप लक्षण"^१

१ राजस्थान के जन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची-पंचम भाग-पृष्ठ संख्या १२०५

की संवत् १७६३ की एक प्रति मिली है, उसमें पं० टोडरमल जी के पठनार्थ प्रतिलिपि की गई—ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यदि उस समय कवि की आयु १५ वर्ष की भी मान ली जावे तो भी उनकी आयु ४७ वर्ष की होनी चाहिये।

टोडरमल ने सर्वप्रथम रहस्यपूर्ण चिट्ठी लिखी। इस अकेली चिट्ठी से ही पता चलता है कि उनकी ख्याति राजस्थान को पार करके पंजाब तक पहुंच गई थी। उन्होंने गोम्मटसार, त्रिलोकसार, क्षणसार एवं लब्धिसार जैसे सैद्धान्तिक ग्रंथों की भाषा टीका करके जैन समाज को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। यह प्रथम अवसर था जबकि हिन्दो में किसी विद्वान् ने प्राकृत भाषा के ऐसे महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय ग्रंथों पर हिन्दो टीका लिखी हो। इसलिए इन ग्रंथों के निर्माण के पश्चात् उनकी कीर्ति पताका चारों ओर लहराने लगी। विद्वत्ता के साथ ही उनकी वक्तृत्व शक्ति भी विलक्षण थी एवं समाज को रुढ़ियों एवं ग्रन्थ विश्वासों से निकाल कर सम्यक् मार्ग पर लाने को उनकी जबरदस्त भावना थी। इसलिये अपने जीवन में उन्हें अनेक संघर्षों से गुजरना पड़ा और इन्हीं संघर्षों से अन्त में जूझते २ पंडित जी ने अपना जीवन भी समर्पण कर दिया। वे शहीद हुए थे तथा तत्कालीन समाज की साम्प्रदायिकता की अग्नि में उन्होंने अपने आपको होम दिया। उनका 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' यद्यपि पूर्णतः धार्मिक ग्रंथ है; किन्तु वह आकर्षक शैली एवं विद्रोहात्मक पद्धति में लिखा गया है; जिसका एक-एक वाक्य रहस्यपूर्ण एवं धार्मिक अर्थ को लिये है।

टोडरमल के पश्चात् होने वाले सभी परवर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं में टोडरमल का सादर उल्लेख किया है तथा उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा की है। स्वयं महाकवि दौलतराम ने 'पुरुषार्थ सिद्धचुपाय' टीका में टोडरमल जी की विद्वत्ता का निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

भाषा टीका ता ऊपर कीनी टोडरमल ।
मुनिवर कुल बाकी रही तांके मांहि अचल ॥
वे तो परभव कूँ गये, जयपुर नगर मझार ।
सम साधर्मी तब कियो मन में यह विचार ॥

बख्तराम साहू :

कविबर बख्तराम महाकवि दौलतराम के समय प्रसिद्ध कवि थे। ये इतिहास, सिद्धान्त एवं दर्शन के महान् पण्डित थे। भट्टारकों में इनका पूर्ण

विश्वास था और ये बीस पंथ आम्नाय वाले वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वालों में से प्रमुख थे। इन्होंने 'मिथ्यात्व खण्डन' लिखकर महा पं० टोडरमल जी के विचारों का विरोध किया और भट्टारकों का खुलकर समर्थन किया। जयपुर में लषकर का दि० जैन मन्दिर इनका साहित्यिक केन्द्र था और यहीं बैठकर इन्होंने साहित्य सृजन किया था। बुद्धि विलास^१ उनकी महत्वपूर्ण कृति है; जिसका इतिहास से पूर्ण सम्बन्ध है। कवि ने इसमें तत्कालीन समाज, राज व्यवस्था, जयपुर नगर निर्माण आदि का अच्छा वर्णन किया है। यह उनकी सं० १८२७ मंगसिर सुदी १२ की रचना है।

बलतराम चाकसू के निवासों थे। चाकसू जयपुर से करीब २४ मील दक्षिण पूर्व में बसा हुआ एक प्राचीन नगर है। जिसका जैन कवियों ने काफी अच्छा वर्णन किया है। इनके पिता पेमराज साहू थे जो चाकसू में ही रहते थे। कवि चाकसू से जयपुर स्थानान्तरित हो गये थे और यहीं पर विद्वानों के सम्पर्क में रहकर साहित्य सेवा किया करते थे। मिथ्यात्व खण्डन नाटक में कवि ने अपना वर्णन निम्न प्रकार किया है—

ग्रन्थ अनेक रहस्य लखि, जो कछु पायौ आह।

बलतराम वरननु कियो, पेमराज सुत साह ॥१४८॥

आदि चाटसू नगर के, वासी तिनि को जानि।

हाल सवाई जैनगर, माँहि बसे हैं आनि ॥१४९॥

तहाँ लसकरी देहुरें, राजत श्री प्रेभु नेम।

तिनको दरसण करत ही, उपजत है अति प्रेम ॥१४१६॥

कवि की एक लघु रचना "धर्मबुद्धि कथा" एवं कुछ पद भी मिलते हैं। बुद्धि विलास में अपने प्रबल विरोधी महा पं० टोडरमल की मृत्यु पर जो पंक्तियाँ लिखीं, वे अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं—

यक तेरह पंथिनु में धर्मी, टोडरमल नाम साहिमी।

कहे खलनि कै नृप रिसि साहि, हति कै धरचौ असुचि थल साहि।

उक्त घटना के अतिरिक्त कवि ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन विद्वानों के सम्बन्ध में मौन ही रहना उचित समझा।

१ राजस्थान पुरातत्व मन्दिर जोधपुर में प्रकाशित। सम्पादक श्री पद्मधर पाठक।

जयचन्द छाबड़ा :

महा पंडित टोडरमल एवं दौलतराम के पश्चात् जिन विद्वानों को समाज द्वारा सर्वाधिक सम्मान प्राप्त हुआ; उनमें जयचन्द छाबड़ा प्रमुख विद्वान हैं। इनका भी समूचा जीवन ही साहित्य-देवता को समर्पित था और साहित्य एवं समाज की सेवा ही इनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। महाकवि दौलतराम एवं महा पंडित टोडरमल दोनों का ही इनके जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा और साहित्यिक क्षेत्र में इन्हीं का उन्होंने अनुसरण किया।

जयचन्द छाबड़ा का जन्म जयपुर से ३० मील दक्षिण की ओर जयपुर मालपुरा रोड़ पर स्थित फागी ग्राम में हुआ था। यह समय ऐसा था जब दौलतराम की गौरव गाथा चारों ओर फैल चुकी थी और टोडरमल के साहित्यिक के क्षेत्र में पदार्पण की भूमिका बन रही थी। इनके पिता का नाम मोतीराम था। गोत्र छाबड़ा एवं जाति खण्डेलवान थी। ११ वर्ष की अवस्था में ही वे अपने ग्राम के मन्दिर में जाने लगे और तत्त्वचर्चा में रुचि लेने लगे। कुछ समय पश्चात् वे जयपुर में आगये और यहां आने के पश्चात् तो उन्हें ऐसा लगने लगा कि मानों उन्हें अपनी अभिष्ट वस्तु मिल गई हो। जब वे जयपुर आये तो उन्हें अपने आपको विद्वानों की गोद में पाया। पं० बंशीधर, टोडरमल, दौलतराम, भाई रायमल्ल, बलतराम आदि सभी शास्त्रज्ञ एवं तत्त्वोपदेशी थे। फिर क्या था जयचन्द ने भी अपने-आपको इन्हीं विद्वानों के समर्पित कर दिया। सर्व प्रथम इन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र पर संवत् १८५६ में वचनिका लिखी और फिर इसके दो वर्ष पश्चात् सवार्थसिद्धि पर विस्तृत वचनिका लिखी जो अर्थ प्रकाशिका के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। फिर तो वे एक के पश्चात् दूसरे ग्रन्थ की भाषा टीका लिखने लगे और अपने १२-१३ वर्ष के साहित्यिक काल में १५ ग्रन्थों पर भाषा टीकाएँ लिख दीं। ऐसा मानूम होता है कि उनका मस्तिष्क सैद्धान्तिक ज्ञान से भर चुका था और अब तो केवल निकलने की देरी थी। अब तक उनके निम्न ग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं—

रचनाकाल

१. तत्त्वार्थ सूत्र वचनिका, सं० १८५६
२. सवार्थसिद्धि वचनिका, चैत्र शुक्ला पंचमी १८६१
३. प्रमेयरत्नमाला वचनिका, आषाढ़ शुक्ला ४ सं० १८६३
४. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा भाषा, श्रावण कृष्णा ३ सं० १८६३

५. द्रव्यसंग्रह वचनिका, आश्विन कृष्ण १४ सं० १८६३
६. समयसार वचनिका, कार्तिक कृष्ण १० सं० १८६४
७. देवागम स्तोत्र (प्राप्त मीमांसा), चैत्र कृष्ण १४ सं० १८६६
८. अष्टपाहुड़ वचनिका, भाद्रपद शुक्ल १२ सं० १८६७
९. ज्ञानार्णव वचनिका, भाष कृष्ण ५ सं० १८६९
१०. भक्तामर स्तोत्र वचनिका, कार्तिक कृष्ण १० सं० १८७०
११. पद संग्रह,
१२. सामायिक पाठ वचनिका,
१३. पत्रपरीक्षा वचनिका
१४. चन्द्रप्रभ चरित द्वि० सर्ग,
१५. यन्त्रकुमार वचनिका,

उक्त ग्रन्थों की नामावली के आधार पर कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का स्वतः ही आभास मिल जाता है। उन्होंने सैद्धान्तिक, तात्त्विक, आध्यात्मिक स्तुति परक, दार्शनिक एवं चरित-प्रधान सभी ग्रन्थों की राजस्थानी भाषा में वचनिकाएँ लिखीं और उनके पठन-पाठन का सर्वत्र प्रचार किया। इनके ग्रन्थों की भाषा अत्यधिक सरल, सरस एवं सुगम्य है।

तत्कालीन जयपुर दरबार से उनका मधुर सम्बन्ध था। अपनी एक कृति में उन्होंने महाराजा सवाई जगतसिंह के शासन की अच्छी प्रशंसा की है। कवि के अनुसार राज्य में सर्वत्र अमन चैन था तथा सभी धर्मविलम्बियों को अपने ९ धर्म पालन की पूरी छूट थी। राजा के कितने ही मंत्री थे और उनमें परस्पर में मैत्री भावना थी। संवत् १८६१ में जयपुर में जो प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ था, उसमें कवि का विशेष योग था।

करी प्रतिष्ठा मन्दिर नयी, चन्द्रप्रभ जिन थापन थयी।

ताकरि पुण्य बड़ौ यश भयी, सर्व जैनन को मन हरयो ॥

दीवान रायचन्द से भी कवि का विशेष सम्बन्ध था। इन्होंने कवि को सभी चिन्ताओं से मुक्त कर दिया और साहित्य निर्माण पर विशेष जोर दिया।

ताके -हिग हम थिरता पाय।

करी वचनिका यह मन लाय ॥

जयचन्द का पुत्र नन्दलाल छाबड़ा भी अपने पिता के समान ही साहित्य प्रेमी था। वह अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था तथा अपने पिता को साहित्य रचना में योग दिया करता था। जयचन्द जी ने एक स्थान पर अपने पुत्र की निम्न प्रकार प्रशंसा की—

नन्दलाल मेरा सुत गुनी, बालपनं तै विद्या गुनी।

पंडित भयी बड़ी परवीन, ताहूनै यह प्रेरणा कीन ॥

जयचन्द जी के पश्चात् होने वाले सभी कवियों ने इनकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

थानसिंह :

थानसिंह महाकवि दीनतराम के उत्तरकालीन कवि थे। इनके द्वारा रचित "सुबुद्धि प्रकाश" एवं "थान विलास" उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'सुबुद्धि प्रकाश' सुभाषित रचना है, जिसकी एक पाण्डुलिपि जयपुर के बन्धीचन्द जी के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है। रचना काफी अच्छी है। तथा उसमें १४६ पत्र हैं। इसका रचनाकाल संवत् १८४७ है। इसी तरह 'थान विलास' कवि की रचनाओं की संग्रहात्मक कृति है। कवि बहुत ही स्पष्टवादी एवं निष्ठर थे तथा तथ्यों को रखने में कभी भी नहीं हिचकते थे। जयपुर में महाराजा माधोसिंह के समय में जो साम्प्रदायिक उपद्रव हुये थे, उनका सुबुद्धि प्रकाश की प्रशस्ति में जो वर्णन किया है, वह उनकी निर्भयता का सूचक है—

माधव आगै सिव धरमो मुखिया भयो।

जैन्यासों करि द्रोह वच में लै लियो ॥

देव धर्म गुरु श्रुत को विनय विगारियो।

कीयो नाहि विचारि पाप विस्तारियो ॥६२॥

दोहा

भूप अरथ समझयो नहीं, मंत्री के बसी होय।

डंड सहर में नाखियो, दुखी भये सब लोय ॥६३॥

विविध भांति घन घटि गयो, पायी बहुत कलेस।

दुखी होय पुर की तजो, तब ताको परदेस ॥६४॥

कवि खण्डेलवाल जाति में डोलया गोत्र के थे। हेमराज इनके दादा थे। हेमराज के बड़े पुत्र मल्लूकचन्द, द्वितीय मोहनराम, तृतीय लूणकरण तथा

चतुर्थ साहिबराय थे । इन चारों ही पुत्रों के भी अच्छी संख्या में संतान थी । थानसिंह मोहनराय के पुत्र थे । इनका जन्म सांगानेर में हुआ था । जयपुर एवं सांगानेर में जब साम्प्रदायिक उपद्रव हुये तब कवि भरतपुर चले गये थे । लेकिन वहां कुछ समय तक रहने के बाद वे फिर महाराजा माधवसिंह के दरबार में आगये और वहीं पर व्यापार करने लगे । यहां रहते हुये उन्होंने सुबुद्धि प्रकाश की रचना की । परन्तु इनके पिता बापिस जयपुर नहीं आये और करौली में रहकर ही व्यापार आदि करने लगे । थानसिंह अपने समय के प्रगतिशील कवि थे तथा साहित्य सेवा में सदैव संलग्न रहते थे ।

राजनैतिक स्थिति

दीलतराम अपने ८० वर्ष के जीवन में बसवा, आगरा, उदयपुर एवं जयपुर रहे । आगरा के अतिरिक्त इनका अधिक सम्पर्क जयपुर के महाराजाओं से रहा लेकिन कवि ने अपनी रचनाओं में जयपुर के महाराजाओं एवं उदयपुर के महाराजा जगतसिंह के नामोल्लेख के अतिरिक्त तत्कालीन राजनैतिक स्थिति अथवा शासन का कोई वर्णन नहीं किया । कवि आगरा भी काफी समय तक रहे लेकिन मुगल शासन के बारे में भी वे मौन ही रहे । इससे पता चलता है कि कवि की राजनीति अथवा तत्कालीन शासन के बारे में लिखने में कोई रुचि नहीं थी । इसके अतिरिक्त जयपुर महाराजा के उच्च पदाधिकारी होने के कारण उन्होंने अपने जीवन को साहित्य रचना तक ही सीमित रखा और अन्य प्रपञ्चों से दूर रहे ।

कवि ने जब पुवावस्था में पदार्पण किया था उस समय देहली पर मुगल बादशाहों का शासन था जो अपने ह्रास की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा था । सम्राट औरंगजेब के पश्चात् भारतीय शासन की बागडोर मजबूत हाथों में नहीं रही थी । उसके उत्तराधिकारियों की आपस में लड़ने से ही अवकाश नहीं मिलता था, इसके अतिरिक्त वे अत्यधिक विलासी, आलसी एवं श्रयोग्य भी थे । ना उनमें अकबर जैसी दूरदर्शिता थी और न औरंगजेब जैसी राजनैतिक चतुरता । फर्रुखसियर एवं मुहम्मदशाह जैसे मुगल सम्राटों का शासन एकदम ढीला तथा निकम्मा था तथा केन्द्रीय शासन नाम मात्र का रह गया था । कवि ने मुगल साम्राज्य का दृढ़ पतन अपनी आंखों से देखा होगा ।

लेकिन कवि के समय में राजस्थान के शासकगण सशक्त बन गये थे । जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह (सन् १६६९-१७४३) जैसे योग्य एवं दूरदर्शी

शासकों के कारण संवत् १८०० तक राज्य में शान्ति रही और राज्य की सभी तरह से उन्नति होती रही। महाराजा सवाई जयसिंह के पश्चात् जयपुर की गद्दी पर महाराजा सवाई ईश्वरीसिंह (सन् १७४३-१७५०) सवाई माधोसिंह (सन् १७५०-६८) एवं सवाई पृथ्वीसिंह (सन् १७६८-१७७८) बैठे। इन तीनों ही राजाओं के शासनकाल में चारों ओर अशान्ति रही। तथा इन तीनों ही शासकों को लड़ाइयों से कभी अवकाश नहीं मिला। यहां पर सुरक्षा के नाम जैसी कोई चीज ही नहीं रही। मराठों के अतिरिक्त स्वयं मुगल बादशाह भी इनके विरुद्ध हो गये थे और उन पर सर्वश्रेष्ठ युद्ध की तलवार टंगी रहती थी। महाराजा ईश्वरीसिंह ने केवल सात वर्ष तक शासन किया और अन्त में मराठों के आक्रमण से व्यभिक्त होकर अहमदनगर भाग लिया। इसके पश्चात् सवाई माधोसिंह गद्दी पर बैठे लेकिन सतरह वर्ष के शासन में उसे कितनी ही लड़ाइयां लड़नी पड़ी। मराठाओं के बार बार के आक्रमणों से शासन व्यवस्था एक दम ढीली पड़ गयी थी और राज्य की सारी आमदनी फौजों पर ही खर्च करनी पड़ती थी। इसलिये उस समय कला एवं साहित्य को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। इनके पश्चात् सवाई पृथ्वीसिंह शासन पर बैठे। लेकिन उस समय वे केवल पांच वर्ष के थे और ग्यारह वर्ष के पश्चात् ही उनका स्वर्गवास हो गया। इसलिये वे भी शासन को सशक्त बनाने की दिशा में कोई कार्य नहीं कर सके।

महाराजा माधोसिंह एवं पृथ्वीसिंह के शासनकाल में शासन पर मंत्रियों एवं पुरोहितों का अधिक प्रभुत्व रहा। संवत् १८१८ से १८२६ तक सारे राज्य में शैवों एवं जैनों में साम्प्रदायिक झगड़े होते रहे। राज्य में शैवों का प्रभुत्व होने के कारण बहुत से जैन मन्दिरों को नष्ट कर दिया गया तथा कितने ही मन्दिरों को शैव मन्दिरों में परिवर्तित कर दिया गया। केवल ८-९ वर्ष में ही इस प्रकार के तीन बार उपद्रव हुए जिसमें धन सम्पत्ति की अपार क्षति हुई। इस सम्बन्ध में तत्कालीन कवि बलतराम साहू ने अपने बुद्धि विलास (संवत् १८२७) में इन घटनाओं का निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

संवत् १८१८ में एक श्याम तिवाड़ी हुआ जिसने किसी प्रयोग से महाराजा माधोसिंह को अपने वश में कर लिया। महाराजा ने श्याम तिवाड़ी को सभी धर्म गुरुओं का प्रधान बना दिया और आज्ञा (संकल्प) करके राज्य का पूरा भार ही उसे सौंप दिया। गलता के बालानन्द आदि जो धर्मगुरु थे वे सभी देखते रहे। इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् ही सारे राज्य में उत्पात होने लगे। महाराजा से मनमाना आदेश लेकर जैनों को रात्रि भोजन

करने पर मजबूर किया जाने लगा तथा उनके मन्दिरों को तोड़ फोड़ दिया गया। राज्य के समस्त जैनों को इतना आतंकित कर दिया गया कि उनका दर्शन, स्वाध्याय एवं पूजापाठ भी बन्द हो गया। किसी मन्दिर को आधा और किसी को पूरा ही नष्ट कर दिया गया। या तो केवल आमेर का सावला जी का मन्दिर सुरक्षित रहा अथवा वे ही मन्दिर बच सके जिनकी रक्षा का पूरा प्रबन्ध था। किसी में जवरन शिव मूर्ति स्थापित कर दी गयी। इस प्रकार चारों ओर श्याम तिवारी के अत्याचार होने लगे। किसी से कोई उपाय नहीं बन सका। और न किसी साधु महारमा का जादू मंत्र ही काम कर सका। लेकिन जब श्याम तिवारी के अत्याचारों की वास्तविकता का महाराजा माधोसिंह को मालूम पड़ा तो उन्होंने उसे यथोचित दण्ड दिया और मध्याह्न में जयपुर नगर से निकलवा दिया। वह केवल घोवती एवं दुपट्टा साथ ले जा सका। उस समय वह केवल अकेला था और उसके पीछे से लड़के दुरिया देते जाते थे। महाराजा ने उसका गुणपद छीन लिया और जैसा उसने कार्य किया था वैसा ही उसको दण्ड दिया गया।^१

सोरठा

अवावति मै ऐक, स्याम प्रभू कै देहुरै।

रही भर्म के टेक, बच्यौ सु जान्यौ चमतकत ॥१२६४॥

चौपई

कोएँ आधो कोऊ सारो, बच्यौ जहां छत्री रखवारो।

काहू मै सिवमूरति घरि दी, अँसी मची स्याम की गरदी ॥१२६५॥

१ संवत् अट्टारहसै गये, ऊपरि जकै अठारह भये।

तब इक भयो तिवाड़ी स्याम, जिभी अति पाखंड को धाम ॥१२६६॥

त्वद्ध अधिक द्विज सबतैं घाटि, दौरत ही साहन की हाटि।

करि प्रयोग राजा बसि कियो, माधवेस नृप गुर पद दियो ॥१२६७॥

गलता बालानंद दे आदि, रहे भांकते बैठ वादि।

सबकौ ताहि सिरोमनि कियो, फुनि वैसनू राज पद दियो ॥१२६८॥

लियो आचमन पाव पखार, सौप्यौ ताहि राज सब भार।

दिन कितेक बीते हैं जवै, महा उपद्रव कीनीं तवै ॥१२६९॥

हुक्म भूप कौ लेकै चाहि, निम जिमाय देवल दिय ढाहि।

अमल राज कौ जैनी जहां, नांव न ले जिनमत को तहां ॥१२७०॥

इस घटना के १३ वर्षों तक राज्य में पूर्ण शान्ति रही। जैन धर्मावलम्बियों ने पुनः अपने मन्दिरों का निर्माण करा लिया। रथयात्रा होने लगी तथा मन्दिरों में ठाट बाट से पूजा एवं उत्सव होने लगे। संवत् १८२१ में जयपुर नगर में इन्द्रध्वज पूजन का विशाल आयोजन किया गया जिसमें देश के विभिन्न स्थानों से हजारों स्त्री पुरुषों ने भाग लिया। इस आयोजन में जैनों ने अपने वैभव का खूब प्रदर्शन किया। जयपुर के महाराजा ने भी एक आदेश जारी किया था कि “पूजा के अर्थ जो वस्तु चाहिये सो ही दरबार सूं ले जावो”। लेकिन इस विशाल आयोजन का एक वर्ग विशेष पर अप्सृष्टा प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने कुछ समय पश्चात् ही एक शिव मूर्ति तोड़ने का जैनों पर आरोप लगाया। महाराजा ने भी अपनी व्यस्तता के कारण घटना की विशेष ख़ान्ति नहीं की। अनेक आदमियों को कैद कर लिया गया। अन्त में तत्कालिन महार्षि टोडरमल के ऊपर सारा दोषारोपण लगाया गया तथा महाराजा के आदेश से उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया और मारने के पश्चात् उनकी लाश को गच्छी के ढेर में डाल दिया गया। टोडरमल उस समय क्रान्तिकारी समाज सुधारक एवं प्रबल पंडित थे। समाज के ऊपर उनका पूर्ण प्रभाव था। महाराजा के आतंक के कारण सारा जैन समाज कोई विरोध नहीं कर सका।

× × × × ×

फुनि मत बरस ड्योढ मै थप्यो, मिलि सबही फिरि अरहंत जप्यो ।
 लिये देहुरा फेरि चिनाथ, दै अकोड प्रतिमां पधराय ॥१३०१॥
 नाच कूदन फिरि बहु लगे, धर्म मांझि फिरि अधिके पगे ।
 पूजत फुनि हाथी सुखपाल, प्रभु चढाय रथ नचत दिसाल ॥१३०२॥
 तव ब्राह्मनु मती यह कियो, सिव उठांत कौ टौना दियो ।
 तामै सबै श्रावकी कैद, करिके डंड किदे नृप कैद ॥१३०३॥
 एक तेरह पंथिनु मै धर्मी, हो ती महा जोग्य सांहिमी ।
 कहे खलनि कै नृप रिसि ताहि, हति कै धरघो असुचि थल बाहि ॥१३०४॥

टोडरमल जी के बलिदान के पश्चात् राज्य में फिर शान्ति ही स्थापित हो गयी और फिर पूर्ववत् मन्दिरों में पूजा पाठ, रथयात्रा उत्सव विधान होने

लगे । चारों ओर अमन चैन व्याप्त हो गया । लेकिन यह शान्ति अधिक समय तक नहीं रह सकी और संवत् १८२६ में एक वर्ग ने धार्मिक विद्वेषता की फिर आग फैला दी । चारों ओर मन्दिरों को लूटा जाने लगा और मूर्तियों को तोड़ डाला गया । इन लोगों ने किसी की बात नहीं सुनी और कहने लगे कि उन्हें राजा का यही आदेश है । जयपुर, आमेर, सवाईमाधोपुर एवं खण्डार के मन्दिरों को उसी समय लूटा गया । लेकिन महाराजा जयपुर की फिर सारे राज्य में दुहाई फिरी जिससे लूट खमोड होना बन्द हो गया और राज्य में फिर साम्प्रदायिक सद्भावना स्थापित हो गयी ।

फुनि भई छट्ठीसा के साल, मिले सकल द्विज लघु र विसाल ।

सवनि मतां यक पक्को कियो, सिव उठांत फुनि दूगन दियो ॥१३०७॥

द्विजन आदि बहु मेन हजार, बिना हुकम पायें दरवार ।

दौरि देहुरा जिन लिय लूटि, मूरति बिघन करी बहु फूटि ॥१३०८॥

काहू की मांती नही कानि, कहीं हुकम हमको है जानि ।

ऐसां म्लेछन हूँ नही करी, बहुरि दुहाई नृप की फिरी ॥१३०९॥

दोहा

लूटि फूटि सबहुँ चुके, फिरी दुहाई बोस ।

कहनावति भई लूटि गए, भाग्यौ बारह कोस ॥१३१०॥

कवि बख्शाराम के अतिरिक्त तत्कालीन कवि धानसिंह ने भी अपने 'सुबुद्धिप्रकाश' में उस समय की राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का अच्छा वर्णन किया है । सर्व प्रथम कवि ने महाराजा जयसिंह के शासन का, जयपुर नगर की स्थापना की, एवं वहाँ व्यापार की बड़ी प्रशंसा की है । कवि ने लिखा है कि महाराजा जयसिंह ने आमेर और सांगानेर के मध्य में जयपुर नगर बसाया तथा सूत बाँवकर नगर के बाजार, दरवाजे आदि बनाये अपने लिये सात मंजिल वाला महल बनवाया तथा राज्य के बाहर से बड़े २ सेठ साहूकारों को बुलाकर नगर में बसाया । न्यायसंगत टैक्स लगाये जिससे नगर का व्यापार खूब बढ़ गया और सांगानेर एवं आमेर उजड़ने लगे । राज्य के शासन की बागडोर जैनों के हाथों में थी । राजा शैव धर्मानुयायी था । नगर में शैव एवं जैनों के अनेक शिखर बंध मन्दिर थे जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् ईश्वरीसिंह ने शासन की बागडोर सम्हाली और राज्य में शान्ति रही तथा प्रजा भी आनन्द से रहती रही । ईश्वरीसिंह के पश्चात् महाराजा सवाई

माधोसिंह जयपुर के शासक बने । उनके शासन में शैव धर्मावलम्बी शासन में प्रधान बन गये और जैनो से विरोध करने का महाराजा से आदेश ले लिये । इसके पश्चात् वेद, धर्म, गुरु, एवं शास्त्रों का अपमान किया गया । महाराजा मंत्रियों के रहस्य को समझ नहीं सके और उनके कहने में आकर नगर के निवासियों से डंड वसूल किया गया । इससे नगर के निवासी अत्यधिक दुखी हो गये । बहुत से लोग नगर छोड़कर चले गये । स्वयं कवि को जयपुर छोड़कर भरतपुर जाना पड़ा । सवाई माधोसिंह के पश्चात् सवाई प्रतापसिंह जयपुर के महाराजा बने । वे भी अत्याधिक लोभी थे और सभी धर्मावलम्बियों के मन्दिरों का, ब्राह्मणों का एवं अतिथियों के धन को भी जबरन ले लिया था इससे नगर में लोग और भी दुखी हो गये और उदास होकर नगर छोड़ने लगे ।

उक्त दोनों वर्णों से ज्ञात होता है कि संवत् १८१८ में लेकर संवत् १८२६ तक जयपुर राज्य का धार्मिक वातावरण काफी उत्तेजनापूर्ण रहा । तथा शासन में जो शैव धर्मावलम्बी थे उन्होंने शासन का फायदा उठाकर दूसरे वर्ग को अधिक से अधिक नुकसान पहुंचाने का प्रयास किया । लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही और जयपुर निवासी एक दूसरे के प्रति गहरी सद्भावना के साथ रहे लगे । इसके अतिरिक्त जयपुर के तत्कालीन शासकों ने कभी सम्प्रदाय विशेष का पक्ष नहीं लिया और राज्य में जैनो को शासन के उच्चस्थ पद पर नियुक्त किया जाता रहा । राव कृपाराम, रामचन्द्र छावड़ा, बालचन्द्र छावड़ा, रतनचन्द्र जैसे व्यक्ति दीवान के पद पर कार्य करते रहे । और धर्म विशेष का शासन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

माधव आगै सिब धरमी मुखिया भयो ।
जैन्यासों करि द्रोह वच में लं लियो ।
देव धर्म गुरु श्रुत को विनय विगरियो ।
कीयो नाहि विचारि पाप विस्तारियो ॥
भूप अरथ समझ्यो नहीं मंत्री के बसि होय ।
डंड सहर में नाखिया दुखी भये सब लोय ।
विविध भांति धन घटि गयो पायी बहुत क्लेश ।
दुखी होय पुर को तजो तब ताकी परदेस ॥

जयपुर नगर की स्थापना

महाराजा सवाई जयसिंह केवल योद्धा एवं राजनीतिज्ञ ही नहीं थे किन्तु नगर निर्माता भी थे। सन् १७२५ में उन्होंने 'जयनिवास' नामक महल की नींव रखी और नवम्बर १७२७ में महल के चारों ओर एक नवीन नगर का निर्माण प्रारम्भ करा दिया। पहिले इस नगर का नाम जयनगर रखा गया। बाद में सवाई जयपुर के नाम से प्रसिद्ध हो गया और अब केवल जयपुर के नाम से विख्यात है। इस नगर के निर्माण का सबसे अधिक श्रेय विशाधर नाम के व्यक्ति को है, जिसे टाड ने जैन लिखा था लेकिन अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार वह बंगाली था। नगर निर्माण के पश्चात् उसका महाराजा सवाई जयसिंह द्वारा खूब सम्मानित किया गया। उसे रेबन्स मिनिस्टर बनाया गया। उसके नाम से एक विशाधर का रास्ता एवं विशाधर का बाग बनाया गया तथा इसके अतिरिक्त पांच हजार की जागीर भी उसे दी गयी।

जयपुर नगर तीन ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। इसके उत्तर की ओर अमेर है जो पहिले राज्य की राजधानी था। तथा दक्षिण की ओर सांगानेर है जो जयपुर बसने से पूर्व एक वैभवशाली नगर था। नगर के चारों ओर परकोटा बनाया गया था। उसके नीचे एक गहरी खाई थी जो नदी के समान लगती थी। ऊँचे ऊँचे दरवाजे थे। चौपड़ के समान बाजार थे तथा जितके बीच बीच में चौक बनाये गये थे। बाजार की सड़क के एक ओर नहर थी जिसे चौपड़ पर बने हुए कुण्डों को पानी भिलता था और जयपुर के नागरिक इनका पानी पीते थे। बाजार एवं गलियों को एकदम सीधा बनाया गया था और फिर उसी के अनुसार महल एवं भकान बनाये गये थे। जयपुर बसने के पश्चात् नगर में बसने के लिये राज्य के बाहर से भी घनादध व्यापारियों को बुलाया गया था, जिससे नगर का व्यापार खूब बढ़ गया था। कविधर वल्लतराम ने अपने बुद्धि विलास में जयपुर नगर की उत्पत्ति का बहुत ही सुन्दर एवं विस्तृत वर्णन किया है। वर्णन का प्रारम्भिक अंश निम्न प्रकार है—

सोहै अंवावति की दक्षिण दिसि सांगानेरि,

दोऊ बीचि सहर अनौपम बसायो है।

नाम ताको धरथी है सवाई जयपुर,

मानी सुरनि ही मिलि सुरपुर सौ रचार्यो है ॥६८॥

चारधौ दिसी रच्यो उत्तंग कोट,
ता परि कंगुरनि की बनी जोट ।
तिह तलि चौडी खाई बनाय
श्रीडी मनु सरिता चली जाय ॥६६॥

दरवाजे ऊंचे बनें गोल
पौरिया बैठि तिह करत जोल ।
चौपरि के कोन्हे हैं बाजार
विचि वोचि बनाए चौक चार ॥१००॥

ल्याऐ नहैरि बाजार मांहि ।
विचि मैं बवे गहरे रखांहि ।
चौकनि मैं कुंड रचे गंभीर ।
जग पीवत तिनकों मिष्ट नीर ॥१०१॥
हाटिन कै विचि रस्ता रखाय ।
दीन्हें, ते सूघे चले जाय ।
बहु बने हवेली कूप वाग ।
सुंदर तिनु लखि मन लगत लाग ॥१०२॥

धनवान जु व्यापारी कितेक
बहु देस सुदेसनि तें आए अनेक
ते करत बिस्ज अति निसंक होय
परदेस सुदेसहि जात कोय ॥१०३॥

नगर में ज्योतिष यंत्रासन का निर्माण कराया गया जिससे यहाँ की ज्ञान का अच्छी तरह से पता लगने लगा और उसी के आधार पर 'जयविजोद' नाम से तिथि पत्र निकलने लगा । देश के कोने-कोने से पंडित आने लगे और साहित्य, तर्क एवं व्याय पर विविध चर्चाएँ होने लगी । कारीगरों को बसाया गया जिससे नगर का व्यापार बढ़ने लगा । बाजार में समुदायों में दुकानें थी जिसमें ग्राहकों को ठीक भावों पर वस्तुएँ मिलती रहती थी । पहाड़ों के नीचे ही तालकटोरा था जिसका दूसरा नाम जयसागर भी था । इसमें

विविध प्रकार के पक्षीगण बैठे रहते थे । महाराजा ने अपने निवास के लिए सात मंजिल वाला चन्द्रमहल बनाया जिसकी शोभा अवरुणीय है । नगर के तीन ओर पर्वत मालाओं पर अनेक गढ़ बनवाये गये इनमें रघुनाथगढ़, शंकरगढ़, हयरोई, सुदर्शनगढ़ एवं जयगढ़ के नाम उल्लेखनीय हैं । महाराजा सवाई जयसिंह ने जयपुर नगर में अश्वमेध यज्ञ भी किया था । इस यज्ञ में भाग लेने के लिए जितने सहाए पंजिन जाये थे उनको महाराजा ने विशेष रूप से ब्रह्मपुरी में बसा दिया ।

जयपुर नगर की सुन्दरता के बारे में पाश्चात्य कलाविदों ने बहुत प्रशंसा की है । फादर तीफेन्थलर ने जयपुर नगर की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यह नगर जबकि एकदम नवीन नगर है फिर भी देश के पुराने नगरों से भी सुन्दर है क्योंकि प्राचीन नगरों में बाजार एवं गलियाँ अत्यधिक सड़के हैं जबकि जयपुर नगर की प्रत्येक गली एक बाजार समान रूपसे लम्बे चौड़े हैं । मुख्य सड़क जो सांगानेरी गेट से आरम्भ होती है तथा उत्तरी गेट तक जाती है इतनी चौड़ी है कि छह सात गाड़ियाँ आसानी से एक साथ निकल सकती हैं । नगर में अनेक सुन्दर मन्दिर हैं जो शिव अथवा विष्णु के हैं ।" इसी तरह सन् १८२० में जब किसी ब्रिटिश मिलिटरी अधिकारी ने जयपुर नगर को देखा तब उसने निम्न शब्द कहे थे^१

"जयपुर नगर के प्रमुख सड़कें इंग्लैण्ड की बहुत सी सड़कों से उत्तम हैं । यह इण्डिया का सर्वोत्तम नगर है ।" इसी तरह और भी पाश्चात्य एवं भारतीय कला विचारकों ने जयपुर नगर के निर्माण की मुक्त काण्ठ से प्रशंसा की है ।

जयपुर नगर को गुलाबी नगर कहा जाता है । और इसी नाम से यह सारे देश में विख्यात है । गत २०० वर्षों में इसकी सुन्दरता में परिवर्धन होता रहा है, तथा सरगासूली, हवामहल, म्यूजियम, एवं रामनिवास बाग में नगर की सुन्दरता में अभिवृद्धि हुई है ।

१८वीं शताब्दी के एक हिन्दी विद्वान् आई रायमल ने संवत् १८२१ में लिखी एक पत्रिका में इसे जैन नगरों के रूप में लिखा है । यहां जितनी संख्या में दि० जैन मन्दिर हैं उतने देश के किसी नगर में नहीं है तथा संवत् १७८४ से लेकर संवत् १९५० तक जितने अधिक जैन विद्वान् हुए उतने अन्यत्र किसी

नगर में नहीं हो सके। नगर में हस्तलिखित शास्त्र भण्डारों की संख्या भी काफी अच्छी है जिनमें २५ हजार से भी अधिक ग्रन्थों का संग्रह मिलता है।^१

विशाल मन्दिरों का नगर

महानगरी जयपुर का निर्माण अपनी आत्मा से देखा होगा। तथा उसके निर्माण की योजना को कार्यान्वित करने में सरकार की ओर से अवश्य ही भाग लिया होगा। जयपुर नगर विशाल मन्दिरों का नगर है। यहां जितनी संख्या में शैव, वैष्णव एवं जैन मन्दिर हैं उतनी संख्या में देश में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलते। यहीं नहीं सभी मन्दिर विशाल हैं और कलापूर्ण भी हैं जिनमें वर्तमान समय में भी दर्शनार्थियों की अपार भीड़ लगी रहती है। प्रमुख बाजारों में, चौपड़ के चारों ओर एवं गलियों में एक के बाद दूसरा मन्दिर देखने को मिलेगा, जिसकी सीढ़ियां बाजार की प्रमुख सड़क की पटरी को छूती हुई होती हैं। नगर के परकोटे में इतने अधिक मन्दिरों का निर्माण तत्कालीन जनता की धार्मिक प्रवृत्ति की ओर स्पष्ट संकेत है। चौड़ा रास्ता में स्थित ताड़केश्वरजी का मन्दिर शैव मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध एवं प्राचीनतम मन्दिर है, इसी तरह गोविन्ददेवजी का मन्दिर एवं रामचन्द्रजी का मन्दिर यहां के प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय मन्दिरों में से है।

वैष्णव एवं शैव मन्दिरों के समान नगर में जैन मन्दिरों की संख्या भी कम नहीं है। जयपुर नगर एवं उसके उपनगरों में स्थित जैन मन्दिरों एवं चैत्यालयों की संख्या पहिले १७५ मानी जाती थी लेकिन वर्तमान में कुछ नये मन्दिर बन गये हैं और कुछ चैत्यालय कम हो गये हैं। नगर के अधिकांश मन्दिर विशाल एवं कलापूर्ण हैं। जिनमें अत्यधिक मनोज एवं प्राचीन मूर्तियां विराजमान हैं। दि० जैन मन्दिर पाटोडी एवं दि० जैन तेरहपंथी बड़ा मन्दिर यहां के प्राचीनतम मन्दिर हैं। कहते हैं इनका निर्माण जयपुर के निर्माण के साथ हुआ था। पंचायती मन्दिरों के अतिरिक्त अधिकांश मन्दिर प्रशिष्ट व्यक्तियों द्वारा निर्मित हैं। विशाल मन्दिरों में जैन मन्दिर बड़ा दीवानजी दि० जैन मन्दिर छोटा दीवानजी, सिरमोनियों का मन्दिर, संधी जी का मन्दिर, खिन्नुकों का मन्दिर, ठोलियों का मन्दिर, महावीर स्वामी का मन्दिर, दारोगाजी का मन्दिर, बघीचन्द जी का मन्दिर, चाकसु का मन्दिर, चौबीस

१. देखिये श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी से प्रकाशित राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची भाग १ से ४ तक।

महाराज का मन्दिर, खानियों का राणाजी का मन्दिर आदि के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनमें कितने ही मन्दिरों में विष्णु का स्थान भण्डार हैं जिनमें प्राकृत, अपभ्रंश संस्कृत एवं हिन्दी की प्राचीनतम पाण्डुलिपियां हैं जिनकी संख्या २५ हजार से कम नहीं है और जो राष्ट्र के असूत्य संपत्ति है तथा समूचे राजस्थान को जिन पर गर्व है।

सामाजिक स्थिति

महाकवि दौलतराम के समय में राजनैतिक अस्थिरता के समान देश की सामाजिक स्थिति भी छाँटाछोल ही थी। मुगल सम्राट् औरंगजेब के अत्याचारों के कारण समस्त हिन्दू समाज अस्त, पीड़ित एवं भयभीत था। जैन समाज भी मुगलों के उत्पीड़न से बच नहीं सका था। मध्यप्रदेश में सेकड़ों जैन मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था और संस्कृति एवं साहित्य की रक्षा कैसे हो यह प्रमुख समस्या सबके सामने बनी हुई थी। जैन समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित था। १८वीं शताब्दी तक भट्टारकों का जबरदस्त प्रभाव था। शासन एवं जनता दोनों में ही उनका पूर्ण प्रभाव था। देहली पट्ट के भट्टारकों का जिनमें भट्टारक शुभचन्द्र, जितचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं, उत्तरी भारत में अपना जबरदस्त प्रभाव स्थापित कर रखा था। इनकी विद्वत्ता एवं त्याग ने जनता पर जादू जैसा कार्य किया था। इनके प्रभाव के कारण अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ एवं बड़ी-बड़ी प्रतिष्ठायें हुईं। लेकिन फिर भी देहली के बादशाह सिकन्दर लोदी (१३८६-१४१७ ई०) की कट्टरता एवं असहिष्णुता के कारण देहली से भट्टारक पट्ट विलीन स्थानान्तरित किया गया और मंडलाचार्य धर्मचन्द्र (सन् १५२४) चित्तौड़ पट्ट पर आसीन हुए। इनके कुछ वर्षों पश्चात् ही भट्टारक रत्नकीर्ति ने नागौर में भट्टारक गादी स्थापित की। मुगलों के चित्तौड़ पर भी बराबर आक्रमण होते रहने के कारण धर्मचन्द्र के शिष्य ललितकीर्ति ने (संवत् १६०३) चित्तौड़ में अपनी गादी स्थानान्तरित की और राजस्थान के पूर्वी क्षेत्र में अपना जबरदस्त प्रभाव स्थापित किया।

भट्टारक ललितकीर्ति द्वारा भट्टारक गादी स्थानान्तरित किये जाने के पश्चात् राजस्थान के इस क्षेत्र में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जागरण पुनः प्रारंभ हुआ। इस समय आमेर के राज्य में प्रायः शान्ति थी और मुगलों के आक्रमण का कोई डर नहीं था। भट्टारक ललितकीर्ति के पश्चात् भट्टारक चन्द्रकीर्ति एवं भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति हुए जिन्होंने अपनी विद्वत्ता तथा त्याग के बल पर सारे राजस्थान में अपना प्रभाव स्थापित किया। संवत् १६६१ में

सांगानेर में भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति भट्टारक पट्ट पर बँटे । कवि बखतराम साह ने अपने "बुद्धिविलास" में इसका निम्न प्रकार वर्णन किया है—

नरेंद्रकीरति नाम, पट इक सांगानेरि में ।

भये महामुन-धाम, सोलहसँ इकपारगयँ ॥ ६२६ ॥

भ० नरेन्द्रकीर्ति का देश के विभिन्न भागों में बड़ा भारी प्रभाव था । राजस्थान, मालवा, गेवाड़, महाराष्ट्र एवं देहली आदि में इनके किताबें ही भक्त रहते थे और जब वे जाते तो उनका खूब स्वागत होता था । तत्कालीन कितने ही विद्वान इनके शिष्य एवं प्रशंगक थे । अनेक स्तोत्रों की हिन्दी गद्य में टीका करने वाले अखयराज इन्हीं के शिष्य थे । संवत् १७१७ में इन्होंने अपनी संस्कृत मंजरी की प्रति भेट की थी । इसी तरह टोडारायसिंह के प्रसिद्ध काव्य पंडित जगन्नाथ इन्हीं के शिष्य थे । उनके समय में टोडारायसिंह में संस्कृत ग्रन्थों के पठन पाठन का अच्छा प्रचार था । अष्टसहस्री एवं प्रमाणनिर्णय जैसे न्याय ग्रन्थों का लेखन, प्रवचन एवं पाठन होता था ।

लेकिन इन्हीं भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के समय में दिगम्बर समाज के प्रसिद्ध तेरहवेंश का प्रभाव बढ़ने लगा जिसने तत्कालीन समाज में व्याप्त शिथिलाचार का विरोध होने लगा । बखतराम साह ने अपने मिथ्यात्वखंडन (सं० १८२१) में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

भट्टारक आश्रैरि के नरेन्द्रकीरति नाम ।

यह कुपंथ तिनकै समै नयो चलयो अब धाम ॥

लेकिन संवत् १८२७ में समाप्त होने वाले बुद्धि विलास में इन्होंने तेरहवेंश का उदय संवत् १६८३ में माना है ।

इनही गच्छ मैं नीकस्यी, नूतन तेरह पंथ ।

सोलह सै तीयासिये सो सब जग जानंत ॥ ६२७ ॥

इस प्रकार लगता है बखतराम स्वयं भी इस पंथ के उदय के सम्बन्ध में एक मत नहीं है । लेकिन कुछ भी हो भ० नरेन्द्रकीर्ति के समय में तेरहवेंश ने काफी जोर पकड़ लिया था । इन्हीं के समय सांगानेर में अमरा भीमा हुए जो अगाध सम्पत्ति के स्वामी थे । जिन्हें अपनी सम्पत्ति पर काफी गर्व था । एक बार जिनवाणी का अविनय करने के कारण इन्हें मन्दिर से निकाल दिया गया

था । इससे कोषित होकर ये भट्टारकों के विरोधी बन गये और तेरहपंथ के प्रचार प्रसार में पूर्ण योग देने लगे । इसका पुत्र जोधराज भी इन्हीं के विचारों का था । वह संस्कृत एवं हिन्दी का बड़ा भारी विद्वान् था । इन्होंने सम्प्रदाय कौमुदी भाषा (संवत् १७२४) प्रवचनसार भाषा (संवत् १७२६) पञ्चनद्विपञ्च-विधान (स० १७२४) ज्ञानसमुद्र एवं प्रीतिकर चरित जैसी महत्वपूर्ण रचनाओं का निर्माण करके हिन्दी साहित्य की बड़ी भारी सेवा की थी ।

तेरहपंथियों के विरोध के बावजूद भट्टारकों के प्रभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं आया । भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के पश्चात् भ० सुरेन्द्रकीर्ति (संवत्-१७२२) जगत्कीर्ति (संवत् १७३३) भट्टारक गद्दी पर बैठे । संवत् १७४६ में भट्टारक जगत्कीर्ति ने चांदखेड़ी में एक विशाल प्रतिष्ठा समारोह का संचालन किया जिससे उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव में और भी वृद्धि हुई । समाज में इन भट्टारकों ने पूजा पाठ, विधान आदि में इतना बाह्याङ्गम्वर ला दिया था, जिसने समाज के प्रबुद्ध वर्ग के चिन्तन पर गहरी चोट की । समाज में अघ्यात्म जैवी के नाम से जो गोष्ठियाँ चलती थीं उन्होंने तेरहपंथ के प्रचार में पर्याप्त सहायता दी और आगे चलकर ये ही गोष्ठियाँ तेरहपंथ की गोष्ठियों में परिवर्तित हो गयी । महाकवि दौलतराम जब आगरा गये थे तो वहाँ अघ्यात्मजैवी पहिले से ही चलती थी और जब उन्होंने उदयपुर में एगस्थ प्रवचन प्रारम्भ किया तो उसे भी इसी सैली के नाम से प्रसिद्ध किया ।

१९ वीं शताब्दी के आरम्भ में जयपुर में महामंडित टोडरमल का उदय हुआ । टोडरमल भी महान् विद्वान् थे, शास्त्रों के ज्ञाता थे वक्तृत्व कला में अत्यधिक प्रवीण थे और इन नवके अतिरिक्त समाज सुधार में अग्रसर थे । वे भट्टारक परम्परा के पूर्ण विरोधी थे और तेरहपंथ के कटु समर्थक थे । इन्होंने इस युग में तेरहपंथ के प्रचार में सबसे अधिक योग दिया । तेरहपंथ के प्रचार में पं० टोडरमल जी के अतिरिक्त भाई रायमल्ल, दीवान रतनचन्द्र, दीवान बालचन्द्र आदि विशेष सहायक रहे । इन्होंने ज्ञान के प्रसार के लिए विशेष प्रयत्न किये और बालक बालिकाओं को धार्मिक ज्ञान प्रदान करने के लिए कुछ विद्वानों को नियुक्त किया । भाई रायमल्ल ने अपनी एक पत्रिका में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

“और यहा देश बारा लेखक सदैव सासते जिनवाणी लिखते हैं । वा सोचते हैं । और एक ब्राह्मण महीनदार चाकर रह्या है सो बीस तीस

लड़के बालकन कृं न्याय व्याकरण गणित शास्त्र पढ़ाते है । और सौ-पचास भाई का बार्वा चर्चा व्याकरण का अध्ययन करे है ।”

संवत् १८२१ में जयपुर में ‘इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव’ का आयोजन विशाल रूप में हुआ था । भाई रायमल्ल ने अपनी पत्रिका में इनका जिस सुन्दर तंग से वर्णन किया है उससे पता चलता है कि इस महोत्सव में देश के विभिन्न भागों से हजारों की संख्या में स्त्री पुरुष सम्मिलित हुए थे । जयपुर दरबार की ओर से इस आयोजन की सफल बनाने के लिए पूरी सुविधाएं प्रदान की गयी थी । भाई रायमल्ल ने लिखा है कि “ए उछव फेरि ई पर्याय में देखणा दुर्लभ है । ए कार्य दरबार की आज्ञा सूं हुवा है और ए हुकम हुवा है जो थार्क पूजाजी के अधि जो वस्तु चाहिजे सो ही दरबार सूं ले जावो । अर दोव्यूं दिवान रतनचन्द वा बालचन्द या कार्य विपे अग्रेश्वरी है” ।

लेकिन इतना होने पर भी बीस पंच आम्नाय वालों का प्रभाव कम नहीं हुआ था । महापंडित टोडरमल जी के समय में भट्टारक श्रेमेन्द्रकीर्ति एवं भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक पट्ट पर विराजमान थे । पं० टोडरमलजी के होते हुए इन दोनों भट्टारकों का संवत् १८११ एवं संवत् १८२२ में जयपुर में ही पट्टाभिषेक किया गया और जयपुर नगर को इन्होंने अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाया । एक ओर संवत् १८२१ में जयपुर नगर में टोडरमल जी के समर्थकों की ओर से विशाल इन्द्रध्वज पूजन का आयोजन हुआ तो दूसरी ओर से संवत् १८२६ में सवाई माधोपुर में विशाल पंचकल्याणक प्रतिष्ठा समारोह हुआ जिसका भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति ने संचालन किया था । इस विशाल आयोजन में हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गयी और उन्हें राजस्थान के प्रायः प्रत्येक गांव के जैन मन्दिर में स्थापित की गयी । यह प्रतिष्ठा संगही नन्दलाल ने करायी थी और इसमें लाखों रुपया व्यय करके भट्टारकों के प्रभाव को पुनः स्थापित किया गया । महापंडित टोडरमल जी के बलिदान के कुछ समय पश्चात् ही उनके विरोधियों की ओर से ऐसा विशाल आयोजन से ऐसा जगमग लगा जैसे मानों कोई विशेष घटना ही नहीं घटी हो । जिस प्रकार महापंडित टोडरमल ने सिद्धान्त ग्रन्थों की भाषानुवाद करके अपनी विचार धारा के प्रचार में बुद्धि की उसी प्रकार बीस पंच के कट्टर समर्थक एवं भट्टारक परम्परा के प्रशंसक पंडित बलतराम साहू ने संवत् १८२१ में अपने “मिथ्यात्व खंडन” ग्रन्थ में तेरहपंथ की कड़ी आलोचना की तथा संवत् १८२७ में बुद्धि बिलास

को लिख कर जैन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाला । दौलतराम का 'मिथ्यात्व खडन' महापंडित टोडरमल के सुधारवादी विचारों का जवाब था ।

समाज में पंचायत प्रथा का जोर था । पंचायत की आज्ञा बिना कोई भी सामाजिक एवं धार्मिक कार्य नहीं होते थे । समाज एवं जाति से बहिष्कृत करना इनका साधारण कार्य था । जयपुर में ऐसी ही चार पंचायतें थी जिनमें दो पंचायत तेरहपंथ तथा दो बीसपंथ आम्नाय वाले श्रावकों की थी । जयपुर में पाटोदी का मन्दिर, चाकसू का मन्दिर, बड़ा मन्दिर एवं बधीचन्द जी मन्दिर क्रमशः बीस एवं तेरहपंथ आम्नाय के पंचायती मन्दिर कहलाते हैं ।

जयपुर नगर में जैन समाज का अत्यधिक प्रभाव था । शासन में इनका पूरा जोर था और अधिकांश दीवान जैन ही हुआ करते थे । यदि हम सन् १८१८ से १८२६ तक के समय को इतिहास में से निकाल दें तो फिर शेष समय में जयपुर के शासन में सदैव जैनों का जोर रहा और यही कारण है कि देश में किसी भी नगर में इतने जैन मन्दिर एवं चैत्यालय नहीं हैं जितने जयपुर में मिलते हैं । सन् १८२१ में लिखी एक पत्रिका में जयपुर नगर का जो वर्णन किया गया है वह इस दृष्टि से उल्लेखनीय है—

और ईं नग्न विषे सात विषन का अभाव है । भावार्थ ईं नग्न विषे कलाल कसाई वेध्या न पाईए है और जीव हिंसा की भी मनाई है । राजा का नाम माधवसिंह है तार्क राज विषे वर्तमान (इस समय) एते कुबिसन दरबार की आज्ञातें न पाईए हैं । अर जैनी लोग का समूह बस है । दरबार के मतसही सर्व जैनी हैं और साहूकार लोग सर्व जैनी हैं जद्यपि और भी हैं परि मोराता रूप है मुख्यता रूप नाही । छह सात वा आठ वा दस हजार जैनी महाजनां का घर पाईए है । ऐसा जैनी लोगों का समूह और नग्नविषे नाहीं और इहां के देश विषे सर्वत्र मुख्यपरां आवगी लोग बस है तातें एह नग्न व देश बहोत निर्मल पवित्र है । तातें धर्मात्मा पुरुष बसनें का स्थानक है । अवार तो ए साक्षात् धर्मपुरी है ।"

महापंडित टोडरमल जी के पश्चात् जयपुर नगर में जितने भी पंडित एवं शास्त्रों के ज्ञाता हुए उनमें प्रमुख तेरहपंथ आम्नाय वाले थे तथा टोडरमल के गहरे प्रभावक थे । इन विद्वानों में पंडित जयचन्द जी छाबड़ा, पं० गुमानीराम भावसां एवं पं० सदासुख कासलीवाल के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं । लेकिन धीरे-धीरे तेरह और बीस पंथों का वर्तमान समाप्त होने लगा और इच्छानुसार पंथों की मानने की स्वतन्त्रता दे दी गयी । यही कारण है

कि संवत् १८६१ में जयपुर नगर में जो विशाल प्रतिष्ठा समारोह हुआ था वह भट्टारक सुखेन्द्रकीर्ति के निर्देशन में सम्पन्न हुआ तथा इस समारोह की प्रतिष्ठा कराने वाले थे। दीवान बालचन्द्र के सुपुत्र सवही रायचन्द्र। दीवान बालचन्द्र टोडरमन जी के प्रशंसकों में से थे एवं तेरहवेंथ की ओर उनका विशेष झुकाव था।

महाकवि की अब तक १८ रचनाओं की खोज की जा चुकी है। इन रचनाओं की हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. मौलिक रचनायें
२. अर्थास्त रचनायें
३. टिका टीकायें

मौलिक रचनाओं में हमने उन रचनाओं को लिया है जिन्हें कवि ने पूर्वं आचार्यों के ग्रन्थों पर आधारित होने पर भी स्वतन्त्र रूप से निबद्ध किया है तथा जिनमें अपना मौलिक चिन्तन दिया है। इसके अतिरिक्त इस श्रेणी में वे रचनायें भी सम्मिलित हैं जिनमें कवि ने अपने सर्वथा मौलिक विचार लिखे हैं। विवेक विलास एवं अध्यात्म बारहसडी ऐसी ही कृतियाँ हैं। कवि की मौलिक रचनायें निम्न प्रकार हैं—

१. जपनक्रियाकोश
२. जीवधर चरित
३. अध्यात्मबारहसडी
४. विवेक विलास
५. शैशिक चरित
६. श्रीपाल चरित
७. चौबीस दण्डक
८. सिद्ध पूजाष्टक

इसके पश्चात् वे रचनायें रखी गयी हैं जो भाषा वचनिका के रूप में लिखी गयी हैं जिनमें कवि ने पूर्वाचार्यों की रचनाओं का हिन्दी गद्य में वचनिका के रूप में अर्थ किया है और अपनी ओर से विशेष घटाया बढ़ाया नहीं है। लेकिन कवि ने जिस कला के साथ उनकी भाषा टीका लिखी है वे ऐसी लगने लगी है जैसे वे मानें कवि की पूर्णतः मौलिक रचनायें हैं। कवि ने इनको जिस धारा प्रवाह में लिखा है वह उसकी स्वयं की कला है। ऐसी रचनाओं में निम्न रचनायें आती हैं—

१. पुण्यालत्रकयाकोश

२. पद्मपुराण
३. आदिपुराण
४. पुरुषार्थ सिद्धचुषाय
५. हरिवंशपुराण
६. परमात्मप्रकाश
७. सार समुच्चय

इसके अतिरिक्त तीन ऐसी रचनाएँ हैं जिनकी टीकाओं को कवि ने टब्बा टीका का नाम दिया है। टब्बा टीका का अर्थ उम टीका से है जिसमें कवि ने किसी कृति का हिन्दी में पूरा अर्थ नहीं लिखा हो किन्तु पाठकों को उनका अर्थ समझाने के लिए संकेत के रूप में कठिन शब्दों का उनके ऊपर ही अर्थ लिख दिया हो। ऐसी रचनाओं में निम्न रचनाओं को लिया गया है—

- १ तत्त्वार्थसूत्र टब्बा टीका
- २ वसुनन्दि श्रावकाचार टब्बा टीका
- ३ स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा टब्बा टीका

इन सभी १८ रचनाओं का संक्षिप्त परिचय विषय के वर्गीकृतानुसार यहाँ दिया जा रहा है—

१ त्रेपनक्रियाकोश :

“त्रेपनक्रियाकोश” का नाम यद्यपि “पुण्याश्रवकथाकोश” से अन्तिम दो शब्दों में साम्यता रखता है; लेकिन यह कथा प्रधान न होकर श्रावक प्रधान रचना है; जैसा कि इसके नाम से ही रचना के विषय का बोध होता है। इसमें श्रावकों द्वारा पालने योग्य ५३ क्रियाओं का अति सूक्ष्म एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। इन ५३ क्रियाओं के नाम निम्न प्रकार हैं—

८. सूत्रगुरु—पाँच उदम्बर एवं तीन मकार (मद्य, मांस एवं मधु)
- १२ व्रत—पंच अणुव्रत, तीन मुमाव्रत और चार शिक्षाव्रत
१२. तप—छह बाह्य तप—अनशन, अशमीदर्य, अतपरिसंलपन, रसपरिहाराग, किञ्चित्प्रश्रयसन एवं कायकलेष।

छह आभ्यन्तर तप—प्रयत्नित्त, वित्तय, संशयवृत्त्य
स्वध्याय कायोन्मत्त और ध्यान।

१. सम्यक्त्व
११. प्रतिभा
४. दान
१. जलमाला
१. रात्रि भोजन त्याग
३. रत्नप्रथ
-
५३. योग
-

मानव मात्र के जीवन को शुद्ध, सात्विक एवं आचारवान बनाने के लिये इन क्रियाओं का पालन आवश्यक है। कवि ने अपने रचना चानुर्य में इन सबका इतना सुन्दर वर्णन किया है कि सारा क्रियाकोश ही एक धार्मिक-वाहिक उपन्यास सा मालूम होता है। गृहस्थों के जीवन-विकास एवं सुधार की ऐसी परिष्कृत कृति भारतीय साहित्य की सुन्दरतम कृति है।

“क्रियाकोश” यद्यपि पूर्णतः धार्मिक रचना है। आचर्यों की क्रियाओं में इसका सम्बन्ध है लेकिन फिर भी कवि ने इसे पूर्णतः नविकर, आकर्षक तथा सरस बनाने का प्रयास किया है। जिस समय यह रचना निबद्ध की गयी थी उस समय कवि अपनी पूर्ण यौवनावस्था में था। जगन का वैभव उनके लिए सुलभ था। एक ओर शासन का उच्चपद उन्हें प्राप्त था तो दूसरी ओर उनकी विद्वत्ता, साहित्यिक रुचि एवं लोकप्रियता की कहानी चारों ओर फैल चुकी थी। आगरा एवं जयपुर में उन्होंने जो ख्याति प्राप्त की थी उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी। ऐसे समय में ‘त्रेपनक्रियाकोश’ की रचना इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि तत्कालीन जैन समाज में जो आचार हीनता एवं क्रियाओं के पालन में ढिलाई व्याप्त हो गयी थी, उससे कवि स्वयं विरक्त थे। उन्हें शिथिलता जरा भी पसन्द नहीं थी। इसलिये उदयपुर जाने के पश्चात् ही उन्होंने ‘त्रेपनक्रियाकोश’ की रचना निबद्ध किया। जिसके महारव के सम्बन्ध में उन्होंने निम्न शब्दों का प्रयोग किया है—

सब ग्रंथनि में त्रेपन किरिया, इन करि इन विन भव वन फिरिया ।
जो ए त्रेपन किरिया धारै, सो भवि अपनो कारिज सारै ॥२१३३॥

सुरग मुक्ति दाता ए किरिया, जिनवानी सुनि जिनि ए धरिया ।
तिन पाई निज परगति शुद्धा, जान स्वरूपा अति प्रति बुद्धा ॥२१३४॥

हैं अनादि सिद्धा ए सर्वा, ए किरिया धरिवौ तजि गर्वा ।

ठौर ठौर इनको जस भाई, ए किरिया गावैं जिनराई ॥२१३५॥

— रचना के अन्त में कवि ने हिन्दी भाषा में रचना का औचित्य-वर्णन करते हुए लिखा है कि गणधरों एवं आचार्यों ने प्राकृत में इन क्रियाओं का वर्णन किया है तथा संस्कृत भाषा को इस पंचमकाल में बहुत कम व्यक्ति समझते हैं; इसलिए संस्कृत कृतियों के आधार पर ही यह कृति उन्हें नर भाषा अर्थात् हिन्दी में लिखी है । उस समय हिन्दी को 'नर भाषा' से सम्बोधन किया जाता था, ऐसा संकेत कवि की एक प्रशस्ति से मिलता है—

गणधर गावैं मुनिवर गावैं, देवभाष मै शब्द सुनावैं ।

पंचमकाल मांहि सुरभाषा, बिरला समझैं जिनमत साखा ॥२१३६॥

तार्तै यह नर भाषा कीनी, सुरभाषा अनुसारे लीनी ।

जो नर नारि पढ़ै मन लाई, सो सुख पावैं अति अधिकारी ॥२१३७॥

रचना काल :

त्रेपन क्रियाकोश की रचना उदयपुर में रहते हुये की गई थी । उस दिन संवत् १७६५ की भाद्रपद सुदी १२ मंगलवार का शुभ दिन था । तथा कवि सवाई जयसिंह के पुत्र सवाई माधोसिंह के मंत्री एवं सवाई जयसिंह की ओर से उदयपुर दरबार में जयपुर का प्रतिनिधित्व करते थे—

संवत् सत्रासै पच्चाणव, भाद्रप सुदि द्वारस तिथि जाणव ।

मंगलवार उदैपुर माहैं, पूरन कीनी संसै नाहै ॥२१३८॥

आनंद सुत जयसुत की मंत्री, जय की अनुचर जाहि कहै ।

सो दीनत जिनदासनिदासा, जिन मारग की शरण गहै ॥२१३९॥

विषय वर्णन :

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, त्रेपनक्रियाकोश में ५३ क्रियाओं का वर्णन किया गया है । क्रियाकोश अध्यायों अथवा भागों में विभक्त नहीं है; किन्तु नियमानुसार उसका नामोल्लेख कर दिया गया है । सर्व प्रथम ६६ पद्यों में मंगलाचरण किया गया है । जिसमें ६३ पद्यांशों को आचार्य कुन्द-कुन्द, दशतक्षण धर्म, षोडशकरण भावना, रत्नत्रय एवं सब साधुओं को नमस्कार किया गया है । इसके पश्चात् त्रेपन क्रियाओं का वर्णन प्रारम्भ होता है । अष्ट मूलगुणों का व्याख्य करने के लिये कवि ने सोडाहरण

तर्क प्रस्तुत किया है। पंच उदम्बर—बड़फल, पौपल फल, पाकर, अमर एवं कदमर फलों में असंख्य जीवों का निवास रहता है इसलिए मरा, मीस एवं मधु के साथ ही इनका सेवन भी वर्जित है। इसी प्रसंग में २२ ग्रन्थों का भी वर्णन आया है। इसके पश्चात् रसोई, जलगृह एवं हाथ चक्की की क्रियाओं में साधधानी बरतने के लिए कहा गया है। जिससे जीव दिसान हो। भोजन जितना सरसिक होगा उतना ही वह स्वास्थ्यप्रद होगा। भारतीय जीवन में खान-पान की शुद्धि को जो विशेष महत्व दिया गया है, इस दृष्टि से कवि ने इसका वर्णन किया है। जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है; इसलिये भोजन की सभी क्रियाओं में अहिंसा धर्म का परिपालन आवश्यक है। कविवर दीनतराज ने अपनी इस कृति में इन सब पर बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन किया है—

अणु जाणू फल त्यागहु मित्र, अणुद्राण्यो जल ज्यों अविविद्र ।

त्यागी कदमूल दुधिवंत, कदमूलमे जीव अनन्त ॥११६॥

× × × × ×

दधि गुड़ खावौ कबहु न जोग, बरजें श्रीगुर वस्तु अजोग ।

मूलश्रुतों का वर्णन करने के पश्चात् धारद्वयों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन धारद्वयों के नाम हैं—पंच अणुव्रत—अहिंसागुव्रत, सत्यागुव्रत, अचौर्यगुव्रत, अह्मचर्यगुव्रत एवं परिग्रहपरिमाणुव्रत। तीन गुणव्रत—दिव्रत, देशव्रत, एवं अनर्थदण्डव्रत। चार शिक्षाव्रत—सामर्थिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाणव्रत एवं वैयावृत्य। इन १२ व्रतों का वर्णन ३८८ पद्यों से प्रारम्भ होकर १३५० पद्य संख्या तक समाप्त होता है। इस प्रकार क्रियाकोश ग्रंथ का आधे से अधिक भाग इन व्रतों के वर्णन तक सीमित है। वास्तव में ये १२ व्रत ऐसे हैं जिनके पालने से मानव क्षेत्रत्व सम बन सकता है। उसमें से बुराईयाँ समाप्त हो जाती हैं तथा अच्छाईयों की ओर उसकी जीवनचर्या बढ़ने लगती है। यदि इन व्रतों का अणु मात्र भी हमारे जीवन में उतर जावे तो हमारा देश सभी दृष्टियों से उन्नत हो सकता है।

व्रतों के वर्णन के पश्चात् १२ तपों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। आत्मा के विकारों पर विजय पाने के लिए तपों का परिपालन आवश्यक प्रतीत किया गया है। इनमें ६ बाह्य तप हैं जिनका शारीरिक क्रियाओं में सम्बन्ध है। उपवास करना, भूख से कम खाना, प्रतिदिन किसी एक रस

का परिस्थान करना, धन्यता छोड़कर सोना तथा शरीर को बलिदान देना ये सभी वास्तव तप है। इनके परि-पावन से साधुओं की तपश्चर्या में दृढ़ता आती है। इसी प्रकार यह अभ्यंतर तप भी है। जिन्हें साधक स्वयमेव करता है और जिससे उदात्त भावों के समन में शान्ति मिलती है।

इनके पञ्चाशु सम्यक्त्व, ग्यारह प्रतिमाएं, दान, जल छानने की विधि, शक्ति भोजनत्याग एवं रत्नधरा के परिपालन के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। कवि ने इन सभी में अपनी अगाध ज्ञान की छाप छोड़ी है। साथ में ऐसी क्रियाओं के महत्व को पद्यों में लिखकर इसकी जनसाधारण को विस्तृत जानकारी भी दी है।

इस प्रकार 'श्रेयनक्रियाकोश' में यद्यपि जैनाचार का वर्णन है, लेकिन यह मान्य शास्त्र के लिए नैतिक सद्गुण है। जिसने अहिंसा धर्म का परिपालन, सत्य व्यवहार को जीवन में उतारने पर जोर, चोरी, अनैतिक जीवन एवं अनावश्यक संग्रह आदि की बुराइयों को खलवार निन्दा की गयी है। त्रुटों से जीवन को अत्यधिक संपन्न, निर्धनित एवं विकसित करने की कला सिखायी गयी है। वास्तव में ऐसी पुस्तकों को धार्मिक आवरण में न रखकर सार्वजनिक उपयोग के लिए प्रस्तुत की जानी चाहिए।

भाषा:—

भाषा की दृष्टि से यह कवि की प्रथम छन्दोबद्ध रचना थी। इसलिए कवि इसमें किसी एक शैली पर स्थिर नहीं रह सका। कहीं पर यदि शुद्ध हिन्दी का प्रयोग हुआ है तो कहीं पर राजस्थानी का। व्रज भाषा के शब्दों के प्रयोग से कवि बच नहीं सका है। इसी तरह अपने मस्तव्य के लिए कहीं प्राकृत पद्यों का उदाहरण दिया गया है तो कहीं संस्कृत छन्दों को भी उद्धृत किया गया है। यही नहीं एक दो स्थान पर तो अपने विषय का प्रतिपादन करने के लिए उसने गद्य का भी प्रयोग किया है।

जीवंधर चरित्र

'जीवंधर चरित' कवि की दूसरी काव्यात्मक कृति है। इसमें जीवंधर के जीवन का चित्रण किया गया है। जीवंधर का जीवन जैन समाज में अत्यधिक प्रिय रहा है। इसीलिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि सभी भाषाओं में जीवंधर के जीवन पर अनेक रचनाएं मिलती हैं। हिन्दी भाषा में इस चरित को निबद्ध करने की श्रेया कवि को उदयपुर में स्वाध्याय प्रेमियों

द्वारा मिली थी। कवि ने इस कृति की प्रशस्ति में उनका साभार उल्लेख किया है। कवि धान मंडी उदयपुर में प्रतिदिन प्रवचन किया करते थे। एक बार उन्होंने महापुराण पर प्रवचन किया। इसी महापुराण में जीवन्धर की भी एक सुन्दर कथा आती है। जब श्रोताओं ने उस कथा को सुना तो सभी श्रोताओं ने एवं विशेषतः कालाढेहरा के निवासी श्री चतुरभुज अग्रवाल ने कवि से निवेदन किया कि देव भाषा अर्थात् संस्कृत तो अत्यधिक कठिन है। उसका स्वाध्याय तो पंडित लोग ही कर सकते हैं, लेकिन सामान्य श्रावकों के लिये शक्ति के बाहर की बात है। इसलिये यदि इस काव्य को हिन्दी में रचना हो जावे तो सभी सरलता से समझ सकेंगे। इसी प्रकार कवि के प्रमुख मित्र पृथ्वीराज का भी यही आग्रह था। सागवाड़ निवासी हुंमह जातीय श्रावक सेठ बेलजी का आग्रह भी विशेष था। इन लोगों के आग्रह को टालना स्वयं कवि के लिए भी संभव नहीं था। अतएव कवि को अन्त में भाषा में जीवन्धर चरित को प्रारम्भ करना ही पड़ा और सन् १९०५ की शरपाड़ शुक्ला द्वितीया की शुभवेला में इस ग्रन्थ की समाप्ति कर दी गई।

‘जीवन्धर चरित’ एक प्रबन्ध काव्य है। इसमें प्रबन्ध काव्योचित सभी गुण मिलते हैं। सारा काव्य अध्यायों में विभक्त है। जिनकी संख्या पंच है। इन अध्यायों में जिस प्रकार का वर्णन मिलता है, उसका सश्रित परिचय अध्याय की पुष्पिका में दिया गया है जिससे इस अध्याय का पूरा चित्र सामने आ जाता है। इन अध्यायों में कवि ने जीवन्धर चरित को अपनी काव्य प्रतिभा द्वारा सरस, सुबोध, एवं सरल बनाने का प्रयास किया है। कवि ने अपने काव्य के परम्परागत कथानक में यद्यपि कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है फिर भी कुछ नवीन उद्भावनाओं की मृष्टि अवश्य हुई है। समूचा काव्य एक झलकतसा लगता है। जिसमें जीवन्धर के विभिन्न पक्षों की उद्भावना हुई है। कथावस्तु का पूर्णतः निर्वाह हुआ है। वह पाठकों को कभी रुलाती तो कभी हंसाती हुई आगे ले चलती है। वास्तव में जीवन्धर का चरित क्या है—मानों उस महापुरुष की कहानी है, जिसने जीवन में कभी हार नहीं मानी तथा जिसने कभी श्रम्यायी का पक्ष नहीं लिया। वह एक मनुष्य की कहानी है; जिसे जीवन में कुछ कर दिखलाने की तीव्र इच्छा है। वह एक ऐसे पुण्यात्मा की कहानी है; जिसने जीवन में सब कुछ पाकर भी उसे निस्सार जानकर छोड़ दिया तथा अन्त में तपस्वी जीवन की प्राप्ति करके निर्वाण की प्राप्ति की।

भाण्डव दर्शन

कवि के सभी वर्णन उज्ज्वल के हैं। एक बार जीवन्धर नगर के बाहर अपने साथियों के साथ गोलों का खेल खेल रहे थे। इतने में एक तपस्वी ने जीवन्धर से नगर की दूरी के बारे में पूछ लिया—इसका जीवन्धर ने जो सुन्दर उत्तर दिया वह कितना सामयिक एवं प्राकट्यक है

बोले कंवर सर्व यह जानै, बालक चेलक पंथ पिछानै ।
तू अति बृद्ध ज्ञान स लोको, किती दूर पुर पूछै मोको ॥६१॥
तरवर सरवर वाग विसाला, बहुरि देखिए खेलत वाला ।
तहां बर्यौ न लखिए पुर भीरा, संसै कहा राखिए कीरा ॥६२॥
ज्यौं लखि धूम अनन हूं जाने, त्यों बालक लखि पुर परवाने ।
जीवन्धर के सुनिधे वैना, तापस कीये नीचे नैना ॥६३॥

एक बार जीवन्धर रोने लगे। जब तपस्वी ने जीवन्धर से नहीं रोने के लिए कहा तो जीवन्धर ने उसका जवाब कितने व्यंग्य से दिया, वह पढ़ने योग्य है—

रोवे के गुन तुम नहि जानौ, मेरी बात हिये पगवाभौ ।
जाय सलेखम जो दुख दाई, नेत्र विमल ह्वै अति अधिकारी ॥६४॥
तितै अहार हु सीतल होई, यामैं ती ओगुन नहि कोई ॥

आदि काल से ही लड़की के विवाह की विन्ता माता-पिता को रही है। पुत्री के विवाह के पश्चात् उन्हें अपूर्व प्रसन्नता होती है। इसी तरह का एक प्रसंग जीवन्धर चरित में भी आया है; जिसमें इसी तरह की बात कही गयी है—

रहै कंवारी कन्यका, व्याह जोगि घर मांहि ।
मात तात कौ दूसरी, ता सम चिता मांहि ॥४७॥
पुत्री परणावन समा, नहि निचितता और ॥

प्रस्तुत काव्य में नायक का चरित्र अलौकिक कार्यों से ही नहीं उभारा गया है; किन्तु वीणा-वादना प्रतिधोगिता में जीवन्धर की विजय बतलाकर

नायक के ही चरित्र को समुन्नत बनाया गया है साथ ही अपने स्वयं की बीणा-वादन की कला पर भी प्रकाश डाला गया है—

सुनि करि चित्रत रहे भूचरा खेचरा ।

मृग मोहित वहै महाराग मैं चित धरा ।

या विद्या करि हुई कवंर की कीरती ।

जांनी सब संसार राग मैं कीमती ॥३७॥२१

जीवन्धर सुगन्ध परीक्षा में भी प्रवीण थे, इसलिए कवि ने “संघ परखवा दूजो माहि, जीवन्धर सो धरणी माहि”—७०/२४ के शब्दों में अपने नायक की प्रशंसा की है। जीवन्धर अत्यधिक दयालु थे। जब एक श्वान भयभीत होकर उल्टा तालाब में पड़ जाता है तो उसे वे अपने प्राणों की भी परवाह न करते हुए तालाब में कूद पड़ते हैं और मरते हुए कुत्ते को लमोकार मंत्र सुनाते हैं; जिससे वह मरकर यक्ष योनि को प्राप्त करता है—

प्राण छोड़ि वे सनमुख भयो, सुनिकै कुमर कड़ाई हि लयो ।

जान्यों इह जीवै नहि कोइ, याकी मरण अवारहि होय ॥७२॥२५

तब ताके काननि मैं आप, दियो मंत्र जो नासे पाप ।

नमोकार सो मंत्र न और, इहै मंत्र सब श्रुत को मोर ॥७३॥२५

कवि ने व्यापारियों की मनोवृत्ति पर अच्छी चुटकी ली है और लिखा है—

बनियनि की इह रीति अनादि, हरडै सूँठि आवला आदि ।

बेचै और मोलि ले सही, इन ती रीति और ही गही ॥६६॥२७

जीवन्धर :

काव्य का नायक जीवन्धर है। उसके पिता राज नगर के राजा थे। लेकिन उसका जन्म शमशान में हुआ। जन्म लेते ही वह पितृ विहीन हो गया और अपनी माता बिजया रानी के द्वारा पालन होने के स्थान पर गंधोत्कट सेठ के घर उसका लालन पालन हुआ। लेकिन जीवन्धर पुण्यात्मा था; इसलिए जहाँ भी गया वहीं पर उसे सब प्रकार की सुख सुविधा मिलती गयी। गंधोत्कट सेठ ने जीवन्धर का लालन-पालन अत्यधिक स्नेह के साथ किया। वह

प्रारम्भ से ही व्युत्पन्न मति था, साहसी था, निडर था तथा आपत्तियों से जूझने वाला था। बचपन में जब उसकी भेंट तपस्वी से हुई तो तपस्वी और उसके मध्य होने वाला वार्तालाप उसके व्युत्पन्न मति होने का स्पष्ट प्रमाण है। तपस्वी द्वारा नगर की दूरी पूछी जाने पर, जीवन्धर द्वारा दिया गया उत्तर उसकी उत्पन्न मति का द्योतक है।

जीवन्धर ने सर्व प्रथम भीलों का उत्पात शांत किया और उनसे रायों को छुड़ा कर काष्ठांगार को सौंप दी। यह जीवन्धर की प्रथम सफलता थी। काष्ठांगार जैसे धूर्त राजा भी उससे लड़ने का साहस नहीं कर सके। उसे जीवन्धर ने अपने भाइयों को साथ लेकर ऐसी शिकस्त दी, जिससे जीवन्धर की वीरता की चारों ओर प्रशंसा होने लगी। इसके पश्चात् जीवन्धर ने सुधोषा वीर बजाकर मंधर्वदत्ता के साथ विवाह किया—वह उसका संगीत प्राचीण्य था। काष्ठांगार के बिगड़े हुए हाथी असनिवेग को सहज ही में वश में कर लिया जिसके उपलक्ष्य में उसे सुरमंजरी जैसी सुन्दर कन्या प्राप्त हुई। काष्ठांगार के षडयन्त्र को विफल किया। पद्मोत्तमा का विष दूर कर उससे विवाह किया एवं आधा राज्य भी प्राप्त किया। सहस्रकूट पैतृकालय के कपाट खोलकर क्षेमसुन्दरी को विवाह में प्राप्त किया। घनुष विद्या में प्रवीणता दिखला कर हेमाभा को परिणय संस्कार में बांध लिया तथा अपने ही नगर राजपुर में आकर उसने विमला एवं गुणमाला जैसी कन्याओं से विवाह किया। इनसे जीवन्धर की कीर्ति चारों ओर फैल गयी। यही नहीं रत्नावली को स्वयंवर में प्राप्त करके अपनी निधाने बाजी की कला में सफलता पाई और अपने पिता की जश्रय्य हत्या करने वाले तथा प्रबल शत्रु काष्ठांगार को रण भूमि में मारकर अपना राज्य वापिस प्राप्त किया और एक लम्बे समय तक अपने कुटुम्बीजनों के साथ उसने जनता को स्वच्छ प्रशासन दिया। इस प्रकार काव्य के नायक जीवन्धर का चरित्र अन्त तक निखरता गया है।

काव्य कला:

प्रस्तुत 'चरित' में सभी काव्य गुण उपलब्ध होते हैं। पांच अध्यायों में विभक्त यह काव्य हिन्दी भाषा का प्रमुख काव्य है जो अभी तक विद्वानों की दृष्टि से ओभल रहा। दोहा, चौपई, सोरठा, वेसरी, अरिल्ल, बड़दोहा, जालि छन्द, भुजंगी प्रमात, छप्पय आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। कवि ने बीच-बीच में दोहा चौपई के अतिरिक्त अन्य छन्दों का प्रयोग करके काव्य की उपवोगिता में वृद्धि की है। इसी तरह अलंकारों का प्रयोग भी

स्पष्ट हुआ है। जिनमें उत्प्रेक्षा, उदाहरण, उन्मा एवं अनुपास प्रलेखकों के नाम उल्लेखनीय हैं :

‘जीवन्धर चरित’ शान्त रस का काव्य है। इसका नायक अनेक साहस पूर्ण कार्यों को करने के पश्चात् एवं दीर्घ समय तक शासन सुख भोगने के उपरांत संसार से विरक्त हो जाता है और अन्त में धीरे तपस्या करके मोक्ष को पाता है। अपने पूर्व भव में १६ दिन तक हंस के बच्चे को उसकी माँ से विनय करने का फल जीवन्धर को इस भव में अपनी माता से १६ वर्ष तक विछोह मिलता है। क्योंकि सभी जीवों की समान आत्माएँ होती हैं और उन्हें भी सुख-दुःख का अनुभव समान रूप से होता है। जन्म से पूर्व ही पिता की मृत्यु, शमशान में जन्म, सेठ का शमशान में मृत पुत्र को लाना और उसके स्थान पर जीवन्धर को पालना, यक्षिणी द्वारा उपकार, रक्षा करना और फिर यक्ष द्वारा विपत्तियों में सहायता ये सब कुछ ऐसी घटनाएँ हैं, जो कर्म सिद्धान्त में अद्भुत विश्वास उत्पन्न करने वाली हैं।

भाषा :

‘जीवन्धर चरित’ की भाषा शुद्ध हिन्दी है। यद्यपि कवि ने उसे उदयपुर में रहते हुए अश्वोबद्ध किया था लेकिन मेवाती और गुजराती भाषा का इस काव्य पर प्रभाव नहीं है। किन्तु कवि के जयपुर निवासी होने के कारण कहीं-कहीं ठूठारी शब्दों का प्रयोग अवश्य हो गया है।

अध्यात्मबारहखड़ी :

‘अध्यात्म बारहखड़ी’ कवि की अध्यात्मक कृतियों में सबसे बड़ी रचना है। इसमें स्वर एवं व्यंजन के माध्यम से अध्यात्म विषय का वर्णन किया गया है। स्वयं कवि ने इसका अध्यात्म बारहखड़ी नाम देकर इसके विषय को स्पष्ट किया है। एक प्रकार से वह अध्यात्म विषय का कोश ग्रन्थ है जिसका प्रत्येक वर्णन भक्ति एवं अध्यात्म रस से ओत-प्रोत है। कवि ने इसमें अपने पूरे ज्ञान को ही जैसे उखेल कर रख दिया है। इस ग्रन्थ में तीर्थंकरों की विविध रूप में स्तुति मिलेगी। सहस्रनाम, शतनाम जैसी अनेक रचनाएँ इसमें समाधी हुई हैं। इस कृति का दूसरा नाम ‘भवत्पक्षरमालिका बावनी स्तवन’ भी दिया हुआ है। अध्यात्म बारहखड़ी इसका अलग नाम है—जैसा कि कवि ने कृति की प्रत्येक पुष्पिका में उल्लेख किया है।

कवि ने अपनी इस पूरी कृति को ८ परिच्छेदों में निम्न प्रकार विभक्त किया है—

प्रथम परिच्छेद में ओंकार प्रणव महिमा एवं अकाराक्षर से प्रारम्भ होने वाले पद्य हैं। सर्व प्रथम ५ संस्कृत पद्यों में मंगलाचरण किया गया है। इसके पश्चात् ६६ दोहा एवं नाराच छंदों में प्रणवमहिमा, २६ चौपई छन्दों में ओंकार महिमा एवं ११२, दोहा चौपई, छंद बेसरी में अकार का वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेद की पुष्पिका निम्नप्रकार है—

“इति श्री भक्त्यक्षरमालिका धावनी स्तवन अध्यात्म बारहसड़ी नामध्वेय उपासनातंत्रे जितमहसनाम एकाक्षरीनाममन्त्रादि शतैः संपासुमारेण भगवद् भजनानाधिकारे आनंदराम सुत दीनतरामेन अल्पबुद्धिना उपायनीकृते प्रथम स्तुति प्रारंभद्वारेण प्रणव महिमापूर्वक अकारमिथाक्षर प्ररूपको नाम प्रथम-परिच्छेद ॥१॥

द्वितीय परिच्छेद में अकार से लेकर झःकार के १६ स्वरान्त पद्यों में भगवद्भक्ति एवं अध्यात्म की गंगा बहायी है। इन स्वरान्त पद्यों की संख्या निम्न प्रकार है:—

अकारान्त पद्य	४४२
आकारान्त „	१२५
इकारान्त „	६६
ईकारान्त „	३५
उकारान्त „	१६०
ऊकारान्त „	४४
ऋकारान्त „	१४४
ॠकारान्त „	१५
लृकारान्त „	१६
लृकारान्त „	११
एकारान्त „	१६०
ऐकारान्त „	५०
ओकारान्त „	२४
औकारान्त „	२५
अंकारान्त „	७२
अःकारान्त „	१२

१४७१

जिन छन्दों का इस परिच्छेद में प्रयोग हुआ है, उनमें दोहा, चौपई, चौपया, सर्वैया, कवित्त, छन्द गीता, भुजंगीप्रयात, ओटक, सर्वैया दकतीसा, छन्द मोतीराम, पढ़ड़ी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कवि ने कथाओं के माध्यम से भी जिन महिमा का वर्णन किया है। इकारान्त पद्यों के अन्त में कवि ने अपने पुत्रों के नाम गिनाये हैं। ऋकार से पहिले जिनबाणी का स्तवन और फिर षट्कृतुओं का वर्णन मिलता है। सभी वर्णन विस्तृत एवं स्पष्ट हैं एवं कवि की विद्वत्ता के द्योतक हैं।

तृतीय परिच्छेद :

यह परिच्छेद कवर्ग का है। जिसमें ककार, खकार, गकार, घकार एवं ङकारान्त पद्यों को दिया गया है। इन परिच्छेदों में ककारान्त के २०५ पद्य हैं, खकारान्त के ८१ पद्य, गकारान्त के ११७ पद्य और घकारान्त के ५६ पद्य एवं ङकारान्त के २४ पद्य हैं। प्रारम्भ में वर्णन करने से पूर्व संस्कृत पद्य अलग से दिये गये हैं। शृङ्ग के प्रसंग में सीताहरण की कथा दी हुई है।

चतुर्थ परिच्छेद :

इसमें चवर्ग के सभी पञ्चाक्षरान्त पद्य हैं इनमें चकारान्त के १६०, छकारान्त के ७४, जकारान्त के ३२, झकारान्त के ४२ एवं ञकारान्त के २० पद्य हैं। इस प्रकार यह परिच्छेद ३५८ पद्यों में पूर्ण होता है। इनमें झकारान्त में झूठ की बुराइयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस परिच्छेद का प्रमुख छन्द सर्वैया एवं सोरठा है। वर्णन कुछ क्लिष्ट हो गया है।

पंचम परिच्छेद :

इसमें टवर्ग के सभी पञ्चाक्षरान्त पद्य हैं। इनमें टकारान्त के ३७ पद्य, ठकारान्त के ३५ पद्य, डकारान्त के ७६, ढकारान्त के ९६ पद्य एवं णकारान्त के ४३ पद्य हैं। इस परिच्छेद में सब मिलाकर २१७ पद्य हैं। इस परिच्छेद का वर्णन सामान्य है।

षष्ठम परिच्छेद :

उसमें तवर्ग के पद्य दिये गये हैं। जिसमें तकारान्त के १७३ पद्य, थकारान्त १३६ पद्य, दकारान्त के ३४६ पद्य, धकारान्त के ७६ एवं नकारान्त के १२६ पद्य हैं। सब मिलाकर हिन्दी पद्यों की संख्या ६६६ है,

जो एक सतसई के रूप में हैं। इस परिच्छेद में ज्येष्ठ क्रिया, अष्ट मूलगुण, द्वादश व्रत, निश्चय व्यवहार नय, गुणस्थान, पांच ज्ञान—आदि पर अच्छी प्रकाश डाला गया है। इस परिच्छेद का प्रमुख छन्द दोहा चौपई एवं सोरठा है।

सप्तम परिच्छेद :

इस वर्ग में पवर्ग पर आधारित पद्य हैं। इनमें प्रकारान्त के ३३८ पद्य, फकारान्त के ७०, बकारान्त के २७, भकारान्त के १३७ एवं मकारान्त के १८६ पद्य हैं तथा कुल पद्यों की संख्या ८५८ है। कुण्डलिया, छावय, सोरठा, शार्दूल विकीर्णित जैसे छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। सभी वर्णन सरस, सरल एवं प्रवाहमय हैं। अलंकारिक शब्दों का भी यत्र तत्र प्रयोग हुआ है।

अष्टम परिच्छेद :

अध्यात्म बारहसही का यह अन्तिम परिच्छेद है। जिसमें प्रकारान्त पद्यों की संख्या ११८, रकारान्त ६३, लकारान्त ८६, वकारान्त ११३, शकारान्त १३३, षकारान्त १२६, सकारान्त ४५२, एवं हकारान्त ६३ तथा क्षकारान्त के ८१ पद्य हैं, इस प्रकार इस परिच्छेद की कुल संख्या १२६८ पद्य है जो सबसे अधिक है। इसमें आध्यात्मिक वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है। दोहा चौपई जैसे छन्दों के अतिरिक्त ज्येष्ठवज्रा, सर्वदया, कुण्डलिया सोरठा आदि इस परिच्छेद के छन्द हैं।

अध्यात्म बारहसही काव्यरत्न की अपेक्षा से एक अच्छी कृति है। यह एक कोश ग्रन्थ है, जिसकी रचना जिनसहस्र नाम नाममाला आदि अनेक कोश ग्रन्थ एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों के आधार पर की गई है। हिन्दी भाषा में इस प्रकार की बहुत कम कृतियाँ देखने में आती हैं।

वर्णन :

शारदा—जिसका अपर नाम भारती, ईश्वरी एवं सरस्वती है, वह सर्वज्ञ प्रभु के मुख से निकली हुई है। कवि ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है—

“सरवगि के मुखते भई, सदा सारदा देवि।

वहै ईश्वरी भारती, सुर नर मुनिजन सेव ॥२७॥

अकारान्त में अद्धा पर प्रकाश डालते हुये कवि ने सिखा है, कि अद्धा से भगवान् जिनेन्द्र का नाम जपना चाहिए । अद्धा पूर्वक ही किसी को कुछ देना चाहिये । अद्धा से ही व्रत एवं तप की आराधना की जानी चाहिए ।

अद्धा करि जिन नांव जपि, अद्धा करि कल्लु देहु ।

अद्धा करि व्रत शील धरि, नर भव लाहौ लेहु ॥

कवि जिनेन्द्र की भक्ति में इतने सन्नद्ध थे कि इन्हें यह आश्चर्य लगने लगा था कि लोग उन्हें छोड़कर अन्य की कैसे आराधना करते हैं—

ते नर नीच शृगाल सम, जे नहि ध्यावैं तोहि ।

तोहि छोडि औरहि भजैं, इह अचरजि अति मोहि ॥१०५॥

एक दूसरे प्रसंग में कवि ने फिर उनका स्तवन निम्न प्रकार किया है—

तेरो निर्माता नहीं, रचिता जग मैं कोय ।

अनिर्मातृ भगवान् तू, अनिर्वच्य वो होय ॥३१॥

जिनेन्द्र का वर्णन कर सकने में असमर्थ अपने आपको कवि निम्न प्रकार प्रस्तुत करता है—

ओजस्वी तुम वर्णना, कथि न सकं जनि कोय ।

मैं मति हीन अज्ञान जो, किम कहि सकि हौं तोय ॥३॥

‘जिनेन्द्र’ के स्तवन में कवि के कुछ अत्यधिक सुन्दर, सरल एवं भाव-पूर्ण पद्य देखिए—

‘ख’ कहिए आकास को, तू आकास स्वरूप ।

सद्ध चिदात्म बोधमय, परम हंस जगभूष ॥२५॥

ख कहिए इन्द्रीनि की, तुम इन्द्रीनि तैं दूर ।

मन अर बुधि हू कै परै, घटि घटि अन्तर पूर ॥३॥

×

×

×

घर घर की सेवा करत, उपज्यौ अति गति खेद ।

अब तू अपनी टहल दे, ले निज मांहि अभेद ॥१॥

घर घरणी मैं हम लगे, अन घरणी की चाहि ।

चाहि हमारी भेटि सब, बहु भरमावै काहि ॥२॥

४ विवेक विलास

‘विवेक विलास’ कवि की पद्यात्मक कृतियों में से सबसे महत्वपूर्ण कृति है। पूरी कृति रूपक काव्य है, जिसमें आदि से अन्त तक रूपकों की मालाएं ही मालाएं हैं। यह एक ऐसी कृति है, जो किसी भी कवि की काव्य प्रतिभा परखने के लिए पर्याप्त है। कवि ने कृति का नाम ‘विवेक विलास’ दिया है जो पूर्णतः सत्य है। इसमें जगत के प्राणियों को विवेकमय जीवन अपनाने की प्रेरणा दी गयी है। विभिन्न रूपकों से उसे सच्चरित्रता एवं सद्कार्य करने को कहा गया है। पूरा विलास दोहा छन्द में है। जो ६२४ दोहा छन्दों में समाप्त होता है। एक ही काव्य में दोहा छन्द का इतना बड़ा प्रयोग भी बहुत कम देखने को मिलता है। यह एक ही छन्द-कृति है। १८वीं शताब्दी में दोहा छन्द कवियों के लिए एवं जनता के लिए कितना लाडला छन्द था। इसकी इस कृति से जानकारी मिलती है।

कवि ने अपनी इस कृति का नाम ‘विलास’ दिया है। ‘विलास संज्ञक रचनाएं’ बनारसीदास से ही लोकप्रिय रही हैं इसलिए प्रत्येक कवि की एक विलास संज्ञक कृति अवश्य मिलती है। इनमें बनारसी विलास, भूधर विलास, ध्यानत विलास, दीनत विलास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। लेकिन अन्य विलास, संज्ञक रचनाओं में एवं विवेक विलास में पर्याप्त अन्तर है। बनारसी विलास में जहां बनारसीदास की सभी लघु कृतियों का संकलन किया गया है। वहां दीनतराम ने अपने विवेक विलास में एक ही कृति को निबद्ध किया है।

विवेक विलास में निजधाम वर्णन, २. ठगग्राम वर्णन, ३. निज बन निरूपण, ४. निजभवन वर्णन, ५. भावसमुद्र वर्णन, ६. भवसमुद्र वर्णन, ७. ज्ञान निरूपण, ८. गर्वगिरि वर्णन, ९. निज गंगा वर्णन, १०. आशा वंशरणी विपनदी वर्णन, ११. भावसरोवर वर्णन, १२. विभाव सर वर्णन, १३. अध्यात्म तापिका वर्णन, १४. विषय बापी वर्णन, १५. रस रूप वर्णन, १६. भवक्रम वर्णन, १७. अन्तरात्मा ज्ञान राज वर्णन, १८. बहिरात्मा दशा वर्णन, १९. गुरु वचन—इस प्रकार ‘विलास’ का विषय वर्णन विभक्त किया हुआ है। यद्यपि विवेक विलास अध्यामों अथवा सर्गों में विभक्त नहीं हैं, लेकिन विभिन्न वर्णन ही इसके अध्याम हैं। ये सभी अध्याम ज्ञान रूपी महल से चढ़ने के लिए सीढ़ी का कार्य करते हैं। एक के पश्चात् एक वर्णन इस क्रम से हुआ है, जिससे विलास की एक भी कड़ी नहीं टूट सकी है। और विषय सहज ही खुलता चला गया है। समूचा

विलास रूपकों से भोत-प्रोत है तथा प्रत्येक दोहे में किसी न किसी रूपक का प्रयोग हुआ है। इनसे कवि के अगाध ज्ञान एवं विशाल काव्य-शक्ति का सहज ही पता लगाया जा सकता है।

रचना काल

कवि ने अपनी इस कृति को किस शुभवेला में प्रारम्भ किया था, और किस शुभवेला में समाप्त करके साहित्यिक जगत का महान् उपकार किया, इसके बारे में अपनी अन्य कृतियों के समान सम्यक् ज्ञान उचित नहीं समझा। यही नहीं इस महत्त्वपूर्ण कृति की पूरे राजस्थान के जैन ग्रन्थगारों में अभी तक एक ही पाण्डुलिपि उपलब्ध हो सकी है जो जयपुर के पाण्डे लूणाकररा जी के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है। यह पाण्डुलिपि सं० १८२७ पौष सुदी २ वृहस्पतिवार की लिखी हुई है। जयपुर में आने के पश्चात् कवि ने एक ही पद्यात्मक रचना 'श्रीपाल चरित' को छन्दोबद्ध किया था, जिसमें भी स्पष्ट रूप से रचना काल दिया हुआ है। यह कृति संभवतः 'अध्यात्मवारहखंडी' के पश्चात् लिखी गयी थी। वह कवि की काव्यशक्ति का सर्वोच्च समय था। और इसीलिए कवि की लेखनी से ऐसी उत्कृष्ट कृति का सृजन हो सका। इसलिए इसका रचना काल सं० १७६८ से १८०० तक का माना जा सकता है।

भाषा

भाषा की दृष्टि से विवेक-विलास एक परिमार्जित हिन्दी कृति है। कवि ने शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करके तत्कालीन समय में प्रचलित हिन्दी शैली का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि कवि राजस्थानी थे। उदयपुर में उस समय रहते थे, लेकिन विवेक-विलास की भाषा पर हूँदारी एवं मेवाड़ी भाषा का सबसे कम प्रभाव पड़ा है। कवि ने शुद्ध हिन्दी में अपनी इस कृति को प्रस्तुत किया है।

विषय वर्णन

विवेक-विलास 'निजधाम वर्णन' से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य की महिमा एवं उससे ब्रह्म पद प्राप्ति का कथन मिलता है। इसके पश्चात् कवि ने जगत में अध्यात्म चर्चा एवं भगवद्भक्ति की ही आत्म-साधना के प्रमुख उपाय बताये हैं। यह आत्मा अपने आत्म प्रदेश में निवास करता है, वही उसका अभैपुर है। जहाँ उसे जरा भी काल का भय नहीं है।

अमरपुर नगर का राजा आत्मा ही है। ममरस भाव उसके मित्र हैं। सम्यक् ज्ञान ही उसका प्रधान अमात्य है। अनन्तकीर्ण आत्मा का सेनापति है। भाव उसका दुर्ग है। उसका गम्भीर स्वभाव ही उसके यहां खाई है। आत्म ध्यान ही द्वार है और यही अध्यात्म का सार है। अनन्त वसुधैव कुटुम्बक भाव ही चार सुभट हैं। इस प्रकार रूपकों की प्रत्येक पद्य में छद्म दिखलायी देती है।

प्रथम अध्याय में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि आत्मा राजा है तथा गुण इसकी प्रजा है। शुद्ध भाव ही उसके शस्त्र हैं जिनसे उसकी जीत होती है। उस पुर में कोई चोर नहीं है। वह आत्मा स्वयं मालिक है। उसके पास महासुखों की सभी सामग्री उपस्थित रहती है। शुद्ध पारमार्थिक भाव ही राजसभा के पार्षद हैं। जो सदैव आत्मा की सेवा में उन्मिषित रहते हैं। आधिक सम्यक्त्व उसके महाभट हैं जिसके बल पर यह आत्मा निष्कलंक राज्य करता है। निज स्वभाव ही उसका सिंहासन है। उस पर वह बैठकर सब पर शासन करता है। दुःखों को हरण करने वाला स्वभाव ही उसका छत्र है तथा निर्भय भावों की तरंग चमर है। इसके आगे कवि ने आत्मा के विभिन्न गुणों को रूपकों द्वारा समझाया है।

ऐसी आत्मा परमानन्द दशा में विराजती है, वहां उसे इन्द्रिय-भोगों की जरा भी चिन्ता नहीं है। आत्मानुभव ही अमृत है जिसका वह सदा पान किया करता है। उसे भूख एवं व्यास की बाधा नहीं होती। जन्म, जरा एवं मृत्यु का भय नहीं तथा रात्रि एवं प्रातः उसके लिए समान हैं। रात्रि में विचरण करने वाले चोरों के समान रागादि भावों का यहां संचार नहीं और उसके आत्मपुर में रोग-शोक आदि पिशाच नहीं है। ठग के रूप में काम करने वाले काम एवं लोभ का वहां नाम भी नहीं है। ऐसे प्रदेश में वस्तु स्वभाव ही पुर है और वह धर्ममय है। जहां राजा और प्रजा दोनों धर्ममय हैं। वहां धर्म रहित होकर कोई नहीं रहता। ऐसे यह आत्मा जब अपने नगर में रहता है; तब चारों ओर महान् सुख बरसता है। वह उसका नन्दन वन है; लेकिन इस उपवन में न तो मायारूपी बेलि है और न विकल्पों का जाल है। क्रोधादि पंखों का यहां पूर्णतः अभाव है। उस वन में शुभाशुभ कर्म वृक्ष नहीं है। वहां सुख रूपी सरोवर है। जिसमें सहज नीर भरा हुआ है। वहां अपने भाव वाले तत्त्वर हैं। इस प्रकार यह पूर्ण वर्णन रूपकों से भरा हुआ है।

"विवेक-विलास" का दूसरा अध्याय 'ठग ग्राम वर्णन' है। इसमें कवि की भावाभिव्यक्ति है कि हे मनुष्य ! यह जगत ठगों का निवास-स्थान है। मोहादि वहाँ के अनन्त ठग हैं, जिनके नाम कहां तक लिए जावें। मोह इन सब ठगों का राजा है; क्योंकि मोह की फांसी के समान जगत में दूसरी फांसी नहीं है। जीवों को यह फांसी देकर मान गुणों को हर लेता है। मोह निद्रा के समान दूसरी दीर्घ निद्रा नहीं है। यह जगत मोहरण ज्ञान चेतना खोकर सोता रहता है। समता मोह की प्रिया है। जिसके समान अन्य कोई ठगिनी नहीं है। यह समता सुरेन्द्र नरेन्द्र आदि सभी को ठग लेती है। सबसे बड़े ठग राग एवं द्वेष हैं, जिनकी भुजाओं के प्रताप से मोह जगत पर शासन करता है। राग की प्रिया मरागता है। विषयों में अनुगाता ही यहाँ अद्भुत ठगिनी हैं। द्वेष के समान कोई दुर्बुद्धि नहीं है। द्वेष की प्रिया दुर्जनता है, जिसने अभी सभी को ठगा है। इसी तरह इस नगर में काम के समान दूसरा कोई प्रबल ठग नहीं है, जो जगत का शील हरण करके बदफैल करता रहता है। काम की प्रिया रति है, जो जगत को भरमाती रहती है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ, रोग, शोक असयम आदि और भी ठगों के नाम गिनाये हैं।

'विलास' का तीसरा वर्णन 'निज वन निरूपण' के नाम से है। यह २५ दोहा छन्दों में पूर्ण होता है। इसमें कवि ने बतलाया है कि जब यह आत्मा अपने वन में क्रीड़ा करती है तो उसे मृत्यु का भी डर नहीं रहता। आत्म-वन अमर उद्यान है जिसमें परमानन्द प्राप्त होता है। यह वन आत्महंस के लिए केलि करने का स्थान है लेकिन यह हंस हिंसा से रहित है। तथा शान्त रस का धारण करने वाला है। इस वन में आत्मकला के समान कोई कोयल नहीं है। वह आत्म-बेलि ही रसिया है। यहाँ मरकर सम भाव के रूप में है। चपल स्वभाव वाले मृग नहीं है तथा दुष्ट भाव वाले दुष्ट पशु भी नहीं है। इस आत्मवन में न तो मोह रूपी दैत्य का निवास है और न कषाय रूपी किरात ही निवास करता है। इसी तरह से वन में मिलने वाली सामग्री को आत्मवन के रूप में चित्रित किया है। वहाँ न तो कांटे हैं और न विकल्पो का जाल है और न माया रूपी विष बेनि ही है। इस वन में शगादिक के रूप में रजनीचर नहीं विचरते हैं। आत्म ज्ञान के रूप में वन वृक्ष हैं। वहाँ तो स्वभावरूपी प्रसृत वृक्ष है जो सदा अमर फल देते हैं। यह एक ऐसा रसगीक वन है, जहाँ आत्म राजा विचरण करता है।

चतुर्थ अध्याय 'निज भवन वर्णन' के रूप में है। यह विस्तृत वर्णन है, जो ७७ दोहा छन्दों में पूर्ण होता है। 'भव वन' अत्यधिक विरूप है। इसनिष्ठ

यह आत्मा उसमें जरा भी विचरना नहीं करता। इस भव वन में कुछ स्वभाव के रूप में दैत्य विचरते हैं। मोह दैत्य शिरोमणि है। राग एवं द्वेष रजनी घर हैं, पाप के रूप में पिशाच हैं। सात द्यसनों की सेना में महाहिंसक पुरोहित हैं; जिसमें दया का कण भी नहीं है। ऐसे भव वन में मोह राजा है। भयता उसकी पटरानी है। आठ कर्मों के रूप में विष वृक्ष हैं; जो कांटों से युक्त हैं तथा छाया रहित हैं। वह मृत्यु के रूप में उपहार देता रहता है। शुद्धात्म अनुभूति के समान अमृत लता नहीं है। शुद्ध भावों के रूप में अमृत वृक्ष नहीं है। इसके आगे कवि ने श्रीर भी भव वन के डरावने रूप का विस्तार से वर्णन किया है।

भव वन के समान ही भाव समुद्र का रूपात्मक वर्णन किया गया है। इसमें सागर में मिलने वाले जड़ स्वभाव के रूप में जलचर, मोह भाव, माया एवं लोभ के रूप में मगर, लोलपी जिह्वा के रूप में मछलियाँ, निष्ठुर कछुवा, वृथा विषाद करने वालों के रूप में मीठके, तुच्छ स्वभाव के रूप में भींगर आदि का वर्णन किया गया है।

आगे भव समुद्र वर्णन, धर्म गिरि वर्णन, निज गंगा वर्णन, आशा-वैतरणी विष नदी वर्णन, भाव सरोवर वर्णन, विभाव सर वर्णन, अव्यात्म बापिका वर्णन, विषय बापी वर्णन, आक्षि वर्णनों के रूपकों में काफी साम्यता है। समुद्र में पाने वाले मगर, मछली, जलचर, मच्छर, कछुवा आदि के रूपकों का समावेश किया गया है। सभी वर्णन भावमय हैं। इसी तरह विलास के सभी वर्णनों में रूपकों के अम्बार लगे हुए हैं।

‘विवेक विलास’ की भाषा प्रौढ़ है तथा वर्णन सचिकर है। वही ही प्रभावक रीति से कवि ने अव्यात्म की गंगा बहायी है, जिसमें आत्मतत्त्व की प्रधानता है। कवि ने आत्मा के विविध गुणों का विभिन्न रूपकों के माध्यम से सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। यह आत्मा स्वभावतः शुद्ध है। निजानन्द रसलीन है। आत्मा ही नगर है और आत्म भाव ही सागर है तथा आत्मा ही स्वयं का राजा है जो स्वयं के पास है।

आत्म भावहि नगर है, आत्म भाव पयोधि।

आत्म राम ही एक है, यह निज घर में सोधि ॥३०८॥

‘आत्म तत्व’ की पहिचान जिसे भी हो गई, वही भवसागर से तिर गया तथा जिसने इसकी सिद्धि करली, उसे जन्म मृत्यु के जाल से छुटकारा मिल गया। कवि ने अपनी इस कृति में आत्मा को कलुषित करने वाले, शुद्ध

चैतन्य दशा से दूर रखने वाले, संसार में रहने वाले अवगुणों का, दुःखों का एवं दुस्साधनों का जिस स्पष्टता से उल्लेख किया है, वे कवि के गम्भीर चिन्तन की ओर संकेत करते हैं। वास्तव में यह विलास एक ऐसी कृति है। जिसका धर्म एवं सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल अपने ही में निवास करने वाले आत्म तत्त्व तथा उसमें निहित परम शक्तियों का दर्शन कराना चाहता है। वह मनुष्य मात्र को बार-बार चेतावनी देता है कि—

निज गुर अ'बुधि में बसै, ताहि न पावो ताप ।
तातैं सकल विलास तजि, सेवो आपनि आप ॥
विषै पंच इन्द्रीनि के, कालकूट विष तेहि ।
विष कौ भूल भयंकरा, भव कानन है एहि ॥

५ श्रेणिक चरित :

यह कवि की प्राथमिक रचनाओं में से है। 'पुण्यालवकथाकोश' की भाषा — टीका के पश्चात् उन्होंने इस काव्य की रचना की थी। यह एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें महाराजा श्रेणिक का जीवन चरित निबद्ध है इसमें १०१ छन्द हैं तथा जिना किसी सर्ग अथवा अध्याय-भेद के कवि ने एक ही प्रवाह में श्रेणिक की जीवन-कथा को छन्दोबद्ध किया है। कवि की यह रचना अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकी; क्योंकि अभी तक राजस्थान के विभिन्न ग्रन्थ भण्डारों में इसकी केवल दो ही पाण्डुलिपियाँ मिली हैं—

१. एक पाण्डुलिपि भरतपुर के पंचायती मन्दिर में है, जिसकी पत्र सं० २५६, तथा लेखनकाल संवत् १८८८ है।

२. दूसरी पाण्डुलिपि 'यशःकीर्ति सगर्वती भवन, ऋषभ देव' में संग्रहीत है। इसमें ४६ पत्र हैं तथा लेखनकाल संवत् १८०७ कार्तिक सुदी ८ है।

प्रस्तुत पञ्चम्य दूसरी पाण्डुलिपि के आधार पर है। पर यह पाण्डुलिपि भी अशुद्ध लिखी हुई है तथा उसकी लिपि भी अच्छी नहीं है।

कवि ने 'श्रेणिक चरित' की रचना संवत् १७८२ चैत्र शुक्ला ५ के दिन पूर्ण की थी। इस दिन चन्द्रवार था।

संमत सतरेसैं वीआसी औ चैत्र सुकल तिथि जान ।

पचमी दिने पूरण करी, वार चन्द्र पहचान ॥१०१॥

चरित की भाषा हिन्दी है। इसमें कवि का काव्य कला की ओर अधिक ध्यान न होकर काव्य के नायक की कथा का वर्णन करने का रहा है।

इक दिन भूप गयो वन मांही, मारग जती जसोधर पांही।

आतापन तप तपीये कोही, देखी श्रीएक इम कही ॥६२॥

मुनि पे कुक्कर दीये छुड़ाय, तब उन दीन दक्षणा जाय ॥६३॥

नमस्कार करी बैठे स्नान, भूपती लखी रांगी गुर जान ॥६४॥

मरत साप मुनि गल धरो, नरक सातमी को बंध पड़ो।

चौथे दिरा रेनकी वार, कही भूप रांगी सब छार ॥६५॥

कवि यह काव्य रावचन्द्र के काव्यानुसार लिखा है, ऐसा उन्होंने ग्रन्थ की प्रसारित में उल्लेख किया है।

सिवानन्द मुनि राम सीढ्यो, रामचन्द्र रिषी नाम।

तिन अनुसार बनाय के, रची सो दौलतराम ॥६६॥

६ श्रीपाल चरित :

‘श्रीपालचरित’ कवि का प्रबन्धकाव्य है जिसमें कोटिभट श्रीपाल का जीवन चरित निवद्ध है। श्रीपाल के जीवन पर जैनाचार्यों ने सभी भाषाओं में काव्य लिखे हैं। हिन्दी में कवि के पूर्व ब्रह्म नायमल ने ‘श्रीपाल रास’ (सं० १५३०) तथा परिभल कवि ने श्रीपाल चरित (सं० १६५१) की रचनाएँ लिखकर काव्य रचना के मार्ग को प्रशस्त कर दिया था। श्रीपाल एवं मैना सुन्वरी का जीवन अत्यधिक लोकप्रिय रहा है और इसी कारण इनके जीवन पर विविध रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

महाकवि दौलतराम ने श्रीपाल के जीवन की कथा की लोकप्रियता को देखकर ही संवत् १८२२ फागुण सुदी ११ को चरित काव्य के रूप में उसे छन्दोबद्ध किया। कवि ने इस काव्य को सोमसेन भट्टाचार्य के श्रीपाल चरित के आधार पर बनाया है; जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने इस प्रकार किया है —

संवत् अष्टादस तसु जान, ऊपर बीस दोय फिर ग्रान।

फागुण सुद इग्यार निस मांही, कियो समापत उर हुलसाय ॥७५॥

सोमसेन अनुसार ले, दौलतराम सुखदाय।

एह भाषा पूरन करी, सकल संघ मुखदाय ॥७६॥

श्रीपाल चरित सतसई के रूप में है; जिसमें ७५५ दोहा चौपई हैं। कवि ने इस काव्य में भी कथा का धारावाहिक ही वर्णन किया है। बीच २ में सर्ग एवं अध्यायों में उसे विभक्त नहीं किया। काव्य की भाषा सीधी एवं सरल है। कवि ने उसमें काव्यरस लाने का संभवतः कोई प्रयास नहीं किया फिर भी रचना में काव्यत्व स्थान २ पर उपलब्ध होता है।

सृनि श्रीपाल निसंकित होय, मन मांही इम चितित सोय ।

देखे कहा कर्म करेय, मोतधारी तिनमें संचरेय ॥१८४॥

इनकू पट भूषण पहंराय, कियो तिलक पूजे इन पाय ।

फेरि चले मारन के काज, ल्याए जिहाज पासी सेठराज ॥१८५॥

कोटी भट अर रूप अपा, फिरि फहरे पट भूषण सार ।

सीस तिलक सोभे इमराय, मानू जस लछमी वर आय ॥१८६॥

इस प्रकार समूचा ही काव्य सरल भाषा में निबद्ध है। काव्य की वर्णन शैली एवं भाषा दोनों ही उत्तम हैं।

‘श्रीपाल चरित’ में भाग्य एवं पुरुषार्थ की लड़ाई में भाग्य की विजय हुई है। श्रीपाल की रानी मैना सुन्दरी भाग्य पर प्रबल विश्वास रखती थी; जबकि उसका पिता पुरुषार्थ का समर्थक था। भाग्य को नीचा दिखाने के लिए उसने अपनी सुन्दर एवं यौवनपूर्णा पुत्री ‘मैना’ का विवाह एक कोढ़ी राजा के साथ कर दिया। पर भाग्य से उसका कुष्ठ रोग दूर हो गया और उसे पति के रूप में कोटिभट राजा प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् भी श्रीपाल के जीवन में कितनी ही विपत्तियाँ आयीं; लेकिन उन सभी विपत्तियों में वह स्वर्ण के समान तप करके निकला। उसे अपना राज्य एवं अन्य सभी सम्पदाएँ यथावत् मिल गयीं। लेकिन कुछ समय बाद श्रीपाल को संसार में उदासीनता हो गई और उसने सपरिवार वैराग्यमय तपःसाधना करके निर्वाण को प्राप्त किया।

७ चौबीस दण्डक भाषा :

यह महाकवि की लघु कृति^१ है। इसमें ५७ दोहा एवं चौपई छन्द हैं। प्रस्तुत कृति में एक गति वाला जीव अन्य किस किस गति में जा सकता है—

१ महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में वेष्टन सं० १६६६ के गुटके में संग्रहीत।

इसका वर्णन किया गया है। कवि ने अपने वर्ण-विषय को निम्नप्रकार प्रस्तुत किया है -

पहली दंडक नारक तनी, भवनपति दस दंडक भनी ।
जौतिग बितर सुरग निवास, आवर पंच महादुस्तरास ॥७॥
त्रिकलत्रय अरु नर तिरजंच, पंचेद्री धारक परपंच ।
एहे चौबीसी दंडक कहे, अब सुनि इनमें भेद जु लहे ॥

'तीर्थंकर' के माता-पिता मर कर किस गति में जाते हैं इसका कवि ने निम्न प्रकार वर्णन किया है—

तीर्थंकर के पिता प्रसिद्ध, सुरग जाय कै होहै सिद्ध ।
माता सुरग लोक ही जाइ, आखरि सिवपुर वेग लहाय ॥

कवि ने पहिले सात तरकों में पैदा होने वाले जीवों का, फिर स्वर्गगति में जाने वाले देवों का, इसके पश्चात् पशु गति और फिर मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाला जीव कम से कम किस गति में एवं अधिक से अधिक किस गति में (नरक, स्वर्ग एवं मोक्ष) जा सकता है—इसका वर्णन किया गया है—

ए चौबीसों दंडक कहै, इनकुं त्यागि परम पद लहे ।
इनमें रहै सजग कौ जीव, इनतें रहै तसु त्रिभुवन पीव ॥५२॥

कवि ने इस कृति के रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया है। केवल अन्त में अपना नामोल्लेख करके ही कृति को समाप्त कर दिया है—

अंतंकरन जो सुधि होय, जिन धरमी अभिराम ।
थोरी बुद्धिप्रकास तें, भाषी दौलतराम ॥

८ सिद्ध पूजाष्टक :

यह कवि की पूजा विषयक कृति है; जिसमें सिद्ध परमेष्ठियों की पूजा लिखी गयी है। इसमें १२ पद्य हैं। यह पूजाष्टक बिना आह्वानन के है तथा प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् जल चढ़ाने का पद्य है, इसी तरह अन्त में अर्घ के पश्चात् जयमाला नहीं दी गयी है। अन्तिम दो पद्य

१. महावीर भवन, जयपुर के संग्रह में गूढक। सं० १०८१ वे. सं.
१५५० में संग्रहीत।

निम्न प्रकार है—

अरघ करौ उल्लाह सौ, नमौ आठौ अंग निवाय ।
आनन्द दीनतराम कौ, प्रभु भौ भौ होइ सहाय ॥११॥
च्यार ग्यान घर नहि देखै, हम देखै सरधावंत ।
जानै मानै अनुभवे, तुम राखौ पास महंत ॥ अर्थम् ॥

६ पुण्यास्त्रव कथाकोश :

कथाओं के माध्यम से जन सामान्य में नैतिकता एवं सदाचार को प्रोत्साहन देना देश की प्राचीन परम्परा रही है । इस दृष्टि से लिखा हुआ कथा-साहित्य संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि सभी भाषाओं में मिलता है । जैनाचार्यों ने अपने कथा साहित्य में नैतिकता एवं सदाचार के प्रयास को सर्वाधिक प्रमुखता दी और देश की प्रायः सभी भाषाओं में विशाल कथा साहित्य का निर्माण किया । पुण्यास्त्रव कथाकोश, व्रतकथाकोश, आराधना कथाकोश, कथाकोश आदि नामों से उन्होंने सैकड़ों कथाएँ लिखी और बालकों, युवकों एवं पाठकों में स्वाध्याय के प्रति गहरी रुचि पैदा की तथा बुराईयों से बचते हुये शिष्ट जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी ।

‘पुण्यास्त्रव कथाकोश’ को सर्व प्रथम मुमुक्षु रामचन्द्र ने संस्कृत भाषा में लिखा था । इसकी कथाएँ जैन समाज में काफी लोकप्रिय हैं । कविवर दीनतराम ने इन्हीं कथाओं को हिन्दी भाषा में निबद्ध करके हिन्दी भाषा भाषी पाठकों के लिए एक महाद् व्यवसर उपस्थित किया । कथाकोश में ५६ कथाएँ हैं । मुमुक्षु रामचन्द्र के कथाकोश की प्रशंसा कवि ने निम्न प्रकार है—

पुण्यास्त्रव की कथा रसाल, पूजादिक अधिकार विसाल ।
षट् अधिकार परम उत्किष्ट, छप्पन कथा मध्य है मिष्ट ॥१॥
आदिपुराणदिक जे कह्या, अभिप्राय तसु यामै लह्या ।
आचारिज जिम करि अभिलाष, लिखी कथा संस्कृत भाष ॥२॥

×

×

×

रामचन्द्र मुनि अति परवीन, कथा कोश पुण्यास्त्रव कीन ।
तितकी कहा बडाई करौ, बंदन करि निज उर में धरी ॥१०॥

दौलतराम युवावस्था में पदार्पण करते ही किसी कायं वश जब आगरा गये, तब उन्होंने वहां पुण्यालव कथाकोश सुना । सुनकर उन्हें अत्यधिक आनन्द आया और अत्यधिक रुचि के साथ उन्होंने इसकी भाषा टीका लिखी । काव्य-रचना में पांव रखने का उनका यह प्रथम अवसर था । इसलिए उन्होंने अत्यधिक ध्यान पूर्वक इसकी भाषा टीका लिखी और संवत् १७७७ भादवा सुदी पंचमी शुक्रवार के शुभ मुहूर्त में उन्होंने इसे पूर्ण करके हिन्दी भाषा भाषी पाठकों को भेंट किया ।

संवत् सत्रहसै विख्यात, ता परि धरि सत्तरि अरु सात ।

भादव मास कृष्ण पक्ष जानि, तिथि पांचै परवो परवांनि ॥२८॥

रवि सुत कौ पहिलौ दिन जोय, अरु सुर गुरु के पीछे होय ।

वारैह गनि लीज्यो सही, ता दिन समापत लही ॥२९॥

रचना का प्रमुख कारण :

कवि के आगरा जाने पर उन्हें वहां संचालित अध्यात्म शैली में जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ । इस शैली के जिन प्रमुख सदस्यों के नाम दौलतराम ने गिनाये हैं; उसमें सर्व प्रथम कविवर भूवरदास का उल्लेख आता है, जिनके लिए लिखा गया है कि वे स्याहगंज में रहते थे तथा जो जिन स्मरण एवं पूजन में लगे रहते थे और अपने अशुभ कर्मों को नष्ट किया करते थे । ये कवि भूवरदास वे ही हैं जिन्होंने संवत् १७८६ में आगरा में 'पार्ष्वपुराण' की रचना की थी और जिन्होंने अपने आगका "आगरे में बाल बुद्धि भूधर खण्डेलवाल" पंक्तियों से परिचय दिया था । इनके अतिरिक्त सदानन्द, अमरपाल, बिहारीलाल, फतेचन्द, चतुर्भुज आदि उस शैली के प्रमुख सदस्य थे, जो वहां आकर परस्पर चर्चा किया करते थे ।

भूधरदास जिनधर्मी ठीक, रहै स्याहगंज में तहकीक ।

जिन सुमरिन पूजा परवीन, दिन प्रति करै असुभ कौ छीन ॥१५॥

हेमराज साधर्मी भलै, जिन वच मानि असुभ दल मलै ।

अध्यात्म चन्चा निति करै, प्रभु के चरन सदा उर धरै ॥१६॥

सदानन्द है आनन्द मई, जिन मत की आज्ञा तिह लही ।

अमरपाल भी यामै लिख्यो, परमागम को रस तिन चख्यो ॥१७॥

लाल बिहारी हैं नित सुनै, जिन आगम को नीकें मुनै ।
फतेचंद है रोचक जीके, चरचा करै हरष घरि जीकें ॥१८॥
चत्रभुज साधरभी जोर, धुकी भक्ति जसु प्रभु की वोर ।
मिलै आगरै कारन पाय, चरचा करै परस्पर आय ॥१९॥

दोलतराम को मुख्य प्रेरणा ऋषभदास से प्राप्त हुई थी और उनके उपदेशों से धर्म के प्रति श्रद्धा एवं साहित्य निर्माण के प्रति रुचि पैदा हुई थी ।

रिषभदास उपदेस सौ, हमैं भई परतीति ।

मिथ्यातम को त्यागि कै, लगी धर्म सौ जीति ॥२१॥

पुण्यास्त्रव कथाकोश में जिन कथाओं का वर्णन है, जो सभी मुमुक्षु रामचन्द्र के पुण्यास्त्रव, कथाकोश के आधार पर है । सभी कथाओं को सरस एवं रोचक शैली में लिखा गया है । कथाओं की तालिका निम्न प्रकार है:—

१. जिनपूजाव्रतकथा, २. महाराक्षस विधाधर कथा, ३. मेढक की कथा, ४. भरत कथा, ५. रत्नशेखर चक्रवर्ती कथा, ६. करकण्डु कथा, ७. वज्रजंघ चक्रवर्ती कथा, ८. श्रेणिक कथा, ९. पंच नमस्कार मंत्र कथा, १०. महाबली कथा, ११. भामण्डल कथा, १२. यन्त्रराजा की कथा, १३. सुकुमाल मुनि कथा, १४. भीम केवली कथा, १५. चाण्डाल कूकरी कथा, १६. सुकोशल मुनि कथा, १७. कुवेरु प्रियाश्रेष्ठी कथा, १८. मेघकुमार कथा, १९. सीता जी की कथा, २०. रानी प्रभावती कथा, २१. राजा वज्रकरण कथा, २२. काई नीली कथा, २३. चाण्डाल कथा, २४. ताम्रकुमार कथा, २५. भविष्यदन्त कथा, २६. अशोक रोहिणी कथा, २७. नन्दिमित्र कथा, २८. जामवन्ती कथा, २९. जलितघण्टा कथा, ३०. अर्जुन चाण्डाल कथा, ३१. दान कथा (महाराज श्रेणिक सम्बन्धी), ३२. जयकुमार सुलोचना कथा, ३३. वज्रजंघ कथा, ३४. सुकेत श्रेष्ठी कथा, ३५. सागर चक्रवर्ती कथा, ३६. नलनील कथा, ३७. लवकुश कथा, ३८. दशरथ कथा, ३९. भामण्डल कथा, ४०. सुधीमा कथा, ४१. गंधारी कथा, ४२. गौरी कथा, ४३. पद्मावती कथा, ४४. धन्यकुमार कथा, ४५. अंग नीला ब्राह्मण कथा, ४६. पात्र केमरी कथा, ४७. अकलंक देव कथा, ४८. समस्तभद्र कथा, ४९. सतकुमार चक्रवर्ती कथा, ५०. संजय

मुनि कथा, ५१. मधुपिगल कथा, ५२. नागशत कथा, ५३. ब्राह्मण चक्रवर्ती कथा, ५४. अजन चोर कथा, ५५. अनन्तमती कथा, ५६. उदयन कथा, ५७. रेवती रानी कथा, ५८. सेठ सुदर्शन कथा, ५९. बारिखेरा मुनि कथा, ६०. विष्णुकुमार मुनि कथा, ६१. बंजकुमार कथा, ६२. प्रीतिकर कथा, ६३. सत्यभामा पूर्वभव कथा, ६४. श्रीपाल चरित्र कथा, ६५. जम्बू स्वामी कथा ।

उक्त ५६ कथाओं के प्रतिरिक्त ६ लघु कथाएँ प्रमुख कथाओं में आ गयी हैं जिससे उनकी संख्या ६२ हो गयी है । इस प्रकार पुण्यालव कथाकोश—कथाओं का वास्तव में कोश ग्रन्थ है । जिनसे जीवन निर्माण की शिक्षा मिलती है । प्रत्येक कथा कहने का मुख्य उद्देश्य कथा नायक के जीवन का वर्णन करने के अतिरिक्त नैतिकता, सदाचार और अच्छे कार्यों को करने की परम्परा को जन्म देना है । साथ ही ये कथाएँ कर्म सिद्धान्त का भी मुख्य रूप से प्रतिपादन करती हैं । जैसा हम करेंगे—उसी के अनुसार हमें परिणाम भुगतना पड़ेगा । इन सभी कथाओं के नायक भारतीय संस्कृति के महापुरुष हैं और इन्हीं महापुरुषों की जीवन गाथा से ये कथाएँ अधिक निखर पड़ी हैं । कुछ कथाएँ ऐसी भी हैं, जिन पर कितने ही काव्य, चरित एवं रास लिखे गये हैं और उन्हीं को कवि ने संक्षिप्त रूप में इस कृति में प्रस्तुत किया है । ऐसी कथाओं में—नागकुमार, भविष्यदत्त, श्रेणिक, जयकुमार सुलोचना, शन्यकुमार, प्रीतिकर, श्रीपाल एवं जम्बूस्वामी की कथाओं के नाम लिये जा सकते हैं ।

लोकप्रियता

पुण्यालव कथाकोश समस्त जैन समाज में अत्यधिक प्रिय कृति के रूप में समाहत है । ऐसा कोई शास्त्र भण्डार नहीं जिसमें इस कथाकोश की दो चार प्रतियाँ नहीं मिलती हो । स्वाध्याय प्रेमियों के लिए इस कथाकोश का स्वाध्याय आवश्यक मना जाता है । हिन्दी में इससे पूर्व इतकी बड़ी कृति किसी भी विद्वान् के द्वारा नहीं लिखी गयी थी । इसलिए देश के अहिन्दी भाषा भाषी प्रदेशों में भी इस कथाकोश का स्वाध्याय करने के लिए सैकड़ों हजारों व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी । कवि को इस कृति का चारों ओर जोरदार स्वागत हुआ और देश के कोने-कोने में इसका स्वाध्याय होने लगा । जयपुर के पाटोदी के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में इसकी एक प्रति संवत् १७८८ मंगसिर बुदी १३ रविवार के दिन की लिखी हुई है । जिसकी प्रतिलिपि अहमदाबाद में हुई थी । इस पाण्डुलिपि से स्पष्ट है कि गुजरात में भी इसकी प्रतियाँ लिखी जाती थी और उनको ग्रन्थ भेजा जाता था ।

भाषा :

कवि द्वारा पुण्यास्रव कथाकोश की रचना करीब २५० वर्ष पूर्व आगरा में की गयी थी । उस समय आगरा जिला ब्रज भाषा का केन्द्र था लेकिन वहां खड़ी बोली का प्रचलन एवं लेखन भी प्रारम्भ हो गया था । इस कथाकोश की भाषा खड़ी बोली के अधिक निकट है । यहां इस कथाकोश में से चार उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं जिससे पाठकगण इस कृति की भाषा का अच्छी तरह पता लगा सकेंगे ।

एक दिन राजा सिकार जाय छौ । राह में आताप नाम जोग धरया जिसोधर मुनिराज देख्या । कोप करि राणी का गुर जाणि कुकरा छोड्या । वं स्थान नमस्कार करि जाय बैठ्या । जब देखि मुनि का गला मै मुबो सांभ नाख्यो तीहीं विरियां सातवां नरक की भाय बांधी । चौथे दिन राति नै राणी नै कहीं । तब चेलना कही महा पाप कीयो । आतमां नै नरक में बोयी । या कहि महा दुःख कीयो । राजा कहीं राणी वं कोई दूरि करिवा सकै न छै चेलणां कही महामुनि वोन करै । अर यो वे करै तो ये मुनि नहीं ।

पत्र सं० २१

× × ×

नागकुमार जी पंचमी को उपवास लीयो । अर विधि पूछी सो साधक कहे छै । काशुण कै महीनै तथा आषाढ़ काती कै महीनै सुदी ४ नै पवित्र होय पूजाकरि शास्त्र सुणि । साधु नै विधिपूर्वक आहार के पाछै आप एकाभुक्त कीजै । ठामि भात पाणि ले सकल संसारी धन्वो छोडि धरम कथा करि दिन पूरो कीजै । रात्रि जागरण कीज्ये । प्रभु का चरणों चित लगाजै । पाछै उपवास कै दिन च्यार प्रकार आहार कपाय को त्याग करि विषय स्यों पाइ सुख होय ।

पत्र सं० ६५

× × ×

जंबूद्वीप पूर्व सिंदूर पुष्कालवती देस । पुंडरीकणी नगरी विषे राजा वसुपाल श्रीपाल । तिहु नगरी बाहरी सिवंकर उद्यान विषे भीम केवली को समोसरण आयी । तैं खजरवती सुभगा रतिसेना सुसीमा ए चारि बितरी आप केवली नै पूछती हुई । हे प्रभु महां को पति कोण हवेसी ।

पत्र सं० ११८

× × ×

“मालव देस उजेरणी नगरी विषै राजा अपराजित रांणी विजयी त्योंकें विनयश्री नाम पुत्री हुई । हस्तिशीर्षपुर के राजा हरिषेण परणी । एक दिन दंपति वरदत्त मुनि नै आहारदान देता हुआ । पाछें बहुत कालतांड राज्य कीया । एक रात सज्जाग्रह विषै विनयश्री पति सहित सूती थी । अगर का धूप का धूम करि राजा रांणी मृत्यु प्राप्ति हुआ । मध्य भोगभूमि विषै उपज्या । तहां सौ विनयश्री को जीव चंद्रमा के देवी हुई ।” पृ० सं० १५७

इन उदाहरणों को पढ़ने से ज्ञात होगा कि कवि की भाषा कितनी निखरी हुई है । यद्यपि कवि के राजस्थान निवासी होने से इस पर कुंठारी भाषा का भी कुछ प्रभाव है तथा कहीं-कहीं वज्र भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है लेकिन फिर भी कथाकोश को हम खड़ी बोली की ही कृति कहेंगे । इसमें विभिन्न नामों का पूर्णतः शुद्ध रूप में व्यवहार किया गया है । इनका तद्भव रूपान्तर नहीं किया गया है । ऐसे सभी शब्द तत्सम हैं—वद्धमान स्वामी, बारिषेण, चम्पापुरी, भरतक्षेत्र, रामदत्ता जम्बूद्वीप मान्यखेट, पात्रकेसरी, अकलंक, निःकलंक । भाषा टीका में ‘में’ के स्थान पर ‘विषै’ शब्द का प्रयोग हुआ है । ज्योंकें (१३५) उतरया (१३४) देवालागी (१३३) । लेकिन निम्न उदाहरणों से ज्ञात होगा कि कवि ने कथा कोश को कितनी परिष्कृत भाषा में निबद्ध किया था ।

(क) “पीतकर जी स्त्री सहित नाव में बैठा तब क्यों वस्तु भूलि आया था । सो वै कलेवा निमित्त नगर में आया तब नागदत्त पापी जिहाज चलाय दीनी ।” पृ० सं० २०७

(ख) एक दिन रात्रिवंत सिद्धकूट चैताले बंदकानं गयो थो सो हरिचन्द्र मुनिकनं धर्म श्रवण करि दिगम्बर हुवो । सो एक दिन वन विषै भुका में कायोत्सर्ग तिष्ठै थो । दुर्घर तप करि अत्यन्त सीसा सरीर देख्यो ॥

पृ० सं० १६०

(ग) “अर सातसैं अंग रक्षक जो कोढ़ पीडित छ्या सो निरोग हुआ । अहो सिद्धचक्र की पूजा करिवा थकी उत्कृष्ट फल नै कल्पवृक्ष की बेलि की नाई ईश्वर में दे छैं ।” पृ० सं० २१७

अभी तक ‘पुष्पाक्षर कथाकोश का’ भाषा की दृष्टि से अध्ययन नहीं हुआ है जिसकी अत्यधिक आवश्यकता है । हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास में इस कृति का पर्याप्त महत्व है । दि० जेन साहित्य में इससे पूर्व इतनी

बड़ी भाषा टीका किसी विद्वान् द्वारा नहीं लिखी गई थी। इसलिए कवि के इस प्रथम प्रयास का सब ओर से मर्मस्पर्शी स्वागत हुआ और देश के एक छोर से दूसरे छोर तक इसका स्वाध्याय होने लगा। यहाँ तक यह ग्रन्थ गुजरात एवं महाराष्ट्र में भी लोकप्रिय बन गया। जयपुर के पाटोदी के मन्दिर के शास्त्र-भण्डार में इसकी एक प्रति संवत् १७८८ मंगसिर सुदी १३ रविवार के दिन की लिखी हुई है, जिसकी प्रतिलिपि अहमदाबाद में हुई थी। इसलिए इस ग्रन्थ की भाषा ऐसी है जो तत्कालीन भाज में अत्यधिक लोकप्रिय रही।

१० पद्य पुराण :

पुष्पाक्षय कथा कोण की रचना के पश्चात् कवि की यह दूसरी विशाल गद्य कृति है; जिसने अपने युग में तुलसीदास की रामायण के समान समाज में जैन रामायण के रूप में सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। इसका घर-घर एवं मन्दिर-मन्दिर में स्वाध्याय होने लगा था और जिसकी लोकप्रियता ने उस समय के सभी रिकाखें तोड़ दिये थे। जयपुर आने के पश्चात् कवि ने इसकी रचना कब से प्रारम्भ की इसका तो इसमें कोई उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन इसकी रचना समाप्ति काल सं. १८२३ है। उस समय महा पं० टोडरमल की गद्यात्मक कृतियों की ख्याति उच्च स्तर तक पहुँच चुकी थी तथा जनता की इच्छा भी पद्यात्मक कृति की अपेक्षा गद्यात्मक कृति को अधिक मनोयोग से पढ़ने की थी। इसलिए दोलराम ने भी गद्यात्मक कृतियों की ओर विशेष ध्यान दिया।

‘पद्य पुराण’ कवि की मूल कृति नहीं है। किन्तु १०-११वीं शताब्दी के महाकवि रविनेशाचार्य की संस्कृत कृति का हिन्दी भाषानुवाद है। लेकिन कवि का लेखन शैली एवं भाषा पर पूर्ण अधिकार होने से यह मानों उसकी स्वयं की मूल रचना के समान लगती है। इसमें १२३ पर्व हैं जिनमें जैन धर्म के अनुसार ‘‘रामकथा’’ का विस्तार से वर्णन हुआ है। भगवान महावीर के समयसरण में जाने के पश्चात् राजा धेरिक राम कथा को सुनने की इच्छा करते हैं और तब भगवान महावीर रामकथा पर विषद व्याख्यान करते हैं। राम कथा के साथ में राक्षस बणी एवं बानर बणी विद्यावरों का, रावण का जन्म, अंजना सुन्दरी और पवनजय का विवाह वर्णन, हनुमान जन्म कथा, रावण को मरु प्राप्त एवं राज्यभिवेक और इसके पश्चात् रामकथा की पुनः वर्णन किया गया है। जिसमें राम-लक्ष्मण को ऋद्धि-प्राप्त, राम को लोकापवाद की चिन्ता, सीता का वन में विलाप, सीता को लव-कुश की

प्राप्ति, एवं उनका लक्ष्मण के साथ युद्ध, सीता की अग्नि परीक्षा आदि विविध वर्णनों के पश्चात् राम निर्वाण प्राप्त करते हैं और इस प्रकार अत्यधिक सुन्दर ढंग से तथा भक्ति पूर्वक राम कथा की समाप्ति होती है । इस कथा के प्रारम्भ में कवि ने निम्न शब्दों में राम के जीवन की प्रशंसा की है—

‘कैसे हैं श्रीराम, लक्ष्मी कर अलिगित है हृदय जिनका और प्रफुल्लित है मुख रूपा कमल जिनका, महापुण्याधिकारी हैं, महाबुद्धिमान हैं गुणन के मन्दिर और उदार हैं चरित्र जिनका, केवल ज्ञान के ही गम्य है ।’

महाकवि दीलतराम ने “पद्म पुराण” को हिन्दी गद्य में लिख कर के स्वाध्याय प्रेमियों के लिए महान् अवसर प्रदान किया । यही नहीं हिन्दी के पाठकों का गद्य में राम कथा देकर एक नवीन परम्परा को जन्म दिया । अब तक जितनी भी रामायण लिखी गयी थीं वे सब पद्य में ही थीं । महाकवि जिमलसूरि ने प्राकृत में, महाकवि स्वयम् ने अपभ्रंश में, महाकवि बाल्मीकि ने संस्कृत में, रविशैलाचार्य ने संस्कृत में जो रामकथाएं लिखी, वे सब पद्य में ही थीं; लेकिन दीलतराम ने इसे गद्य में निबद्ध कर उसकी लोकप्रियता में वृद्धि की तथा उसे जैन समाज के घर-घर में पढ़ी जाने वाली कथा बना दी ।

“पद्म पुराण” की भाषा खड़ी बोली के रूप में है । यद्यपि कुछ विद्वानों ने इसे कूटारी भाषा के रूप में स्वीकार किया है लेकिन वास्तव में कवि ने ब्रजभाषा प्रभावित खड़ी बोली के रूप में इसे प्रस्तुत किया है । जो अत्यधिक मनोरम एवं हृदयग्राही बन गई है । कहीं तो इसकी भाषा इतनी आलंकारिक बन पड़ी है, मानों वह हिन्दी की कादम्बरी हो । कवि ने इसे विभिन्न उपमानों से संवारा है ।

“पद्म पुराण” की रचना में साधर्मि भाई रायमल का अनुरोध विशेष रूप से उल्लेखनीय है; जिसका स्वयं कवि ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है—

रायमल साधर्मि एक, जाके घर में स्वपर विवेक ।

दयावंत गुणवंत सुजान, पर उपकारी परम निधान ॥

दीलतराम सु ताको मित्र, तासों भाष्यो वचन पवित्र ।

पद्मपुराण महाशुभ ग्रंथ, तामें लोक शिखर को पंथ ॥

भाषा रूप होय जो येह, बहुजन वांच कर अति नेह ।

ताके वचन हिये में धार, भाषा कीनी मति अनुसार ॥

११. आदिपुराण :

'आदि पुराण' संस्कृत में आचार्य जिनसेन की रचना है। काव्य, भाषा एवं वर्णन की दृष्टि से यह रचना संस्कृत भाषा की अद्भुत कृति है। इसमें ४७ पर्व हैं तथा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र सम्राट भरत तथा महायोगी बाहुबलि आदि का जीवन विस्तृत रूप से वर्णित है। जैन समाज का यह एक अत्यधिक प्रिय ग्रन्थ है; जिसका स्वाध्याय करना प्रत्येक श्रावक एवं श्राविक के लिए आवश्यक माना है। त्रेसठ शलाका महापुरुषों का जीवन जानने के लिए यह एक महत्वपूर्ण कृति है। ऐसे पुराण की भाषा टीका का कार्य महाकवि दौलतराम ने अपने हाथ में लेकर हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए महान् उपकार का कार्य किया। कवि ने जब संस्कृत में रचित आदि-पुराण का स्वाध्याय एवं प्रवचन किया तो सभी श्रोताओं ने विशेषतः दीवान रतनचन्द ने उनसे इस पुराण की भाषा-टीका करने का अनुरोध किया। कुछ अन्य श्रोताओं एवं स्वाध्याय प्रेमियों ने भी इसके लिए आग्रह किया। उस समय अय्यपुर में स्व. भाषा का अत्यधिक प्रभाव था। महाविद्वान् टोडरमल का प्रभाव परमोत्कर्ष पर था। इसलिए कवि को तत्कालीन स्वाध्याय प्रेमियों के आग्रह को मानना ही पड़ा और उन्होंने इसकी भाषा-टीका प्रारम्भ कर दी। संवत् १८२३ में पद्यपुराण की रचना के ठीक ७ मास पश्चात् ही उन्होंने यह एक और विशाल गद्य कृति पूर्ण की।

अठारह सै सम्बत्ता ता ऊपर चौबीस ।

कृष्ण पक्ष आसोज की पुष्य नक्षत्र वरीश ।

शुक्रवार एदादशी पूरण भयो ये ग्रन्थ ॥

इस ग्रन्थ के निर्माण की प्रेरणा में पं० टोडरमल के दोनों पुत्र हरिचन्द एवं भुमानीराम तथा देवीदास गोधा का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। कवि ने भाषा टीका के प्रारम्भ में अपनी जिस रूप में लघुता प्रगट की है। वह उल्लेखनीय है।

ता परि भाषा वचनिका, भाषूँ मैं मति मन्द ।

लेहु सुधारि सूर्यडिता, ज्ञान रूप निर्द्वन्द ॥

महिमा महापुराण की, मो पै कही न जाय ।

जानें श्री जिन केवली, तीन भुवन के राय ।

निज मति माफिक कछू मैं, भाषूँ भाषा रूप ।

सुनहु भव्यजन भावघरि, भजहु भजहु जिन रूप ॥

आदि पुराण विशाल काव्य ग्रन्थ है लेकिन कवि ने भाषा टीका की एक ही शैली को अपनाया है। आचार्य जिनसेन के क्लिष्ट शब्दों का अर्थ जितने सरल, बोधगम्य शब्दों में किया है; वह कवि के संस्कृत एवं हिन्दी के अगाध ज्ञान का द्योतक है। पुराण की सरस शैली होने के कारण इसका शीघ्र ही सारे देश में प्रचार हो गया और सैकड़ों स्वाध्याय प्रेमियों ने इस ग्रन्थ के स्वाध्याय करने के लिए ही हिन्दी भाषा सीखी।

१२ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय :

यह आचार्य अमृतचन्द्र की कृति है जो संस्कृत भाषा में निबद्ध है। यह ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी सागर में सागर का कार्य करता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसमें जैन धर्म की तात्त्विक गम्भीरता का वर्णन किया है। जो उनके महापाण्डित्य का दिग्दर्शन कराता है। इसकी हिन्दी टीका जयपुर के ही महापण्डित टांडरमल ने प्रारम्भ की थी, जो महाकाव्य दीलतराम के समकालीन विद्वान थे। लेकिन उत्तका असमय में ही स्वर्गवास होने के कारण वे इसे पूरी नहीं कर पाये। तब तत्कालीन जयपुर समाज के प्रमुख दीवान रतनचन्द्र ने दीलतराम से उसे पूर्ण करने का अनुरोध किया। दीलतराम ने संवत् १८२७ में मंगसिर सुदी २ के पावन दिन इस ग्रन्थ की भाषा टीका पूर्ण की—

तां सु रतन दीवान ने, कही प्रीत कर एह
करिये टीका पूरण; उरधर धर्म सनेह ।
तब टीका पूरण करी, भाषा रूप निधान ।
कुशल होय चहु संध को, लहे जीव निज ज्ञान ।
सुखी होय राजा प्रजा, होय धर्म की वृद्धि ।
मिटै दोष दुख जगत के, पावे भविजन सिद्धि ।
अट्टारहसँ ऊपरे संवत् सत्ताईस मास
मार्गशिर ऋतु शिशिर दोयज रजनीश ॥

इसके पहले कवि ने १० टोडरमल के नाम का उल्लेख किया है। जिन्होंने उक्त टीका का प्रारम्भ किया था और उसका कितना भाग शेष रह गया था, इसका भी उल्लेख किया है—

अमृतचन्द्र सुनीन्द्रकृत ग्रंथ आवकाचार,

अध्यात्म रूपी महा आर्या छन्द जु सार ।

पुरुषार्थ की सिद्धि को जाँचै परम उपाय ।

जाहि सुनत भव अम मिटे, आत्म तत्त्व लखाय ।

भाषा टीका ता ऊपर कीनी टोडरमल्ल
मुनिवर कृत बाकी रही ताके माहि अचल्ल ।
ये तो परभव कूँ गये जम्पुर नगर मञ्जार ।
सब साधमीं तब कियो मन मैं यह विचार ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में २२८ श्लोक हैं । इनमें अहिंसा धर्म पर विशेष जोर दिया है । इसके अतिरिक्त पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिखाव्रत के वर्णन के अतिरिक्त राशि भोजन का जबरदस्त निषेध किया गया है ।

महाकवि दौलतराम ने ग्रन्थ के उत्तर भाग की भाषा टीका लिखी । तथा अत्यधिक सरल शब्दों में उसे प्रस्तुत किया ।

“विवेकी पुरुष जो हैं जो गृहस्थ अवस्था में भी संसार से विरक्त होकर सदा ही मोक्ष मार्ग में उद्यमी रहते हैं और वे ही अवसर पाकर शीघ्र ही मुनि पद की धारण करके सकल परिग्रह को त्याग कर निर्विकल्प ध्यान में मग्न होकर पूर्ण रत्नत्रय की मानकर संसार के भ्रमण का उच्छेद कर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति करते हैं”

महापंडित टोडरमल की भाषा ब्रज भाषा को लिए हुए है, अब कि दौलतराम की भाषा खड़ी बोली का रूप लिए हुए है । संस्कृत के दुरूह शब्दों को भी उन्होंने सरल हिन्दी शब्दों में समझा दिया है । कवि ने पहिले श्लोकों की टीका, विषय का स्पष्टीकरण के लिए अर्थ तथा फिर भावार्थ दिया है ।

१३. हरिवंश पुराण :

हरिवंश पुराण ‘पद्मपुराण’ की राम कथा के समान ही कृष्ण कथा है; जिसमें २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के जीवन-चरित के वर्णन के प्रसंग में पूरे महा-भारत के पात्रों के जीवन का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । जैनाचार्यों द्वारा पद्मपुराण के समान अपभ्रंश में स्वयंभू का रिदुणोमिचरिठ तथा संस्कृत में जितसेनाचार्य का ‘हरिवंश पुराण’ दस विषय की प्रमुख रचनाएँ है । दौलतराम ने ऐसे विशाल पुराण की हिन्दी गद्य टीका करके हिन्दी की लोक प्रियता में श्रीवृद्धि का एक और प्रयास किया और उसमें वह पूर्णतः सफल भी रहा । ‘हरिवंश पुराण’ का स्वाध्याय घर-घर होते लगा और अहिन्दी क्षेत्रों में भी उसके स्वाध्याय का प्रचार हो गया । राजस्थान के कितने ही भण्डारों में हरिवंश पुराण की एक से अधिक प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं जो उसके स्वाध्याय के प्रचार को द्योतित करती हैं ।

इस कृति का रचनाकाल संवत् १८२६ चैत्र सुदी पूर्णिमा है । इसकी रचना जयपुर नगर में सम्पन्न हुई थी । यह कवि की अन्तिम कृति है । इसकी रचना की घटना भी बड़ी विचित्र है । कवि के परम मित्र भाई रायमल्ल जब मालवा गये, तब उन्होंने वहाँ की समाज को उनके द्वारा रचित आदिपुराण एवं पद्मपुराण की भाषा-टीका को पढ़कर सुनायी । एक तो भाई रायमल्ल की प्रवचन शैली, दूसरी इन कृतियों की सरसता—दोनों ने वहाँ के श्रावकगणों को आनन्दित कर दिया । उन्होंने इसे बार-बार सुनने की इच्छा प्रकट की । इसका फल हुआ कि इन दोनों ग्रन्थों का मालवा में बराबर स्वाध्याय होने लगा । पर श्रावकों की प्यास और भी जागृत हुई । उन्होंने भाई रायमल्ल से पद्मपुराण के समान हरिवंश पुराण की भी भाषा टीका लिखवाने की प्रार्थना की क्योंकि वे श्रावक दौलतराम की शिष्टता से परिचित हो चुके थे । भाई रायमल्ल को उनकी बात माननी पड़ी । उन्होंने वहीं से दौलतराम को पत्र लिखा कि हरिवंश पुराण की भी ऐसी भाषा टीका लिखो, जो सब को अच्छी लगे । पत्र लेकर आने वाले साधर्म्य भाईयों ने भी महाकवि से भाषा-टीका करने का अनुरोध किया और शीघ्र ही इस महान् कार्य को पूरा करने की प्रार्थना की; क्योंकि शरीर का पता नहीं कि वह कब थोखा दे जावे । वैसे भी दौलतराम उस समय काफ़ी वृद्ध हो चुके थे । जयपुर के तत्कालीन दीवान रतनचन्द और उनके भाई बिरधीचन्द ने भी पंडितजी से आग्रह किया । फिर क्या था—महाकवि इस कार्य में जुट गये । उन्होंने दो शीघ्रलिपि लेखक सीताराम एवं सवाईराम को अपने साथ लिया । और शीघ्र ही संवत् १८२६ की चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के शुभ दिन इस महान् ग्रन्थ की भाषा को पूर्ण कर दिया । इस ग्रन्थ के समापन के साथ ही मानों कविकी साहित्य—साधना सकल हो गयी । यह उनके जीवन की अन्तिम कृति थी । इसे प्राप्त कर समूचा साहित्यिक जगत तिहाल हो गया । १६ हजार श्लोक प्रमाण गद्य कृति लिखना कितनी असाधारण साहित्यिक उपलब्धि थी ! इसका अनुमान भी करना आसान कार्य नहीं है ।^१

भयो कौन विधि ग्रन्थ यह, भाषा रूप विशाल ।

सो तुम सुनहु महामती, जिन आज्ञा प्रतिपाल ॥१॥

जम्बूद्वीप मंभार यह, भरतक्षेत्र शुभ थान ।

ताके आरिज खंड में, मध्य देश परवान ॥२॥

अस्तुतः हरिवंश पुराण हिन्दी भाषा की महान निधि है। कवि ने जिस तरह आलंकारिक भाषा में कथा का वर्णन किया है, वह आज से २०० वर्ष पूर्व किसी विद्वान के सामर्थ्य के बाहर था। पद्यकार तो बहुत थे; पर मद्य में और वह भी सलित भाषा में कथा का वर्णन प्रत्येक के वश की बात नहीं थी।

नगर सवाई जयपुरा, जहाँ मिले यह न्यास ।
 राजा पृथिवीसिंह है, जो कह्यवाहा जाति ॥३॥
 शिरोभाग राजन में, ठूँडाहड पति सोय ।
 ताके मंत्रो आधका, और न्यातहु होय ॥४॥
 बहुत बसें जैनी जहाँ, जीव दया व्रत पाल ।
 पूजा करे जिनेंद्र की, आगम सुने रसाल ॥५॥
 बहुत जीव श्रद्धावती, चरचा मांहि सुजान ।
 ग्रन्थ अध्यातम आगमा, सुने बहुत धर कान ॥६॥
 संस्कृत भाषामई, भये जु आदिपुराण ।
 पद्यपुराणादिक बहुरि, भाषा भये निधान ॥७॥
 रायमल्ल के रुचि बहुत, व्रत किया परवीन ।
 गये देश मालव विषै, जिन शासन लवलीन ॥८॥
 तहां सुनाये ग्रन्थ उन, भाषा आदिपुराण ।
 पद्यपुराणादिक तथा, तिन को कियो बखान ॥९॥
 सब भाई राजी भये, सुनकर भाषा रूप ।
 तिनके रुचि अति ही बढी, घारी कथा अनूप ॥१०॥
 रायमल्ल से सवन ने, करी प्रार्थना येह ।
 करवाओ हरिवंश की, भाषा बहु गुण मेह ११
 आगे दौलतराम ने, टीका भाषा मांहि ।
 करी सो ही, यह अब करे, यामें संशय नांहि ॥१२॥
 तब भेजी पत्री यहां, रायमल्ल धर भाव ।
 लिखो जु साधर्मिण को, करण धर्म प्रभाव ॥१३॥

तथा जु दौलतराम को, मल्ल लिखी वह बात ।
 करहु भाषा हरिवंश की, सबके चित्त सुहात ॥१४॥
 सब सार्धमिन मिले जब, श्री चैत्यालय मांहि ।
 भाषी दौलतराम से, जिन श्रुतसे अध जांहि ॥१५॥
 जिनवानी रस अमृता, जा सम सुधा न और ।
 जाकर भव भरमण मिटे, पावे निश्चल ठौर ॥१६॥
 यामैं विलम्ब न कीजिये, करो शीघ्र ही येहु ।
 सफल होहि जाकर सही, उत्तम मिनवा देहु ॥१७॥
 रत्नचंद दीवान एक, भूपत के परधान ।
 तिन के भाई शुभ मती, विधीचंद परवान ॥१८॥
 सो दौलत के मित्र अति, भये जु उद्यम रूप ।
 तिन के आग्रहते यह, टीका भई अनूप ॥१९॥
 दौलत ने अति भाव धर, भाषा कीनी ग्रन्थ ।
 महा शान्त रस को भरो, सुगम मुक्ति को पंथ ॥२०॥
 सीताराम जो लेखका, और सबाईराम ।
 तिन पर लिखवायो जु यह, बहुत कथा को धाम ॥२१॥
 ताकर सुधरे भव यह, अरु पावे शुभ लोक ।
 होये अति आनन्द अरु, कबहु न उपजे शोक ॥२२॥
 सुखी होहु राजा प्रजा, होहु सकल दुःख दूर ।
 बढौ धर्म जिनदेव को, जाहि बखाने सूर ॥२३॥
 न्याति खंडेल जु बाल है, गोत्र कासलीवाल ।
 सुत है आनन्द राम को, बसवे वास विशाल ॥२४॥
 सेवक तरपति को सहो नामसु दौलतराम ।
 ताने यह भाषा करी, जपकर जिनवर नाम ॥२५॥
 अट्टारह सौ संवता, तापर धर गुणतीस ।
 बार शुक्र पून्यो तिथी, चैत मास रति ईस ॥२६॥

पुराण के कितने ही प्रसंग हैं; जिनमें महाकवि ने अपनी सारी लेखनी को उँडेल कर रख दिया है। वरुण शैली सरस एवं आकर्षक है। कवि ने प्रारम्भ में ग्रन्थ की उत्पत्ति तथा उसके पश्चात् अनुक्रमणिका दी है जो हरिवंश पुराण का संक्षिप्त सार है। मात्र इस सार को ही पढ़कर कोई भी इस महात् कृति के विषय वरुण से परिचित हो सकता है। अन्त में स्वयं महाकवि ने भी “यह हरिवंश पुराण का विभाग संक्षेप कर रहा है।”—लिख कर अपने प्रतिपादित ग्रन्थ के विषय में जानकारी दे दी है। यहाँ एक गद्यांश प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे हरिवंश-पुराण की गद्य शैली का अनुमान हो सकेगा—

भावार्थः—माता ही स्वामिनी है अरु निद्रा ही सखी है सो इस निद्रा सखी ने ऐसी जानी जो मोह कर मेरी स्वामिनी आनन्द रूप शुभ स्वप्न के दर्शन को प्राप्त भई सो मैं कृतार्थ भई। सेवक का यही धर्म है जो स्वामी को आनन्द उपजावे इसी कर सेवक को कृतार्थता है ॥७६॥ माता तो आप ही जाग्रतरूप है परन्तु दिक्कुमारी जगाने के अर्थ माता को ऐसे शुभ शब्द कहती भई सो ये शब्द केवल मंगल ही के अर्थ हैं। अरु माता तो जाग्रतरूप है देवी कहा शब्द कहे सो सुनो। हे विबुधार्थ कहिये माता ? तू कैंसी है जाना है पदार्थों का रहस्य जिसने सो तू विबुध्यास्व कहिये जान। हे विवर्धने ! कहिये वृद्धि रूपिणी अब तू सबको आनन्द बढा। अरु हे देवी ! विजय लक्ष्मी की स्वामिनी देवी पूर्ण हैं मनोरथ जिसके सो तू विजय के भाव को प्राप्त हो ॥१७॥ हे माता ! अब यह चन्द्रमा तुम्हारे मुखरूप चन्द्र को देख कर लज्जावंत होय प्रभा रहित होय गया है तुम्हारा मुख निष्कलंक अरु गुण कर कहिये गुणों की खान अरु चन्द्रमा दोषी कहिये रात्रि उसका करणद्वारा है उससे दोषकर अरु कलंकी है ॥७६॥ अरु दीपों की ज्योति मंद भासे है सो मातों ये दीपक अपने प्रकाश को हँसे हैं जो यह जितेश्वर के माता पिता का बृह नखों के उद्योत समान चांद सूर्य का प्रकाश नहीं यहाँ हम प्रकाश करें इस

ता दिन यह पूरण भया, श्री हरिवंश पुराण ।

पढो सुनो अरु सरदहो, पंडित करो बखान ॥२७॥

श्री हरिवंश पुराण की, भाषा सुनह सुजान ।

सकल ग्रन्थ संख्या भई, उन्तीस सहस्र प्रमाण ॥२८॥

दो हजार अरु चार सौ, ता ऊपर पंचास ।

संवत् बीर जितेशका, कियो ग्रन्थ परकास ॥२९॥

समान मूढता कहाँ ॥८०॥ अब संध्या दुष्ट की मित्रता समान निष्फल डिगती भासे है कैसी है दुष्ट की मित्रता अत्यन्त सुख विषे है राग जिसका अर क्षण मात्र में राग मिट जाय है अर यह सांझ भी प्रथम तो राग कहिये आरक्तरूप भासे है । अर क्षण मात्र में आरक्तरता मिट जाय है ॥ भावार्थ—अब संध्या की भी ललाई मिटे है ॥८१॥ अब सूर्य की प्रभा सज्जन की मित्रता समान बढ़े है कैसी है मित्रता अवश्य कहिये सफल है अर्थ जिस विषे अर कैसी है सूर्य की प्रभा सफल है सकल कार्य जिस विषे ॥८२॥

१४ परमात्म प्रकाश भाषा—

“परमात्म प्रकाश” आचार्य योगीन्द्र की (६-७वीं शती) कृति है जिसकी रचना का प्रमुख उद्देश्य प्रभाकर भट्ट के उद्बोधन के लिए रहा था । अष्टांश भाषा में लिखे यह ग्रंथ अष्टात्म विषय का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है । यह दोहा स्तम्भ में लिखा गया है, जिसकी संख्या ३४५ है । इसके दो अधिकार हैं; जिनमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है । यह जैन साहित्य की एक लोकप्रिय कृति रही है ।

महाकवि दौलतराम कासलीवाल ने इस पर हिन्दी में विस्तृत टीका लिखी; जो ६८६० श्लोक प्रमाण है; जैसा कि स्वयं कवि ने निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

‘यह परमात्म प्रकाश ग्रन्थ का व्याख्यान प्रभाकर भट्ट के संबोधने अर्थ श्री योगीन्द्र देव ने किया था ता परि श्री ब्रह्मादेव ने संस्कृत टीका करी । श्री योगीन्द्राचार्य ने प्रभाकर भट्ट संबोधित्वे के अर्थ दोहा तीनस तीयालीस कीए ता परि ब्रह्मादेव ने संस्कृत टीका हजार पांच च्यारि ५००४ कीए ता परि दौलतराम ने भाषा वचनिका का श्लोक अठसठिसंनिवे ६८६० संख्या प्रमाण कीए । श्री योगीन्द्राचार्य कृत मूल दोहा ब्रह्मादेवकृत संस्कृत टीका दौलतराम कृत भाषा वचनिका पूर्ण भई ॥’

कवि ने अपनी भाषा टीका में विषय का प्रतिपादन अत्यधिक बुद्धिमत्ता पूर्ण किया है; जिससे प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी के वह समझ में आ सके । कवि ने इसकी भाषा कब लिखी इसका इसमें कोई उल्लेख नहीं किया किन्तु इस कृति को भी कवि ने उदयपुर रहते हुए ही लिखी थी ऐसा मालूम होता है । क्योंकि जयपुर घाने के वे तो उन्होंने आदिपुराण पद्मपुराण एवं हरिवंश पुराण जैसे विशालकाय ग्रन्थों की रचना करने में संलग्न हो गये थे ।

‘पञ्चमहाप्रकाश’ १ वि भी उक्त इति है तथा तत्त्वार्थसूत्र प्रचलित हिन्दी गद्य का सुन्दर रूप है ।

११ तत्त्वार्थ सूत्र टब्बा टीका—

‘तत्त्वार्थ सूत्र’ जैन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाला सर्वाधिक लोक-प्रिय ग्रंथ है । यह सूत्र रूप में है और आचार्य उमास्वामी विरचित है । इसका रचनाकाल दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है । यह ग्रन्थ दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत है । इस पर संस्कृत में कितनी ही टीकाएँ उपलब्ध हैं और उनमें पूज्यपाद की सवार्थसिद्धि (छठी शती) भक्तलक्ष्मण का तत्त्वार्थराजवातिक (७७७-८३७) एवं विश्वानन्द की श्लोकवार्तिक टीकाएँ (सं० ८१०) सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हैं । हिन्दी में भी कितनी ही टीकाएँ मिलती हैं ।

कविवर दौलतराम ने इस पर टब्बा टीका लिखकर इसके स्वाध्याय के प्रचार में अपना योगदान दिया । कवि ने अध्यायों के अन्त में “इति तत्त्वार्थ-विषये मोक्षशास्त्र ए दशमी अध्याय अर्थ सहित पूरी हुवी और अन्त में दत्त उमास्वामि मुनि विरचित तत्त्वार्थ सूत्र टब्बा सहित समाप्ति”—इस प्रकार अपनी टीका का परिचय दिया है । अर्थ सूत्रों पर दिया गया है तथा कहीं-२ तो पर्याप्त रूप से विस्तृत बन गया है । इसकी एक पाण्डुलिपि श्री दि० जैन मन्दिर पाण्डे भूषणकरण जी, जयपुर के शास्त्र भण्डार में संग्रहीत है । ग्रंथ की टब्बा टीका का एक उदाहरण देखिये—

“अपना पर का उपकार कै अर्थ अपना चित का देना सो दान है । तहां अपना पर का उपकार सो अनुग्रह कहिए सो अपना उपकार तो पुण्य का संचय होना है और पर का उपकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र्य की वृद्धि होना है, सो इन अर्थनितै स्व कहिता धन ताका अतिसर्ग कहिए त्याग सो दान है ।”

१२ स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा टब्बा टीका—

यह प्राकृत भाषा का अपूर्व ग्रन्थ है जिसमें बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है । दौलतराम ने इसी की हिन्दी में टब्बा टीका लिखकर इसके स्वाध्याय के प्रचार को प्रोत्साहन दिया । कवि ने इसकी प्रशस्ति में लिखा है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टब्बा टीका इन्द्रजीत के बोध कराने को लिए संवत् १२२६ की ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन पूर्ण की थी—

सुखी होहु राजा प्रजा, सुखी होई चौसंग ।

पावहु शिवपुर सज्जना, सो पद सदा अलंघ ।

इन्द्रजीत के कारनें, टवाजु बालाबोध ।

भाष्यो दौलतराम ने, जाकर होय प्रबोध ॥

१७ वसुनन्दि श्रावकाचार भाषा—

आचार्य वसुनन्दि का श्रावकाचार प्राकृत भाषा का सुन्दर एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है । इसमें श्रावकों के आचार धर्म का वर्णन किया गया है । महाकवि दौलतराम जब उदयपुर में थे, तभी उन्होंने अपनी शास्त्र सभा में इस श्रावकाचार पर प्रवचन किया था । ग्रंथ प्राकृत में होने के कारण कवि के द्वारा समझाने पर एक बार तो समझ में आगया; लेकिन पुनः उसका स्वाध्याय कैसे किया जावे यह प्रश्न सभी के समक्ष आया । अन्त में शास्त्र सभा के प्रमुख आताश्यों में सेठ बेलजी ने दौलतराम से निवेदन किया कि यदि इस ग्रंथ की टब्बा टीका हो जावे तो इसका स्वाध्याय करने में सभी को सुविधा होगी । बेलजी सेठ का अनुरोध सुनकर कवि इसकी टब्बा टीका करने को सहमत हो गये और उन्होंने शीघ्र ही अपने कार्य को समाप्त कर दिया ।

अब तुम सुनहु भव्य इक वैन, जा विधि टब्बा भयी सुख दें
उदियापुर में कियो दखान, दौलतिराम आनन्द सुत जान ।

वाच्यो श्रावक अत विचार, वसुनन्दी गाथा अधिकार ।

बोले सेठ बेलजी नाम, सुनि नृप मंत्री दौलतिराम ।

टब्बा होय जो गाथा तनौ, पुन्य उपजै जिसकी धनौ ।

सुनि के दौलति बेल सु वैन, मन धरि गायो मारग जैन ।

नंदो बिरधी जिन मत सार, सुख पावो चउसंध अपार ।

दौलति बेल कहो निज बोध, होहु होहु सबको प्रतिबोध ।

टीका काफी विस्तृत है तथा भाषा एवं शैली की दृष्टि से वह काफी अच्छी है ।

१८ सार चौबीसी

यह कवि की पद्यात्मक श्राव्यात्मिक कृति है जिसमें मानव जीवन का, जगत की गतिविधियों का, आत्म स्वभाव का एवं धार्मिक जीवन की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है । इसी के साथ एक रूपात्मक कथा का भी वर्णन मिलता है । एक बार जीवात्मा ने भवसागर से पार उतरने का उपाय अपने

सद्गुरु ने पूछा । इसके उत्तर में इन्होंने बतलाया कि मोह की सुता मायानारी भव जाल से निकलने में सबसे बड़ी बाधा है । इसलिये अपने हृदय से मोह पर विजय प्राप्त करो । कुमित्रों की आज्ञा को मत मानो और ज्ञान की प्रपन्ना प्रधान-मंत्री बनाओ । सुदृढ़ हो अपनी रथों विद्युत् करो । विवेक को पुरोहित और अपनी आत्मशक्ति को ही सेनापति रखो । भगवद् भक्ति के सहारे मोह पर विजय प्राप्त करो तभी जाकर इस भव से मुक्ति मिल सकती है । इसके पश्चात् इस जगत में कौन कौन से पदार्थ सर्वोत्तम हैं उनका भी इसमें वर्णन मिलता है ।

धेनु नहीं सुर धेनु सी, रस अमृत सो नाहि
उदधि न क्षीरोदधि जिसे, पंडित लोक कहाहि ॥८७॥
ऐरावत से गज नहीं, सुरपुर से पुर नाहि ।
वन नहीं सुरवन सारिखो, कीडा रूप लखाहि ॥

७८ वें पद्य में १०३ पद्यों तक इसी प्रकार का वर्णन मिलता है । पूरी रचना १०४ पद्यों में समाप्त होती है । इसमें रचना काल नहीं दिया हुआ है किन्तु अन्तिम पद्य में अपने नामोल्लेख के साथ ही रचना समाप्त कर दी गयी है ।

सार समुच्चै यह कह्यो, गुर आज्ञा परवान ।
आनंद सुत दोलति नै, भजि करि श्रीभगवान ॥१०४॥

इस ग्रंथ की एक प्रतिलिपि जयपुर के वर्धाचन्द्र जी मन्दिर के शास्त्र भण्डार में १०८२ संख्या वाले एक गुटके में संग्रहीत है ।

कवि की विचारधारा

महाकवि दीलतराम साहित्य की किसी एक धारा में नहीं बहे । और न वे किसी परम्परा से ही बंधे रहे ! उन्होंने अपना जीवन कथाकोष लिखने से प्रारम्भ किया और अन्त हरिवंश पुराण से किया । ५२ वर्ष के लम्बे साहित्यिक जीवन में कितने ही उतार चढ़ाव आये लेकिन उनकी साहित्यिक धारा अजस्र बहती रही । वे रीति कालीन कवि थे ! मुगल बादशाहों एवं राजा महाराजाओं की शान शोकत का गुण था ! आमेर के दरबारी कवि बिहारी की सत्सई ने तत्कालीन जनता पर जादू जैसा कार्य किया था ! चारों ओर मस्ती थी ! रंगीन एवं शृंगार रस से ओत प्रोत कविताएं थी और उनमें हँसा हुआ था सारा हिन्दी समाज ! लेकिन दीलतराम राज दरबार में रहते हुए भी इस क्षणिक मस्ती से दूर थे ! वे जानते थे कि यह जीवन निर्माण का मार्ग नहीं है ! सरागता जीवन की सच्चाई तक नहीं पहुँचने देती

जबकि वीतगागता उसके अन्तिम छोर तक पहुँचने में सहायक होती है ! इसलिए कवि ने “पुण्याखव कथाकोश” की रचना करके पाठकों को अध्ययन का एक नवीन मार्ग खोलवाया ! ये सब ऐसी कथाएँ हैं जिनमें जीवन निर्माण का मार्ग मिलता है ! सरसता एवं धारा प्रवाहिकता में ये कथाएँ किसी से कम नहीं ! भाव, भाषा एवं शैली सभी दृष्टियों से उत्तम ! आगरा की गलियों में आध्यात्म सैलियों में तथा मन्दिर एवं स्वाध्याय शालाओं में इन कथाओं को पढ़ा जाने लगा और इस एक ही कृति में दौलतराम लोकप्रियता के शिखर पर जा बैठे ।

उदयपुर में जब वे पहुँचे तो वहाँ भी राजाशाही थी । कामिनी एवं सुरा का दौर दौरा था ! और कवि को इन राजदरबारों में भी उपस्थित रहना पड़ता था ! जयपुर महाराजकुमार के संरक्षक जो ठहरे ! लेकिन यहाँ भी कवि ने अपने आपको कमल के समान तिलिप्त रखा ?

उदयपुर जाने के पश्चात् उनका साहित्यिक जीवन निखर गया । आगरा में उन्हें वहाँ की आध्यात्मिक शैली में रहने का अवसर मिला । और भूषरदास जैसे महाकवि से साहित्यिक निचार विमर्श करने का सौभाग्य मिला । आगरा से पुनः जयपुर आने के पश्चात् भट्टारकों एवं तत्कालीन विद्वानों के विचारों को जानने एवं समझने का समय प्राप्त हुआ । और जब उदयपुर पहुँचे तो उन्हें एकान्त में अपने विचारों का मन्थन करने का खूब समय मिला । वहाँ आगरा एवं जयपुर जैसा न तो साहित्यिक वातावरण था और न सामाजिक संगठन ही । यहाँ उन्होंने अपने योग्य वातावरण का स्वयं को निर्माण करना पड़ा । एवं शास्त्र प्रवचन के माध्यम से अपने विचारों को प्रसारित करने का सुन्दर अवसर भी मिला । इसलिये उदयपुर जाने के पश्चात् उन्होंने समाज को सर्वप्रथम “क्रियाकोश” दिया । इसके आधार पर हम कवि की विचार-धारा का अच्छी तरह अध्ययन कर सकते हैं । कवि ने इसमें गृहस्थों के लिए आवश्यक त्रेपन क्रियाओं का जिस सुन्दरता एवं विशदता से वर्णन किया है वह कवि के विचारों का द्योतक है । उसने सभी क्रियाओं को जीवन विकास के लिये आवश्यक माना है और उनके पालन करने के महत्त्व पर प्रकाश डाला है । आरम्भ में उसने इन कार्यों का नामोल्लेख किया है जिनके सम्पादन से मानव जीवन सामान्यतया प्रशस्त बनता है तथा जिन्हें हम श्रावक मात्र के लक्षण कह सकते हैं । ऐसे शुभ कार्यों के नाम निम्न प्रकार हैं—

मोक्ष मारगी मुनिवरा, जिनकी सेव करेय ।

सो श्रावक धनि धन्य है जिन मारग चित देय ॥६०॥

जिन मंदिर जो शुभ रचें, अरचें जिनवर देव ।
 जिन पूजा नित प्रति करे, धरै साधु की सेव ॥६१॥
 करै प्रतिष्ठा परम जो, जान्या करै सुजान ।
 जिन सासन के ग्रन्थ शुभ, लिखवावै मतिवान ॥६२॥
 चउ विंध संव तगै सदा, सेवा आवै यो ॥
 पर उपगारी सर्व की, पीडा हरै जु वीर ॥६३॥

उक्त पंक्तियाँ श्रावक के लिए प्रशस्त मार्ग को निर्दिष्ट करने वाली हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वे इन सभी क्रियाओं के पालन करने के पक्ष में थे जिन्हें पूर्वाचार्यों ने प्रतिपादित की थी। उनकी दृष्टि से जीवन निर्माण के लिये आचार की प्रधानता है चारित्र्य की विशेषता है। और जेवन क्रियाओं के सम्बन्ध में उन्होंने इसी दृष्टि से विस्तृत प्रकाश डाला है। कवि ने अपनी इस कृति के माध्यम में उदयपुर के सामाजिक वातावरण को स्वच्छ बनाया और श्रावकों को इन क्रियाओं को जीवन में उतारने पर विशेष जोर दिया। कवि इससे पुरातन पंथी नहीं बना किन्तु उसने जीवन में चारित्र्य की, संयम की, अहिंसा, सत्य, अचीर्ष्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रहपरिमारा आदि व्रतों की पुनः प्रतिष्ठापना की। षट् कर्मों के परिपालन को जीवन का आवश्यक अंग बतलाया तथा मद्य भांस एवं मधु को मानव मात्र के लिये त्याज्य बतलाया। कवि के इन विचारों से समाज में नव चेतना का संचार हुआ। इसके लिये उन्होंने शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ किया और उसे अपने विचारों को लोगों तक पहुँचाने का माध्यम बनाया।

भक्त कवि के रूप में

उदयपुर में रहते हुए कवि ने अष्टात्म बारहखंडी की रचना की। यह कवि की सबसे विशाल पद्यात्मक काव्य कृति है जिसे हम अष्टात्म एवं भक्ति का महाकाव्य भी कह सकते हैं। इस कृति में वे भक्त कवि के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुए हैं। बारहखंडी के रूप में उन्होंने जिस रूप में भक्ति एवं अष्टात्म की गंगा बहायी है वह हिन्दी काव्य जगत् में अनोखी है। उसने सर्व प्रथम निम्न पांडों में निग्रन्थ जिनवर का स्तवन किया है—

और न दूजो देवता और न दूजो पंथ ।

शिव त्रिरंजि जगनाथ है, जो जिनवर निग्रंथ ॥१०॥

१. अष्टात्म बारहखंडी पद्य संख्या ४८

सब बाँमें वह सबनि में, वह हैं सब ते भिन्न ।

वा तें सब ही भिन्न है वह भिन्नो च अभिन्न ॥

कवि के शब्दों में ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश जिन स्वरूप है इसलिये उसने परमात्मा की निम्न शब्दों में भक्ति की है—

तुही जिनेश संकरो, सुखकरो प्रजापती ।

तुही हिरण्य गर्भ को, अगर्भ को घरापती ॥

वह परमात्मा अनन्त गुणात्मक है । अन्तः सुख एवं वीर्य का धारी है । उसके समान वही है और दूसरा कोई भी नहीं है । तेरी समता तू ही सामी, तो सौ और न अन्तरयामी” कह कर वह प्रभु का स्तवन करता है और अपने “संकल्पा अर सकल विकल्पा, मेरे भेटि जु देव अकल्पा” की याचना की है । कवि का प्रभु अमरेश्वर द्वारा पूजित है । सूर्य एवं चन्द्रमा जिनकी सेवा करते हैं । चारों निकाशों के देवों द्वारा पूजित है । जिन हस्तकान्त में भिन्न प्रकार भगवान् जिन देव के १००८ नामों का गुणानुवाद किया है उसी प्रकार इस बारहखड़ी में उसने उसी रूप में जिनदेव का स्तवन किया है । उसने भगवान् से कर्म रूपी कलंक को हटाने की प्रार्थना की है । वास्तव में तो जो अरहन्त सिद्ध आदि पंच परमेष्ठियों का स्तवन करता है उसके स्वतः ही माया एवं मोह दूर हो जाते हैं । एक स्थान पर उसने कहा है जब किसी भक्त को भव सागर से तारा है तो इन पंच परमेष्ठियों की भक्ति ने ही उसे तारा है अन्य ने किसी ने नहीं । क्योंकि वह सब देवों का भी देव है—

जब तारै जब तू ही तारै, तो बिनु और न कर्म निवारै ।

सब देवति कौ तू ही देवा, सब करि पूजति एक अभेवा ।

कवि ने उन सभी महापुरुषों का, भक्तों का, आचार्यों एवं साधुओं का नामोल्लेख किया है जिन्होंने जिनेन्द्र भक्ति से भव संकटों से मुक्ति प्राप्त की है क्योंकि जिनेश्वर सब के रक्षक हैं और सब भेदाभेद से विमुख हैं ।^१ एमोकार संज्ञ की महिमा का भी कवि ने वर्णन किया है । इस संज्ञ की महिमा से मरणासन्न श्वान ने भी देवगति प्राप्त की दी ।

मरत मुन्यौ स्वाने चित्तधारी, अघते रहित भयो शुभकारी ।

लेकिन कवि की भक्ति एवं भक्त की कामना दोनों ही उल्लेखनीय है । वह प्रभु

से सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये निवेदन नहीं करता । स्त्री, सन्तान, स्वास्थ्य एवं सुन्दर शरीर की वह अपने प्रभु से वांछा नहीं करता और न वह कोट्याधीश बनने की याचना करता । वह तो उनसे स्वयं परमात्मा स्वरूप को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है क्योंकि उसने इन्हीं के जाल में पड़ कर जन्म जन्मन्तरो में महान् दुःख पाये हैं जिनका बर्णन करना भी कठिन है ।^१ वह स्वयं तीर्थंकर बनने की कामना करता है इसलिये वह निम्न शब्दों में स्तवन करता है—

अतिसै जग के दासन मांगे, दे अतिशय चउतीस जु मोहि
अष्ट जु प्रातिहारहू देही, केवल दै विनऊ कह तोहि ।
देहु अनंत चतुष्टय भिर्चै, तू अतिशय तन जियन होहि ।
अतिशय प्रातिहार नहि देतो, अनंत चुनुष्टय दे प्रभु सोहि ॥ ४०६ ॥

भगवान् जिनेन्द्र देव जहाँ विराजते हैं उसका वर्णन भी कवि ने भक्ति वर्ण किया है । वहाँ केवल आत्म सुख ही आत्म सुख है । जगत् का अन्य कोई व्यापार नहीं । न असि का व्यापार है और न वहाँ मसि का कार्य है । व्यापार एवं बरिणज वहाँ नहीं होता । निर्वाण होने के पश्चात् उस लोक में न पठन पाठन की आवश्यकता है और न गुरु शिष्य का भेद है वहाँ यह आत्मा शुद्ध स्वरूप में निवास करती है । मोह द्रोह एवं अन्य वैभाविक क्रियाओं को वहाँ कोई स्थान नहीं है और ऐसे ही स्थान प्राप्ति के लिये वह अपने प्रभु से प्रार्थना करता है ।^२

इस प्रकार सम्पूर्ण अध्यात्म बारहस्रडो भक्ति भावना से ओत प्रोत है । कवि ने इसमें अपना हृदय खोल कर रख दिया है और जितना भी उसे आद्विक ज्ञान था उसे उसने अपने भावों में उतारा है । भक्ति एवं स्तवन में कवि ने जैन सिद्धान्त का भी अच्छा वर्णन किया है क्योंकि जिन भगवान् भी उन्हीं सिद्धान्त मय हैं । यही नहीं वर्ष भर के प्रमुख पर्वों के महात्म्य का भी इसी प्रसंग में वर्णन कर दिया है । क्योंकि इन पर्वों का महात्म्य भी तो इनके जीवन की किसी घटना का कारण है । और उनके जीवन की घटनाओं का सांगोपांग

१. सो मेरी मेटी जगनाथा, निज परराति को देहु साधा ।
पर परराति तैं मैं दुख पायो, आप किसानि जु जन्म गवायो ॥ २४० ॥
२. अध्यात्म बारहस्रडो—पद्य संख्या ४३० पृष्ठ संख्या २४१.

वर्णन भी भक्ति का एक अंग है । अक्षय तृतीया पर्व के महात्म्य को कवि ने निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है—

वैशाखी शुक्ला जु तीज अक्षय भई

रिषभ कियो जा दिवस पारनौ विधि ठई ।

वरध एक उपवास धारि यम घार जो ।

मारग प्रगट कियो जु मोह मद मार जो ॥५१॥

घटियां श्रे दस पुनीत कियो जाने सही ।

सो मानुज भवतारि किय सिव ईसही ।

ईस रसाहारी जु देवपति देव जो

अर्षतीज सम करहु करी हम सेव जो ॥५२॥

गद्य निर्माता के रूप में

दौलतराम हिन्दी गद्य साहित्य के प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने अपनी चार वृहद् गद्य रचनाएँ साहित्य प्रगट को भेंट कीं । उनकी प्रथम कृति पुण्यालवकथा-कोश संवत् १७७७ (सन १७२०) की रचना है । उस समय तक हिन्दी कृतियों का अर्थ पद्यात्मक कृतियों में लिया जाता था ; यद्यपि डा० जयकिशन शर्मा ने ब्रज भाषा गद्य का पूर्ण विकास एवं उसका उत्कर्ष काल संवत् १२०० से १७०० तक स्वीकार किया है और इस काल की कुछ रचनाओं के नाम भी गिनाए हैं ।^१ इन कृतियों में या तो लघु गद्य रचनाएँ हैं या फिर वचनिका, टीका सजक रचनाएँ हैं लेकिन कविवर दौलतराम ने हिन्दी गद्य में विशालकाय कृतियाँ प्रस्तुत की और हिन्दी पाठकों में हिन्दी के प्रति गहरी रुचि पैदा की । कवि ने जिस धारावाहिक शैली को अपनाया आगे चलकर सारे जैन कवि ही नहीं किन्तु जैनतर कवियों ने भी उसी शैली का अनुकरण किया । यद्यपि दौलतराम की चारों ही रचनाओं को हम अनुदित रचनायें वह सकते हैं ये केवल अनुवाद अथवा वचनिका मात्र नहीं हैं किन्तु इनमें मौलिकता का सर्वत्र सद्भास है जिससे ये

१ हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ पृष्ठ संख्या ५१२-१३

दौलतराम का हिन्दी गद्य संस्कृत परिनिष्ठ है । वह अपभ्रंस, माकृत तथा देशी शब्दों से मुक्त है । वह ब्रज भाषा का गद्य है लेकिन फिर भी उसमें खड़ी बोली का पूर्व रूप देखा जा सकता है ।

कृतियाँ स्वतन्त्र गद्य काव्यों के रूप में सामने आती हैं। पुष्पास्त्रव कथाकोश के अतिरिक्त आदिपुराण, पद्मपुराण एवं हरिवंश पुराण जैसी कृतियों की भाषा एवं शैली की दृष्टि से कवि ने उन्हें सर्वथा मौलिकता प्रदान की और जो अनुवाद में सूना सूना सा नजर आता था उसे अपनी कृतियों में जड़ से उखाड़ फेंका। यही कारण है कि उनका पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण का स्वाध्याय गत २०० वर्षों में जितना हुआ उतना स्वाध्याय संभवतः अन्य किसी रचना का नहीं हुआ होगा। बल्कि महाकवि के पूर्व तक हिन्दी गद्य रचनाओं के प्रति पाठकों का जो उपेक्षा भाव था उसे भी दौलतराम ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दूर किया। इसके अतिरिक्त अब तक भाषा टीका लिखने की जो परम्परा विद्यमान थी वह भी धीरे धीरे समाप्त हो गयी और विद्वान हिन्दी गद्य में लिखने की ओर झुकने लगे। २०वीं शताब्दी में हिन्दी गद्य या उपन्यास, कहानी एवं निबन्धों के रूप में जो विकास हुआ उसमें भी वही भावना काम करती है जिस भावना से दौलतराम को अपनी कृतियों का माध्यम हिन्दी गद्य को स्वीकार किया था। 'खेतनि विषै नाना प्रकार के खेत हरे हो रहे हैं भर सरोवरनि में कमल फूल रहे हैं भर वृक्ष महारमणीक दीखे हैं' यह शैली आज से २०० वर्ष से भी अधिक समय की है। गत दो सौ वर्ष में हिन्दी भाषा के प्रयोग में कितना परिवर्तन आया है इससे हम परिचित हैं लेकिन संवत् १८२३ में भी हिन्दी गद्य में लिखने वाले इतने उच्चस्तरीय विद्वान थे यह देखकर हमें आश्चर्य होता है। और उनकी विद्वत्ता एवं लिखने की शैली को देखकर के ही मालवा समाज ने हरिवंशपुराण को हिन्दी गद्य में निर्माण करने की ओर प्रार्थना करवायी।

“उनकी वार्त्ता पुर ग्रामादि विषै प्रसिद्ध भई सो दर्शन भूपति बलदेव के समाचार सुन कर संका मान नाना प्रकार के आयुध धर उपसर्ग करने वे आये। तब सिद्धार्थ देव उनको ऐसी भाषा दिखाई वे जहां देखे तहां दीखे।”

उपयुक्त उदाहरण हरिवंशपुराण का है। कवि ने इस पुराण में बड़े बड़े वाक्य लिखे हैं क्रियाओं का प्रयोग कम से कम किया है और उसके प्रयोग से स्थान पर भर्त्ता किया पदों का प्रयोग करके वाक्य को लम्बा करता गया है। लेकिन फिर भी भाषा एवं शैली के आकर्षण में कोई कमी नहीं आती है और पाठक उसे सहज भाव से पढ़ता है। हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से दौलतराम के इन कृतियों का अत्यधिक महत्त्व है इसलिये इनका समीक्षात्मक अध्ययन आवश्यक है।

समकालीन शासक, विद्वान् एवं श्रावक

१ महाराजा सवाई जयसिंह : (सन् १७०१ से १७४३)

महाराजा सवाई जयसिंह जयपुर राज्य के योग्यतम शासक थे। वीरता, शौर्य एवं सूक्ष्म-बुद्धि के लिए अपने समय में देहली दरबार में अत्यधिक लोकप्रिय थे। वे सन् १७०१ में आमेर की गद्दी पर बैठे, लेकिन जब उन्होंने आमेर को अपने राज्य के लिए बहुत छोटा नगर पाया तो सन् १७२७ में जयपुर नगर को बसाया^१। इस नगर को महाराजा ने जिस वैज्ञानिक ढंग से बसाया उससे उनकी कीर्ति विश्व में फैल गयी। तत्कालीन जैन कवि बलतराम साहू ने अपने बुद्धिविलास में इसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

कुरम सवाई जयस्यंघ भूप सिरोमनि,
सुजस प्रताप जाको जगत में छाया है ।
करन-सौ दानी पांडवन-सौ कपांती महा,
मांती मरजाद मेर राम-सौ सुहायो है ॥

महाराजा सवाई जयसिंह ने एक लम्बे समय तक राज्य पर शासन किया अपने राज्य की सीमाओं में अत्यधिक वृद्धि की।

शासकीय गुणों के अतिरिक्त महाराजा साहित्य, संस्कृति तथा कला के विशेष प्रेमी थे। विद्वानों एवं कलाकारों को वे खूब संरक्षण प्रदान करते थे। महाकवि दीनतराम का इनसे प्रथम साक्षात्कार कब हुआ—इसका तो कोई उल्लेख नहीं मिलता; लेकिन महाकवि ने सर्वप्रथम अपने 'त्रेपनक्रियाकोश' में (सं० १७६५) अपने घापको जयसिंह का अनुचर एवं जयसिंह के सुत (महाराज कुमार) का मंत्री के रूप में प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात् जब तक महाराजा जीवित रहे तब तक महाकवि उनकी सेवा में रहे।

सोहै अवावतिकी दक्षिण दिसि सांगानेरि,
दोऊ बीचि सहर मनोपम बसायो है ।
नाम ताकी धरचो है, सवाई जयपुर ।
मांनौ सुरति हीं मिलि सुरपुर-सौ रचायो है ॥६८॥

महाराजा जयसिंह यद्यपि वैष्णव धर्मानुयायी थे, लेकिन जैनधर्म, साहित्य तथा संस्कृति से उनका विशेष प्रेम था और उनके शासन काल में पूरे राज्य में नये-नये जैन मन्दिरों का निर्माण होता रहा। जयपुर नगर में भी उन्होंने दो चौकड़ियाँ (मोदीखाना एवं घाट दरवाजा) विशेष रूप से जैनों को बसने के लिए प्रदान की। उनके शासन में जयपुर नगर में जिस भारी संख्या में विशाल एवं कलापूर्ण जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ, वह उनकी जैन धर्म के प्रति अनुराग का द्योतक है। कर्नल टॉड ने अपने ग्रन्थ "राजस्थान" में यह भी लिखा है कि इस राजा को जैन धर्म के सिद्धान्तों का अच्छा ज्ञान था और उनकी विद्या बुद्धि के कारण भी वह जैनों का काफी सम्मान एवं आदर करता था।^१ इनके शासनकाल में सैकड़ों ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की गईं और उनको देश के विभिन्न भण्डारों में विराजमान किया गया। श्रीमहावीरजी क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग की ओर से प्रकाशित ग्रन्थ सूचियों (५ भाग) एवं प्रगल्भ संग्रह में ऐसे सैकड़ों ग्रन्थों का उल्लेख आया है, जिनकी प्रतिलिपि जयपुर में तथा राज्य के विभिन्न नगरों में हुई थी।

इनके शासनकाल में संवत् १७५८, १७६१, १७६३, १७६६, १७७२, १७७३, १७७७, १७७८, १७८१, १७८६ आदि में प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ एवं यन्त्रराज राजस्थान के विभिन्न नगरों में उपलब्ध होते हैं। सबसे बड़ी प्रतिष्ठा इनके शासनकाल में बांसखोह (जयपुर) नगर में हुई थी, जिसे ग्रामेर गादी के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने करवायी थी। इस संवत् का मूर्तियाँ जयपुर एवं राजस्थान के विभिन्न नगरों के मन्दिरों में विराजमान है।

महाराजा जयसिंह के समय में ग्रामेर, सांगानेर एवं जयपुर में कितने ही विद्वान् हुए, जिनमें अजयराज पाटनी, कुशलचन्द काला, नेमीचन्द, दीपचन्द कासलीवाल एवं किशनसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने तत्कालीन शासन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

२ महाराजा सवाई ईश्वरीसिंह (१७४३-१७५०)

महाराजा सवाई जयसिंह के पश्चात् महाराजा सवाई ईश्वरीसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठे। यद्यपि ये अधिक दिनों तक शासन नहीं कर सके; लेकिन जितने वर्षों तक जीवित रहे, अत्यधिक कुशलता से शासन किया। इनके राज्य में अधिकांशतः शान्ति रही। कविवर बल्लराम ने इनके शासन की

निम्न शब्दों में प्रशंसा की है—

बहुत वर्ष लौं राज किय, श्री जयस्यंघ अवनोप ।
जिनके पटि बैठे स्वदिनि, ईश्वरस्यंघ महीप ॥१७०॥
तिनकी दांन कपांत को, जय जस करत अपार ।
जिन सौ जंग जुरे तिन्है, करि छांडे पतभार ॥१७१॥

महाकवि दीनतराम ने इनके शासनकाल का अपनी कृतियों में उल्लेख नहीं किया है; क्योंकि उस समय वे महाराज कुमार माधोसिंह की सेवा में उदयपुर रहते थे ।

महाराजा सवाई ईश्वरीसिंह को इमारतें बनाने का बड़ा शौक था और ईश्वर लाट (सरगासूली) उन्हीं के समय में बनायी गयी थी ।

३ महाराजा सवाई माधोसिंह : (१७५०-१७६७)

महाकवि दीनतराम महाराज कुमार माधोसिंह के मंत्री होकर उदयपुर गये थे और जब तक माधोसिंह जयपुर के शासक नहीं बने, तब तक वे मंत्री के रूप में उदयपुर में ही रहे । महाराजा सवाई माधोसिंह के शासनकाल में राज्य का काफी विस्तार हुआ और रणथम्भीर का प्रसिद्ध किला जयपुर राज्य की आसानी से प्राप्त हो गया । बलतराम साहू ने इनके सम्बन्ध में जो कवित्त लिखे हैं वे निम्न प्रकार हैं—

दोहा : बहुरि पाटि बैठे नृपति, रामपुर तैं आय ।

भाई माधवस्यंघजू, दुरजन कौं दुखदाय ॥१७३॥

कवित्त : जिन रामपुर मै करी निज चाकरी,
सो धरि राखी बिचारि हिये ।
फिरि पाय कौं राज हुंदाहर कौ,
सु नऊं निधि के सुख आनि लिये ॥
भनि 'राम' कपातैं भले ही भले,
अमरेस के से जिनु दांन दिये ।
हरि ऐक सुदामां निवाज्यो कहूँ,
नृप माधव केई सुदामां किये ॥१७४॥

सौरठा : दिये दिवाये दान, जस प्रगट्यो दसहुं दिसनि ।

उवै जगत परिभान, राज कियो यम मुलक परि ॥१७५॥

आगै नृपति अनंत, जतन किये आयो न गढ़ ।

रणधम्भौर महंत, सौ माधव सहजें लह्यौ ॥१७६॥

कवित्त : अंसी मौज कटत सवाई माघवेस कर,

सुवरन-भर ज्यों प्रवाह नदी नद के ।

मान-वंस भान जयसाहि कै समान स्थाम,

हरत गुमान निज दान सौ धनद के ॥

मोती अनहद के जराऊ साज सदके,

कर द्वार रदके अनाध दीन दरदके ।

जीन जम्बूनदके तुरंग करी-कदके,

मतंग मंति मद के कटत सदा सदके ॥१७७॥

सौरठा : चढी फौज करि कोप, भिरि भागे जट्टा प्रबल ।

नई चढी यह वोप, कछवाहन की तेग को ॥१७८॥

लेकिन महाराजा पुरोहितों से अधिक प्रभावित थे । एक बार उन्होंने अपना सारा राज्य ही श्याम तिवारी को सौंप दिया; जिसने जैनों पर अनेक जुल्म डाये । मन्दिरों को लूटा गया और मूर्तियों को तोड़ डाला गया । लेकिन महाराजा ने सदैव जैनों का पक्ष लिया । जब उन्हें श्याम तिवारी द्वारा किये गये अत्याचारों का पता चला तो उसे उन्होंने तत्काल अपने नगर से निकाल दिया और राज्य में साम्प्रदायिक सद्भाव को पुनः उत्पन्न किया । महापण्डित टोडरमल ने अपनी अधिकांश रचनायें इन्हीं के शासन काल में लिखी थी । इसी तरह महाकवि दौलतराम ने भी श्रीपाल चरित (सं. १८२२) पद्मपुराण (सं० १८२३) एवं आदिपुराण (सं० १८२४) जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी । भाई राममल्ल ने महाराजा माधवसिंह के शासनकाल का वर्णन करते हुए जो लिखा है, वह अत्यधिक महत्व है तथा उस समय शासन पर जैनों के प्रभाव का स्पष्ट द्योतक है—

"राजा का नाम माधवसिंह है । ताके राज विषे वर्तमान एते कुविसन दरबार की आज्ञात न पाईए है । अर जैनी लोग का समूह बसै है ।

दरबार के भुतसही सर्व जैनी हैं और साहूकार लोग सर्व जैनी है । जद्यपि और भी है परि गौराता रूप है मुख्यता रूप नाहि । छह, सात वा आठ वा दस हजार जैनी महाजनों का घर पाइए है । ऐसा जैनी लोगों का समूह नग विषै नाहि और इहां के देश विषै सर्वत्र मुख्य पणों आवग लोग वसै हैं ताहीं एह नग वा देश बहोत निर्मल पवित्र है । तातैं धर्मात्मा पुरुष बसने का स्थानक है । अबार तो सश्रात धर्मपुरी है ।”

४ महाराजा सवाई पृथ्वीसिंह : (१७६६-१७७७)

महाकवि दीनतराम के जीवन-काल में ये चतुर्थ महाराजा थे । संवत् १८२४ चैत्र वदी ३ को ये जयपुर की गद्दी पर बैठे । कविवर बख्तराम ने बुद्धि विलास में इनके सम्बन्ध में निम्न पद्य लिखा है—

पृथ्वीस्यंघ विख्यात जा दिन तें भूपति भए ।

मिटै सकल उतपात, सुखी भई सारी प्रजा ॥१८१॥

इनके शासनकाल के दो वर्ष पश्चात् ही जयपुर राज्य में शासन पर एक वर्ग विशेष का जोर हो गया, जिसने मन्दिरों, मूर्तियों एवं उनके अनुनायियों पर बहुत अभ्याय बरसाये । कवि बख्तराम ने अपने बुद्धि विलास में इस घटना का निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

फुनि भई छब्बीसा कै साल, मिलै सकल द्विज लघु र विशाल ।

सबनि मती यह पक्की कियौ, सिव उठान फुनि दूसन दियो ॥१३०७॥

द्विजन आदि बहु मेल हजार, बिना हुकम पायें दरवार ।

दौरि देहरा जिन लिय लूटि, मूरति विघन करी बहु फूटि ॥१३८॥

लेकिन जब महाराजा को इन अत्याचारों का पता लगा तो उन्होंने अपने राज्य में फिर साम्प्रदायिक सद्भाव की घोषणा की और राज्य भर में फिर से सब सम्प्रदाय के अनुयायी शान्ति पूर्वक रहने लगे ।

महाराजा के शासनकाल में संवत् १८२६ में सवाई माधोपुर में विशाल पंच कल्याणक महोत्सव हुआ, जिसमें हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई । ऐसा विशाल समारोह सारे देश में अपने ढंग का अकेला था । संवत् १८२६ में प्रतिष्ठापित सैंकड़ों हजारों मूर्तियां आज भी उत्तरी भारत के अधिकांश मन्दिरों में मिलती हैं । यह प्रतिष्ठा समारोह भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति द्वारा सम्पन्न हुआ था ।

महाकवि दोस्ताराम ने साम्प्रदायिक अशान्ति रहने पर भी अपना साहित्य का निर्माण का कार्य यथावत रखा और हरिवंश पुगण (संवत् १८२६) जैसे महान् ग्रन्थ की भाषा टीका करने में सफल हुए। महाकवि ने पृथ्वीसिंह के शासन काल की निम्न पंक्तियों में प्रशंसा की है—

नगर सवाई जयपुरा, जहाँ बसे बहु न्यात ।
राजा पृथिवीसिंह है, जो कछुवाहा जाति ॥३॥
शिरोभाग राजान में, दूँढाहड़ पति सोय ।
ताके मंत्री आवका, और न्यातहु होय ॥४॥

५ महाराणा जगतसिंह :

महाराणा जगतसिंह उदयपुर के महाराणा थे। महाकवि दोस्ताराम ने इनका जीवचर चरित की प्रशस्ति में निम्न प्रकार उल्लेख किया है -

उदियापुर ता माहि, राजधानी अति सीहै ।
जगतसिंह महाराण, पाट सोसोदिन की है ॥
× × × ×
रहै राण के पास, राण अति किरपा करई ।
जानें नीकी जाहि, भेद भाव जु नहि धरई ॥

महाराणा जगतसिंह और सवाई जयसिंह के परस्पर मधुर सम्बन्ध थे। यहीं नहीं, महाराजा सवाई माधोसिंह उदयपुर महाराणा की राजकुमारी के राजकुमार थे।

६ अमरपाल :

‘अमरपाल’ का ‘पुण्यालव कथाकोश’ में उल्लेख हुआ है। कवि ने इनकी ‘परमागम की रत्न तिन चरयो’ के रूप में प्रशंसा की है। महाकवि बनारसीदास के साथियों में कौरपाल का नाम उल्लेखनीय है। ‘सूक्तिमुक्तावली’ का पद्यानुवाद बनारसीदास और कौरपाल ने मिलकर किया था।^१ ‘अमरपाल’

- १ नाम सूक्ति मुक्तावली, द्वाविंशति अधिकार ।
शत श्लोक परमान सब, इति ग्रंथ विस्तार ॥१॥
कुंअरपाल बनारसी, मित्र जुगल इक चित्त ।
तिनहि ग्रंथ भाषा कियो, बहुविधि छन्द कवित्त ॥
सोलहसै इक्यानवें, ऋतु ग्रीष्म वैशाख ।
सोमवार एकादशी, करन छत्र सित पाख ॥

संभवतः कौरपाल के सुपुत्र भयवा वंशज थे । और उन्हीं के समान अध्यात्म शैली के प्रमुख सदस्य थे । अध्यात्म विषयक रुचि अमरपाल को वंश-परम्परा से मिली होगी—ऐसा विश्वास किया जा सकता है ।

७ आनन्दराम :

‘आनन्दराम’ महाकवि दौलतराम के पिता थे । सर्व प्रथम ‘पुण्यास्रव कथाकोश’ में कवि ने आनन्दराम सुत लिखकर अपना परिचय दिया है । आनन्दराम बसवा (जयपुर) के रहने वाले थे । और वहीं रहकर संभवतः अपना काम-धन्धा करते थे । आनन्दराम के पुत्रों तथा उनकी पत्नी के बारे में कवि ने कोई परिचय नहीं दिया है । ‘पुण्यास्रव कथाकोश’ के अतिरिक्त कवि ने श्रेयन त्रिआकोश, जीवधर चरित, पद्मपुराण और हरिवंशपुराण आदि सभी कृतियों में ‘आनन्दराम’ का सादर उल्लेख किया है । जो उनकी अपने पिता के प्रति अनन्यतम भक्ति का प्रतीक है ।

८ करणदास :

ये उदयपुर के रहने वाले थे तथा महाकवि की शास्त्र-सभा के प्रमुख सदस्यों में से थे । कवि से ‘आध्यात्मधारहलही’ लिखवाने में इनका विशेष योग रहा था ।

९ खेतसिंह :

खेतसिंह दि० जैन अग्रवाल मन्दिर, उदयपुर का टहलवा था, जो स्वयं भी पण्डित था । महाकवि दौलतराम ने इनका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

मण्डी घान की नगर मांहि, जहां जैन मन्दिर महा ।

तहां टहलवा पंडितो इक, खेतसिंह नामा कहा ॥

१० चतुरभुज :

ये भी आगरा की अध्यात्म शैली के प्रमुख श्रोता थे । कवि ने इन्हें साधर्मी लिखा है । भगवद् भक्ति की ओर इनकी विशेष रुचि थी । आध्यात्मिक चर्चाओं में भी ये बड़ी रुचि रखते थे । महाकवि दौलतराम को इन्हीं से शास्त्र प्रवचन एवं साहित्य निर्माण की प्रेरणा मिली थी । ‘पुण्यास्रव कथाकोश’ में कवि ने इनका सादर स्मरण किया है ।

११ चतुरभुज अग्रवाल :

एक चतुरभुज का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं । ये दूसरे चतुरभुज हैं। जिन्होंने महाकवि को उदयपुर में जीवधर चरित की रचना करने के लिए आग्रह किया था । ये अग्रवाल श्रावक थे तथा कालाडहरा (जयपुर) के रहने वाले थे । कवि के ये परम प्रशंसकों में से थे । तथा उदयपुर के अग्रवाल मन्दिर में चलने वाली शास्त्र-सभा के प्रमुख श्रोता थे । जब महाकवि ने बीस हजार श्लोक प्रमाण वाले 'महापुराण' का स्वाध्याय समाप्त किया तो इन्होंने उनसे 'जीवधर चरित' की हिन्दी में रचने का आग्रह किया और इसके लिये निम्न आधार प्रस्तुत किया—

देव भाष गंभीर, संस्कृत विरला जाने ।

पंडित करै बखान, अल्प मति नाहि बखाने ॥

जो हूँ ग्रंथ अनूप, देस भाषा कै मांही ।

वांचै बहुत हि लोक, या महे संकै नांही ॥

सब गिरंथ की वनि न आवै, ती इह जीवधर तनी ।

अवसि मेव करती सुभाषा, पृथ्वीराज भी इह भनी ॥६॥

सुनी 'चतुर' मुख बात, सोहि दौलति उरधारी ।

—इस प्रकार इन्हीं के आग्रहवश दौलतराम ने 'जीवधर चरित' की रचना प्रारम्भ की और संवत् १८०५ में उसे समाप्त कर हिन्दी को एक प्रबन्ध-काव्य भेंट किया ।

१२ पण्डित चोमा :

ये उदयपुर के रहने वाले थे । स्वयं कवि ने इनको पंडित की उपाधि लगाकर स्मरण किया है । ये कवि के विशेष प्रशंसक थे तथा तत्त्वचर्चा में मग्न रहा करते थे । अष्ट्यात्मबारहखड़ी के निर्माण में कवि को इनसे विशेष प्रेरणा मिली थी ।

१३ पृथ्वीराज :

पृथ्वीराज संभवतः श्रावक थे तथा प० दौलतराम की शास्त्रसभा के ये नियमित श्रोता थे । जीवधर चरित की रचना करने में इन्होंने भी कवि से

आग्रह किया था; जिसका कवि ने ग्रंथ-प्रशस्ति में निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

सब गिरंथ की बनि न आव, तौ इह जीवंधर तनी ।

अवसिमेव करनी सुभाषा, प्रथीराज भी इह भनी ॥६॥

१४ फतेचन्द :

आगरा नगर के अध्यात्म शैली के प्रमुख सदस्यों में फतेचन्द का नाम भी उल्लेखनीय है । फतेचन्द अपने सम्बन्ध के प्रतिष्ठित थावक थे तथा शास्त्रों की चर्चा में सदैव तल्लीन रहते थे । ये प्रतिदिन शास्त्र-प्रवचन में जाते और नयी-नयी चर्चाएँ करके श्रोताओं की जिज्ञासा बढ़ाते तथा विषय का स्पष्टीकरण करते थे । महाकवि दीलतराम ने अपने “पुण्यास्रव कथाकोश” में—“फतेचन्द है रोचक नीके, चरचा करै हरष धरि जीके” इन शब्दों में इनकी प्रशंसा की है । फतेचन्द आगरा निवासी थे अथवा कवि के समान ये भी बाहर से ही वहाँ आये थे—इस सम्बन्ध में निश्चित जानकारी नहीं मिलती; क्योंकि कवि ने आगे “मिले आगरै कारन पाय” शब्द कहे हैं ।

१५ बख्तावरदास :

इनका कवि ने अध्यात्म बारहखड़ी की प्रशस्ति में उल्लेख किया है । ये उनकी शास्त्र-सभा के प्रमुख सदस्य थे और कवि के विशेष सम्पर्क में रहते थे । तत्त्वचर्चा एवं धार्मिक-चिन्तन में विशेष योग देते थे । ये भी उदयपुर के रहने वाले थे ।

×

×

×

×

१६ बिहारीलाल :

थावक बिहारीलाल आगरा की अध्यात्म शैली के प्रमुख सदस्य थे । प्रतिदिन शास्त्र सभा में जाते और ध्यान एवं भजन पूर्वक शास्त्र श्रवण करते थे । विद्वानों को शास्त्र-प्रवचन की ओर प्रोत्साहित करते और स्वयं भी उनकी सेवा में सदैव तत्पर रहते । दीलतराम ने इनका ‘पुण्यास्रव कथाकोश’ की प्रशस्ति में सादर स्मरण किया है और इनके सम्बन्ध में निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं—

लाल बिहारी हूं नित सुनै, जिन आगम को नीकै भुनै ॥

१७ बेलजी सेठ :

इनका कवि ने अपनी दो कृतियों में उल्लेख किया है । ये हूबहु जाति के थावक थे तथा सागवाड़ा के निवासी थे । शास्त्र श्रवण में इनकी

गहरी रुचि थी। जीवन्धर चरित की रचना करने के लिए कवि से इन्होंने भी आग्रह किया था^१। इसी तरह वसुनन्दि श्रावकाचार की टब्बा टीका करने के लिए उन्होंने विशेष आग्रह किया था।^२ जब तक दौलतराम उदयपुर में रहे, तब तक बेलजी सेठ इनके विशेष प्रशंसक रहे।

१८ भूधरदास :

‘भूधरदास’ महाकवि दौलतराम के समकालीन विद्वान् थे। पुण्याश्रवकथा कोश की प्रशस्ति में उन्हें अक्षय कर्त्तों का स्मरण किया गया है। ये ही वे भूधरदास हैं; जिन्होंने ‘पार्श्वपुराण’ जैसे प्रबन्ध काव्य की रचना संवत् १७८६ में समाप्त की थी। आगरा की अध्यात्म शैली के ये प्रमुख विद्वान् थे। कवि का सर्व प्रथम इन्हीं से परिचय हुआ और इन्हीं की प्रेरणा से वे साहित्य निर्माण की ओर प्रवृत्त हुए। इनका विस्तृत परिचय प्रस्तावना ११ के पृष्ठ पर देखिए।

१९ मनोहरदास :

जब महाकवि उदयपुर में महाराजकुमार माधोसिंह के मंत्री बनकर गये तो उन्होंने वहां भी दि० जैन अग्रवाल मन्दिर में शास्त्र प्रवचन प्रारम्भ किया और आगरा के समान ही उसे भी अध्यात्म शैली का रूप दिया। इस शैली के प्रमुख सदस्यों में मनोहरदास का नाम उल्लेखनीय है। मनोहरदास ने कवि से अध्यात्म वाग्दण्डों को छन्दोबद्ध करने का विशेष आग्रह किया था; जिसका उल्लेख स्वयं कवि ने उसकी प्रशस्ति में किया है।

१. सुनी चतुर मुख बात, सोहि दौलति उर धारी ।
सेठ बेलजी सुधर, जाति हूं मंड हितकारी ॥
सागवाड़ है वास, श्रवण की लगनि धरोरी ।
सब साधरभी लोक, धरै श्रद्धा श्रुत केरी ॥
तिनने आग्रह करि कही फुनि, दौलति कै मन मैं बसी ।
संस्कृत तैं भाष कीनी, इहै कथा है नीर सी ॥७॥
२. बोले सेठ बेलजी नाम, सुनि नृप मंत्री दौलतिताम ।
टब्बा होय जो गाथा तनी, पुण्य उपजै जिसको घनी ॥

२० रतनचन्द दीवान :

पं० भंवरलाल व्यासतीर्थ ने इनका दीवान काल संवत् १८१३ से १८२५ तक का माना है । महाकवि दौलतराम से इनका परिचय उनके अन्तिम दिनों में हुआ था; जिसका उल्लेख उन्होंने अपने हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में “रतनचन्द दीवान एक, भूपत के परवान” के रूप में किया है । इस पंक्ति के आधार पर इनका संवत् १८२५ के बाद भी दीवान होना जाहिर होता है ।

दीवान रतनचन्द महापंडित टोडरमल की शास्त्रसभा के विशेष श्रोताओं में से थे और पंडित जी का पूरा सम्मान करते थे । भाई रायमल्ल ने अपनी पत्रिका में उस समय के जिन दो दीवानों का उल्लेख किया है; उनमें एक रतनचन्द तथा दूसरे दीवान बालचन्द छाबड़ा थे । इन्होंने जयपुर में बबीचन्द जी के मन्दिर का निर्माण कराया था और मन्दिर निर्माण करने के पश्चात् उसे अपने बड़े भाई के नाम से समिद्ध किया था ।

२१ भाई रायमल्ल :

‘भाई रायमल्ल’ महाकवि दौलतराम के समकालीन श्रावक थे । धर्म एवं साहित्य प्रचार की उत्कट प्रेरणा लेकर वे विद्वानों की सेवा में जाते थे और उनसे नव साहित्य निर्माण का सानुरोध निवेदन करते थे । जहां भी उन्हें विद्वान एवं पण्डित दिग्विद् देते थे, वे उनके पास जाकर अपनी हार्दिक भावनाएं प्रस्तुत करते ।

उनका जन्म संवत् १७७० के लगभग माना जाता है । बचपन में ही इनके ज्ञान की पिपासा बढ़ने लगी और २२ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने साहिपुरा के विद्वान् श्रावक नीलपति साहूकार से धार्मिक ज्ञान प्राप्त किया और उसके पश्चात् ही वे पूर्ण संयमित जीवन व्यतीत करने लगे एवं ज्ञान-वृद्धि को ही एक मात्र अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया । संवत् १८०५ के पूर्व ही वे महाकवि दौलतराम से मिलने उदयपुर पहुंचे । वहां की आध्यात्मिक शैली एवं वहां के श्रावकों में धर्म प्रचार को देखकर उन्हें अत्यधिक सन्तोष हुआ । इस घटना का भाई रायमल्ल ने अपने पत्र में निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

“उहां दौलतराम के निमित्त करि दस बीस साधर्मि व दस बीस बायां सहित शैली का वाणा बाँण रखा—ता अवलोकन करि साहिपुरा पाछा आया ।

‘महाकवि दौलतराम’ जब जयपुर आ गये; तब उन्होंने कवि को पद्मपुराण की भाषा करने के लिए विशेष आग्रह किया जिसका कवि ने उक्त ग्रन्थ प्रशस्ति में निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

रायमल्ल साधर्मि एक, जाके घट में स्व-पर विवेक ।
दयावंत गुणवंत सुजान, पर उपकारी परम निधान ॥
दौलतराम जु ताको मित्र, तासों भाष्यो वचन पवित्र ।
पद्मपुराण महाशुभ ग्रंथ, तामें लोक शिखर को पंथ ॥
भाषा रूप होय जो यह, बहुजन वांचै करि अति नेह ।
ताके वचन हिये मैं धार, भाषा कीनी मति अनुसार ॥

इसके पूर्व भाई रायमल्ल महापण्डित टोडरमल के घनिष्ठ सम्पर्क में आ चुके थे । उन्होंने सिंघाणा जाकर गोम्मटसार जैसे महान् एवं विशाल ग्रंथों की भाषा टीका करवाने में सफलता प्राप्त की ।^१

महापण्डित टोडरमलजी भी भाई रायमल्ल से काफी प्रभावित थे । उन्होंने निम्न शब्दों में उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है—

रायमल्ल साधर्मि एक, धर्म सधैय्या सहित विवेक ।
सो नाना विधि प्रेरक भयो, तब यहु उत्तम कारज सयो ॥

संवत् १८२१ में जयपुर में जो इन्द्रध्वज महोत्सव हुआ था, उसका भाई रायमल्ल ने अतीव सजीव वर्णन किया है । उससे तत्कालीन जयपुर नगर की साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक गतिविधियों का भलीभांति परिचय मिलता है ।

संवत् १८२७-२८ में रायमल्ल मालवा देश गये हुए थे । वहां उन्होंने महाकवि दौलतराम द्वारा भाषा में निबद्ध आदि पुराण एवं पद्मपुराण का प्रदत्त किया । दोनों ग्रन्थों को सुनकर सभी श्रावक हर्षित हो गये और उनमें स्वावग्रह की रुचि में वृद्धि हुई । उसी समय वहां के श्रावकों ने भाई रायमल्ल से दौलतराम के द्वारा हरिवंश पुराण की भी टीका करने का निवेदन

१ शुभ दिन टीका प्रारम्भ हुई.....वे तो टीका बणवते गये ।
हम वांचते गये । बरस तीन में चारि ग्रंथों की ६५००० टीका
भई । पीछे जयपुर आए ।

कथा । जिससे इस महान् ग्रन्थ का स्वाध्याय भी सुगमता से हो सके । भाई रायमल्ल ने वहीं से दौलतराम को पत्र भेजा ; जिसमें सारी वस्तु स्थिति का दिग्दर्शन कराया । महाकवि को भाई रायमल्ल का आग्रह स्वीकार करना पड़ा । इस घटना को कवि ने हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में उल्लेख किया है ।

२२ रिषभदास :

‘पुण्यास्रव कथाकोश’ की रचना में तथा धार्मिक जीवन व्यतीत करने की ओर सबसे अधिक प्रेरणा देने वालों में रिषभदास का नाम उल्लेखनीय है । इन्हीं के उपदेश से कवि मिथ्याचरण त्याग कर सम्यक आचरण की ओर प्रवृत्त हुए थे । महाकवि ने रिषभदास की प्रशंसा में निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं—

रिषभदास उपदेस सौ, हमै मई परतीति ।

मिथ्यातम को त्यागि कै, लगो धरम सौ प्रीति ॥२१॥

रिषभदेव जयवन्त जग, सुखी होहु तसु दास ।

जिन हमको जिन मत विषै, कीयो महा गढास ॥२२॥

२३ सदानन्द :

सदानन्द आगरा की अठ्ठात्म शैली के प्रमुख सदस्य थे । कवि ने “सदानन्द है आनन्द मई, जिनमत की आशा तिह लही”—शब्दों में इनका स्मरण किया है ।

२४ सीताराम-सवाईराम

ये दोनों महाकवि के समय के ग्रन्थ-लेखक थे । महाकवि हरिवंश पुराण की भाषा-टीका बोलते गये थे और ये दोनों उसे लिखते गये थे । उसका उल्लेख कवि ने निम्न प्रकार किया है—

सीताराम जु लेखका और सवाई राम ।

तिन पर लिखवायो जु यह, बहुत कथा को धाम ॥

२५ हरिदास :

ये उदयपुर के रहने वाले थे । यहां पर कवि द्वारा संचालित शास्त्र-सभा के ये प्रमुख श्रोता थे तथा उनके विशेष सम्पर्क में रहते थे । कवि ने ‘अध्यात्म बारहखड़ी’ की प्रशस्ति में इनका विशेष रूप से स्मरण किया है ।

२६ हेमराज :

कवि ने हेमराज का 'पुण्याखन कथाकोश' में स्मरण किया है और उनके सम्मान में निम्न पद्य लिखा है—

हेमराज साधर्मी भले, जिन बच मांति असुभ दल मले ।

अध्यात्म चरचा निति करै, प्रभु के चरन सदा उर धरै ॥

हेमराज जैन धर्मावलम्बी थे जिनदाराणी में उनकी अद्वैत श्रद्धा थी । वे आगरा की अध्यात्म शैली के प्रमुख सदस्य थे । तथा अध्यात्म-चर्चा में संलग्न रहा करते थे ।

आगरा के ही अन्य पाण्डे हेमराज संभवतः उनसे भिन्न विद्वान् थे ।

डा० कस्तूरचंद कासलीवाल

अविजम्भार स्वामी चरित्र

रचनाकाल : संवत् १८०१ श्रावण

सुक्ता २ गुरुवार

रचनास्थान : उदयपुर (राजस्थान)

दोहा

मंगल पाठ—

धरधमान भगवान कौं, करि वंदन मनलाय ।
जिनवानी कीं करि प्रणति, नमि गौतम के पाय ॥१॥
जोखंधर मुनिराय की, कहौं कथा सुखदाय ।
बुद्धि पराक्रम रस भरी, सुनौ भव्य मनलाय ॥२॥

राजा श्रेणिक द्वारा सुधर्माचार्य से प्रश्न—

एक दिवस श्रेणिक नृपति, समवसरण के मांहि ।
लखत फिरत है जिन विभव, जा सम जग में नाहि ॥३॥
लखि सोभा चउ वननि की, उपज्यो हर्ष अपार ।
वन प्रसोक में वृक्ष लखि, देख्यो मुनि अविकार ॥४॥
ध्यानारूढ़ विसुद्ध जो, मगन महा परवीन ।
मानौ बैठो सिद्ध ही, निज स्वरूप लवलीन ॥५॥
देखि अवस्था धीर की, सफल करे नृप नैन ।
दे प्रवक्षणा करि प्रणति, धन्य धन्य कहि वैन ॥६॥
आय सुधर्माचार्य पै, पूछ्यो प्रसन रसाल ।
स्वामी देख्यो साधु इक, रहित सकल जगजाल ॥७॥
अति सुरूप सुंदर महा, जो वन मांहि महंत ।
जीत्यां बैठो मदनमद, निसचल निरमल संत ॥८॥
तन वच मन बुधि के परं, पहुँच्यो मुनि वरवीर ।
परमतत्त्व परचै किया, तिष्ठै गुण गम्भीर ॥९॥
कौन पुरिष ए सौ कहौं, करि किरपा गुरदेव ।
सुरनर मुनिवर खेचरा, करें तिहारो सेव ॥१०॥

तब सुधर्म गुरु बोलिया, सुनि हो श्रेणिक भूप ।
कहाँ कथा जोनिष की, अद्भुत अति रस रूप ॥११॥

चौपई

कथा का प्रारम्भ—

याही 'भरतखेत्र' कै माहि, 'हेमांगव' इक देश वसाहि ।
तहां 'राजपुर' नगर अनूप, राज करै सत्यधर भूप ॥१२॥
पटरानी 'विजया' गुण खानि, जा समान रति रूप न मानि ।
मंत्री 'काष्ठांगारिक' एक, प्रोहित 'रुद्रवत्त' अविवेक ॥१३॥

महारानी विजया द्वारा स्वप्न दर्शन—

एक समै विजया पटरानि, देखे सुपना दुख सुखदानि ।
आप उतारि धरयो मुक्त सीस, मुकुट जु सत्यधर धरणीस ॥१४॥
अष्ट हेम घंटा जुत सोहि, चित्त राज की मुखि इह होहि ।
बहुरि लख्यो सुपिनां मैं एक, तरु असोक आश्रित अविवेक ॥१५॥
तमैं तरु काट्यो ता माहि, ऊग्यो बालवृक्ष सक नाहि ।
लह लहाट करतो तत्काल, अति सुंदर रसरूप रसाल ॥१६॥

स्वप्न फल—

प्रात समै राजा द्विग जाय, सुपिन भेद भाखे समुझाय ।
नृप बोले रानी सुनि बात, निश्चै होय हमारी घात ॥१७॥
अष्ट लाभ हैं तुमको सही, लहि हौ सुत राजा अतिमही ।
सुनि करि नृप वियोग नृपनारि, भई सोक जुत अर्थ विचारि ॥१८॥
राजा सुभ वचननि तैं पोषि, सोक रहित कीनी अति ताषि ।
कैयक दिवस वीतिया अबै, रह्यो गर्भ रानी को तबै ॥१९॥
चय करि सुगं थकी सुरमहा, उयर मझार बास जिह लहा ।
जैसे सरद विषं सर माहि, राज हंस धिरता जु धराहि ॥२०॥

गंधोत्कट वरिणक् के पुत्र का अभाव—

और सुनौं इक बात रसाल, इक गंधोत्कट वरिणक्क विसाल ।
 अति घनवंत महा भक्तिवंत, ताहि पुरि निवसं मुखवंत ॥२१॥
 एक दिवस बड़ भाग प्रभाव, देखे सीतगुप्त मुनिराव ।
 नाम 'मनोहर' बन है एक, तहाँ विराजे परम विवेक ॥२२॥
 तीन ज्ञान धारक जगनाव, तिनकीं नमि पूछ्यो निज भाव ।
 हे प्रभु, मेरे सुत बहु भये, अल्प आय है मरि मरि गये ॥२३॥
 हुइहैं दीरघ आयु हु कोइ, मुनि बोले, अद्भुत सुत होइ ।
 मन धरि वास्त सेठ इक सुनौं, पाप पुन्य के नाटक सुनौं ॥२४॥

पुत्र प्राप्ति के लिये भविष्यवाणी—

पुत्र होयगी तुम्हरे अब, ततखिए मृत्यु होयगी तब ।
 तुम जै ही नाखन बन ठाम, तहां पाय हौ सुत गुणधाम ॥२५॥
 महा मंडलिक नृपपद धार, अति विद्यानिधि अति अविकार ।
 सकल त्यागि भव भाव मर्हत, तद्भव मुक्त होई सो संत ॥२६॥
 ये मुनि वचन सेठ कीं कहे, ते इक जखिणी नें उर गहे ।
 सुत अर माता को उपगार, करिवा गई भूप के द्वार ॥२७॥
 राज लोक मै पहुँची सोइ, रानी की अति बल्लभ होय ।
 गरुड यंत्र तें रक्षा करी, धर्मवंत सेवा चित धरी ॥२८॥
 एक समय मधुरितु परताप, फूले तरवर हर संताप ।
 काहू दिवस राज दरबार, प्रोहित आयो प्रात मभार ॥२९॥

राजा सत्यन्धर की उदासीनता—

आभूषण रहिता पटरानि, देखी विजया गुण की खानि ।
 पूछ्यो कहां विराजै राव, मेरे नृप दरसन की भाव ॥३०॥
 रानी भाख्यो पोढ़े भूप, देख्यो जायन नृप को रूप ।
 ऐसे बेंन सुने द्विज जवें, निमत विचारयो मन में तब ॥३१॥

होय अमंगल नृप कै सही, या मांहै कछु संसै नही ।
बाहुरि आयो मंत्री गेह, प्रात समै ही करि अति नेह ॥३२॥

राज पुरोहित द्वारा काष्ठांगार को भड़काना—

प्रोहित स्वामी-धर्म तैं गयो, ले एकांत कहत यों भयो ।
काष्ठांगारिक सुनि मुझ बात, करि तू तुरत राव को घात ॥३३॥
तेरे राज होय तहकीक, मेरी वचन न मानि अलीक ।
सुनि करि मंत्री प्रोहित वैन, कान मूँदि नीचे करि नैन ॥३४॥
बोल्हो जोगि नही इह रीति, तुम भाषी सो बड़ी अनीति ।
मैं जु करत हो बोले कांम, करि किरपा नरपति गुणधाम ॥३५॥
मो कौ आप बराबर कियो, अति दुर्लभ मंत्री पद दियो ।
तब बोल्हो प्रोहित जडमति, मेरो वचन भूँठ नहि रती ॥३६॥
नृप सुत करिहै तेरो अंत, तातें जतन करी बुधिवंत ।
अैसे कहि प्रोहित घर गयो, पाप प्रभाव रोग अति भयो ॥३७॥
दिन तीजें नर देही त्यागि, नरकि गयो द्विज अचपथ लागि ।
ताके वचन धारि परधान, आप मरण तैं डरयो अयान ॥३८॥

काष्ठांगार द्वारा विद्रोह—

नृप मारण की इच्छा धरी, धरम-करम की परिणति हरी ।
हुँ सहस्र भट अपने किये, बहुत द्रव्य दे निज मैं लिये ॥३९॥
घेरयो जाय राजदरबार, तब भूपति तैं किये बिचार ।
गरुड यंत्र करि रांनी काढ़ि, लरिवा आयो आप गुणाढ़ि ॥४०॥
नृप दरसन करि कैयक भटा, काष्ठांगारिक दल तैं फटा ।
तिनको लारलेय नृप लरयो, भागी मंत्री मन मैं डरयो ॥४१॥

सत्यन्धर की मृत्यु—

तब मंत्री सुत सेना लाय, मिल्यो तात सौ तुरतहि आय ।
पिता पुत्र दोऊ इक होय, हत्यो जुद्ध मैं भूपति सोइ ॥४२॥

काष्ठांगारिक राजा भयो, कृतघ्न स्वामि धर्म तैं गयो ।
 जैसें सठ करि सविष अहार, चाहै भूख तनों परिहार ॥४३॥
 जिम कोई करि कपटी मित, चाहै जड़मनि भयो नचित ।
 ज्यों हिंसक मत धरि खल होइ, चाहै सुगति सु कैसें होय ॥४४॥
 तैसें मंत्री अधम अयान, लियो राज तजि धर्म विधान ।
 स्वामि द्रोह सौ और न पाप, पापी लहै नरक संताप ॥४५॥

विजया रानी की रक्षा—

गरुड यंत्र परि करि असवार, जखिणी हूँ रानी की लार ।
 लेय गई जु मसांगनि मांहि, रोवत राखी संसै नाहि ॥४६॥

पुत्रोत्पत्ति—

करी रात्रि कौ रक्षा महा, तहां पुत्र नैं जनम जु लहा ।
 महा मनोहर रूप रसाल, मानौं ऊँच्यो चंद्र विसाल ॥४७॥
 रानी कै नृप कौ जु वियोग, पति विछोह सौ और न सोय ।
 तातैं उछव कछु नहि कियो, बारबार भरि आवै हियौ ॥४८॥
 तुरत उठायो जखिणी बाल, रतन दीप जोये ततकाल ।
 देखी रानी विमनो इसी, दीं करि जरी लगा हूँ जिसी ॥४९॥

यक्षिणी द्वारा उद्बोधन—

तब जखिणि दीयो उपदेश, सुनि हे रानी धर्म जिनेस ।
 सब संबंध विनश्वर जानि, सब थानक दुस्थानक मानि ॥५०॥
 धन जोवन क्षण भंगुर देह, दीप सिखा सम जीतब एह ।
 अर इह काय असुचि कौ ठाम, यासौं प्रीति तजै गुणधाम ॥५१॥
 राज जगत में जानौं इसी, चपला चमतकार हूँ जिसी ।
 अविग्र पुन्य वीमूढ़ मति देह, सब वस्तुनि स्यों कियो सनेह ॥५२॥
 ते सब जाहि अवसि इह रीति, दाह दायनी जग की प्रीति ।
 छति वस्तु सौ रति नहि करै, अर अछती की चाह न धरै ॥५३॥

दिनासीक जानै जग भाव, उत्तम जन को इहै स्वभाव ।
 सब व्यापक है जाकीं जान, सो सर्वज्ञ देव भगवान ॥५४॥
 तानें सकल लखी परजाय, कबहु कोई धिर न रहाय ।
 काहु सौं करिवौ नहीं प्रीति, परछम तौ आछी इह रीति ॥५५॥
 अर जौ कहै प्रीति हू करै, तौ इह बात हिये मैं धरै ।
 चरतमान अर ह्वैगी जोहु, इन सौं प्रीति होय तौ होहु ॥५६॥
 गई वस्तु सौं कंसी प्रीति, बृथा सोक धरिवौ सठ रीति ।
 कौन पुरिष सर जौनुं दु नरि, जीव त्रिलिग रहित अविकारि ॥५७॥
 लखि भूँठी संसार चरित्र, कर्म जोग संबंध विचित्र ।
 चरिम सरोरी सुत इह जानि, अति परतापी पूजि प्रवांनि ॥५८॥
 दुष्ट शत्रु कौं करै निकंद, तो कौं उपजावे आनन्द ।
 करि सनाँन लै जोगि अहार, समाधान धरि मन मैं सार ॥५९॥
 सोक किये भरतार न मिलै, काल पदारथ सब कौं मिलै ।
 भिन्न भिन्न सबकी गति जानि, कर्म भेदतें भेद प्रवांनि ॥६०॥
 इत्यादिक पुक्तिनि समुझाय, सोक रहित कीनी सुत माय ।
 आप रही याही कै पासि, महा मित्रता रीति प्रकासि ॥६१॥

गंधोत्कट को मृत पुत्र की प्राप्ति—

दुख में कबहु न छाँड़े मंग, इह मियनि कौ धर्म अभंग ।
 अब आयो गंधोत्कट जहां, मृतग पुत्र नाँवै नर तहां ॥६२॥
 नाँवि आपनौ मिरतक बाल, जात हुतौ घर कौ ततकाल ।
 सुन्यौ तवै सुस्वर गंभीर, रानी सुत कौ सेठ सुधीर ॥६३॥

जीवधर की प्राप्ति—

तवै चितारे मुनि के वैन, चित में पायो बहुतहि चैन ।
 जीवो जीवो बालक महा, पुण्य प्रभाव जनम इह लहा ॥६४॥
 हाथ पसारे करि अति नेह, रानी जान्यौ श्रेष्ठी एह ।
 दियो पुत्र तव ताकै हाथ, जौ हूहै पिरथी को नाथ ॥६५॥

समुझायो फुनि या विधि ताहि, पाली सेठ जतन करियाहि ।
 काहू पासि भेद मति कही, इहैं बात गाढ़ी करि गहौ ॥६६॥
 यों ही करिहौं निहसदेह, यों कहि सेठ ले गयो गेह ।
 सेठ नारिकी नंदा नाम, तासौं सेठ खिज्यो गुणधाम ॥६७॥
 तो मै बुद्धि नही है मूलि, कहीं कहां लीं तेरी भूलि ।
 विनु परखें ते जीवत मानि, आखन लीज्यो पुत्र निधान ॥६८॥
 दीरघ आय मनोहर काय, इहै पुत्र तोकीं सुखदाय ।
 लै लै याहि प्रीति करि पालि, अर अब सौं सब भूलि जुंटालि ॥६९॥
 तब हरषी सेठानी महा, अति आदर तें बालक गहा ।
 जीत बाल भानु की एह, अपराजित बलवंत अछेह ॥७०॥

पुत्रोत्सव

कियो सेठ उछाह अपार, जैसो पुत्र जनम व्योहार ।
 करी क्रिया सुत्रोक्ति सबै, धरचो नाम जीवंधर तवै ॥७१॥
 धरचो तवै जीवंधर नाम, जासौं सुधरै सबही काम ।
 अब विजया जखिणी ले लार, गरुड यंत्र पर ह्वै असवार ॥७२॥
 गई पित्रवन ते ततकाल, दंडकवन पहुँची गुणमाल ।
 जहां परमती तापस रहैं, धरि आश्रम कंदादिक गहैं ॥७३॥
 तहां रही निज नाम छिपाय, पति विद्योगनी दुरबलि काय ।
 जखिणी शोक हरण के हेत, रानि कीं उपदेशहि देत ॥७४॥
 जे प्राचीन कथा सति रूप, ते याकै दिग कहै अनूप ।
 भाखैं इह भूँठी संसार, साचो जिन मारग भवतार ॥७५॥
 जिन जिन माहि आपदा परी, अर आपद में थिरता धरि ।
 तिन तिन की परकासै बात, जिम सुनि या सहु सोक विलात ॥७६॥
 जति अर आवक की जो धर्म, सो सहु प्रकट करै विनु भर्म ।
 या विधि जीखणी दे उपदेस, करी धर्म जुत याहि विसेस ॥७७॥

छंद बेसरी

अब तुम सुनौ और इक वाता, जा विधि मिले अष्ट ही भ्राता ।
 विजया की द्वै सौकि बखानी, सत्यंबर की लहरी रांनी ॥७८॥
 रति इक अवर अन्नग पताका, तिनकै पुण्य कर्म परिपाका ।
 मधुर वकुल द्वै पुत्र विसुद्धा, सुनि जित धर्म भये प्रतिबुद्धा ॥७९॥
 धारे आवक वत्त सबही, जिनके धारें मोह दवैही ।
 अर सेनापति हौ राजा कै, नाम विजमति सुभ मति ताकै ॥८०॥
 होती जयावती सुभ नारी, ताकै बेवसेन सुत भारी ।
 अर प्रोहित हौ सगर नामा, हुती श्रीमती ताकै भामा ॥८१॥
 जाके पुत्र महा परवीना, बुद्धिबेण विद्या लवलीना ।
 अर इक श्रेष्ठी हौ धनपासा, ताकै अदत्ता सुभचाला ॥८२॥
 हुती नारि ताके गुणवंता, पुत्र भये वरवत्त कुलवंता ।
 अर आगेँ मतिसागर नामा, संजी हौ नृप कै अभिरामा ॥८३॥
 ताकै नारि अनुपमा रूपा, जाकै मधुमुख पुत्र प्ररूपा ।
 मधुर वकुल अर ए चंड जोधा, मिलि हूये पद सुभट प्रबोधा ॥८४॥
 षट द्रव्यनि से भासै भाई, एक क्षेत्र वासी सुखदाई ।
 रहै सेठ घरि कला विसुद्धी, जीवधर के सखा सुबुद्धी ।
 जीवधर जुत सातीं एही, सत्य सुरूपी परम सनेही ॥८५॥
 सप्त तत्त्व ज्यों लोक मझारे, सोहैं सातीं अति गुण भारे ।
 बालकेलि अति चाव कराए, महा परायण प्रीत बराए ॥८६॥
 राति दिवस विछुरे न कबैही, जिनको बहुतहि विरद फवैही ।
 बहुरि सेठ की नारि जु नंबर, ताकै सुत नवाव्य अनंदा ॥८७॥
 भयो महाहितकारी वीरा, तब ए आठ भये अतिधीरा ।
 अष्ट गुणनि से आठौं एही, सब सुरूप सुन्दर सुचि देही ॥८८॥

बालक्रीड़ा एवं तपस्वी से भेंट—

एक दिवस या पुर के पास, कंवर करत हे केलि बिलास ।
 लाख तनी गोली करि वाला, खेलत हे रस रूप रसाली ॥८६॥
 एक पुरिख तापस के रूपा, जीवंधर कौ देखि अनूपा ।
 पूछन लागी होय खुशाला, केसी दूर मंगर है लाला ॥८७॥
 बोले कंवर सबे इह जानै, बालक खेलके पथ पिछानै ।
 तू अति वृद्ध ज्ञान न तोकी, किती दूर पुर पूछै मोकी ॥८८॥
 तरवर सरवर वाग विसाला, बहुरि देखिए खेलत वाला ।
 तहाँ क्यों न लखिये कुलीन, सखी कहीं राखिये दोरा ॥८९॥
 ज्यों लखि धूम अगनि है जाने, त्यों बालक लखि पुर परवाने ।
 जीवंधर के सुनिये वैंनां, तापस कीये नीचे नैंनां ॥९०॥
 क्रांति कंवर की अर सब चेष्टी, देखी वृद्ध तापसी अष्टा ।
 अर सुनि सुभसुर सुंदर बानीं, जामी बालक है अति ज्ञानी ॥९१॥
 ऐसा भान्य जगत जंत नहि, परम पुरुष प्रगटे भू मांही ।
 महाराज परकाज सुधारा, चिह्नन करि लखिए गुणभारा ॥९२॥
 बहुरि बंस परखन की एही, बोल्यो सुनिहो कंवर सनेही ।
 भोजन देहु भूख मुझ लागी, तू बड़ अर सुत है बड़ भागी ॥९३॥
 तब दैनीं करि भोजन यांकीं, लागे लाला कह्यो पिता कीं ।
 भोजन तापस कीं दे ताती, तुम ही दाता जगत विख्याती ॥९४॥
 विने जुक्त सुनि सुत के वैंनां, गंधोतकट पायो अति चैंनां ।
 धन्य भाग्य अपनै लखि भाई, लियो कंवर को कंठ लगाई ॥९५॥
 कह्यो सेठ सुनि प्राण अधारा, हम एकरि है लार अहारा ।
 तुम पहली जीमौ निहचिता, जीवंधर जीवनि के मिता ॥९६॥
 करि सनान जीमै हम पाछै, तापस कोसु जिमावै आछै ।
 जनक वचन सुनि भोजन कारन, बैठे जीवंधर जगतारन ॥१००॥

सकल सखा जुत अद्भुत बालक, अति मन भावन पर दुख टालक ।
 तहां बाल लीला करि लीये, रोवत खिजत महागुण मोटे ॥१०१॥
 उम्न अन्न है जीमौ कैसे, मांसों बोलें वचन जु अंस ।
 मा की अति बिह्वल जब कीनी, तब तापस इह शिक्षा दीनी ॥१०२॥
 तो की रोवौ जोशिन लाला, तू मंगल मूरति गुणमाला ।
 यद्यपि तेरी वय है छोटी, ती पनि तो मैं मति अति मोटी ॥१०३॥
 धीरज आदि गुणनि करि भाई, तू सब जग की सिखर दिखाई ।
 मुनि तापस के वचन विवेकी, बोले आप भाव करि एकी ॥१०४॥
 रोवे के गुन तुम नहि जानौ, मेरी बात हिये परवानौ ।
 जाय सलेखम जो दुख दाई, नेत्र विमल ह्वै अति अधिकाई ॥१०५॥
 तितै अहार हू सोतिल होई, यामैं ती औगुन नहि कोई ।
 इन वचनानि तापस सुख पायो, अर भाता का हियो सिहायो ॥१०६॥
 सकल सखा जुत पुत्र जिमाए, पाछें श्रेष्ठी की पवराए ।
 तापस की अति तिरपत कीयो, आछी विधि तें भोजन दीयो ॥१०७॥
 तब तापस बोल्यो सुभ वैना, कंवर देखि हरखे मुक्त नेना ॥१०८॥
 देखि जोगि ता मोहित हूवो, भयो जाय नहि यातें जूवो ।
 जो तुम आज्ञा द्यो सुखदाता, तौ मैं याहि पढ़ाऊं ताता ॥१०९॥
 सूत्र समुद्र के जल तैं याकी, धोऊं सनमति सुगुण भरा को ।
 सुनि करि बोले सेठ प्रवीनां, मैं हौं जिन मारग आधीनां ॥११०॥
 आनमती की सिर नहि नाऊं, आन धर्म कै पासि न जाऊं ।
 नमसकार विन तूं अभिमांनी, दुख पावें मन मांहि निदांनी ॥१११॥
 तब बोल्यो आपस सुभ वैनां, बात हमारी सुनि दिव जेनां ।
 नगर सिंहपुर की मैं भूपा, आरिजवर्मा नाम परूपा ॥११२॥
 धीरनंदि पै मुनि व्रत लीयो, धृतिवेष सुतकी नृप कीयो ।
 सम्यक सहित मुनीसर व्रता, पाले जगतें होय निवृत्ता ॥११३॥

पछें दाह जुर उपज्यो मोकों, कही कहाली वेदन तोकों ।
 तब मैं भयो भिष्ट आचारा, चारित रहित सांग इह धारा ॥११४॥
 जिनमत की श्रद्धा है मेरे, जैसी उर मैं श्रद्धा तेरे ।
 धर्म आत मोकों तुम जानौ, परमत को संदेह न आनौ ॥११५॥
 समाचार तांके सुनि सारा, परख्यो ताकीं बहु परकारा ।
 तब पढ़िवा सौंष्यो सिवगांमी, तार्क द्विग जोबंघर स्वामी ॥११६॥

विद्याध्ययन—

अर सौंषे याके सब मित्रा, जे सब बातनि मांहि विचित्रा ।
 सो समदिष्टी इनकीं लेकै, कीये पंडित विद्या दैकै ॥११७॥
 शस्त्र शास्त्र आदिक बहु विद्या, छंदादिक सह पद्यर गद्या ।
 कुंवर पढ़ाए महा सुबुद्धी, थोड़े दिन में भये प्रबुद्धी ॥११८॥
 ज्यों दीपति करि सूरिज सौंहे, त्यों विद्या करिए मन मोहे ।
 बालदसातें जोवन मांहो, आये जीबंघर सक नांहो ॥११९॥
 तब आरिजवर्मा सुखदाई, तजि परभेष हुवो मुनिराई ।
 गहि निज ध्यान लह्यो शिवधामा, जहां विराजै केवल रामा ॥१२०॥
 अब तुम सुनौ कंवर परतापा, नगर तनी भेट्यो संतापा ।
 महा सुभट बर वीर सु वीरा, पर जीवनि की हरइ जु पीरा ॥१२१॥

बोहा

कालकूट भील द्वारा नगर में उत्पात—

कालकूट नामा कुधी, मुखिया भीलनि मांहि ।
 पापी प्रगठ्यो ता समैं, जाकै करुणा नांहि ॥१२२॥
 अति कारी अति कुटिल जो, बहै अकारौ सोइ ।
 सुनते जावौ नाम ही, धीरज धरै न कोइ ॥१२३॥
 धनुष बाण धारयां रहै, राती आखि विरूप ।
 पढ़ी है र अकुटी सदा, सदा ध्यान की रूप ॥१२४॥

अश्व पूंछ से मूँछ के, बाल कठोर महान ।
 देख्यो जाय न दुष्टघी, दुरजन पाप निधान ॥१२५॥
 आय परे जब गांव परि, थांभि सकै नहि कोय ।
 लूटै घन पिरधरे तनों, संक घरै नहि सोय ॥१२६॥
 काल कूट विष सारिखौ, काल कूट इह भील ।
 अति कुसोल अति नीच नर, दोखै महा कुचौल ॥१२७॥
 जानि जेक इह तिमर ही, धरि मानुष की काय ।
 रवि किरणानि करि डरि कुधी, बिचरै नाम छिपाय ॥१२८॥
 निरदय सेना जा कनें, सींगी नाद करंत ।
 अभख अहारी गौ हतक, करै पसुनिकी अंत ॥१२९॥
 ज्यों तमाल वृक्षांनि कौ, वाय होय अति स्याम ।
 त्यों कारौ भीलांनि कौ, दल आयो अघ घाम ॥१३०॥
 डरे नगर केलोक सब, देखि भील कौ जोर ।
 नहीं जानिये ह्वै कहा, उपज्यो धरि धरि सोर ॥१३१॥
 घेरी गाय सुनग्र की, घेरे पसू अखेह ।
 तव कालांगारिक नृपति, करी घोषणा एह ॥१३२॥
 जो लरि दुष्ट किरतसों, गाय छुड़ावै कोय ।
 सो मेरी गोदादरी, पुत्री कौ पति होय ॥१३३॥

जीवंधर द्वारा उपद्रव का दमन—

इहै घोषणा सुनि सुधि, जीवंधर सुकुमार ।
 सात सखा जुत साह सुत, ले आयुध रण सार ॥१३४॥
 चले तुरत भीलांनि परि, ज्यों तम परि रविद्याम ।
 इनकै पीछें भूप सुत, कालांगारिक नाम ॥१३५॥

सोऊ चाल्यो देखिवा, इत को युद्ध बिसाल ।
 लरे सेठ सुत भील सौ, जीवधर गुणमाल ॥१३६॥
 आठौ भाई एक ह्वै, परे भील दल मांहि ।
 बाण खलाय धा विधी, जकारि दुष्ट हटांहि ॥१३७॥
 रण विद्या में निपुण ए, धनुरवेद के मूल ।
 सर साधै अति सीघ्र ही, लखि न सकै प्रतिकूल ॥१३८॥
 आवत दें नहि बांन पर, आवत बाण कटांहि ।
 चोट चुकावै पारकी, पर कौ चोट करांहि ॥१३९॥
 रोकै अपने बांन तैं, पर के बांन अनेक ।
 जाय संचरै पर सिरैं, धारै जुद्ध विवेक ॥१४०॥
 या विधि रण करि रिपुनि कौ, जीति छुड़ाए जीव ।
 जीवधर को लोक में, प्रकटी कला अतीव ॥१४१॥
 ज्यों दुरंतैय कौ दलि महा, जय पावै नय सार ।
 त्यों दल मलि दल दुष्ट कौ, जीत्यो साह कुमार ॥१४२॥
 वरयो विजै लखिमी प्रगट, आयो नगर मभार ।
 अपने जस करि दस दिसा, पूरवती अविकार ॥१४३॥
 कुंद पहूप अर हंस पख, जा सम उज्जल मांहि ।
 असौ उज्जल परम जस, प्रगट्यो पिरथी मांहि ॥१४४॥
 देह कंबर कौ आव तरु, पहूप सूर पण रूप ।
 कीर्ति मई सुगंधता, अद्भुत अतुल अनूप ॥१४५॥
 लोक नेत्र भमरा भये, परे अश्रिप्ता होय ।
 या विधि आये घर विषैं, लोक बेढिया सोय ॥१४६॥
 राज पुरोहित भूप पै, कही बात परकासि ।
 कंबर लार ह्वै साह सुत, लरे बहुत गुणरासि ॥१४७॥
 तब बुलाय नृप पूछिया, तुम आठनि में कौन ।
 जीत्यो भील गणानितैं, सो भाखी तजि मौन ॥१४८॥

नंदाद्वय के साथ गोदावरी का विवाह—

एक वाक्य बोले सब, लखि जीवधर सैन ।
जीत्यो है नंदाद्वय इह, जाके मृग से नैन ॥१४६॥
तब विवाह विधि करि नृपति, परराज्यो नंदाद्वय ।
दीनी पुत्री आपनी, गोदावरी गुणाद्वय ॥१४७॥

इति श्री जीवधरस्वामिचरित्रे महापुराणानुसारेण बालावबोध
भाषायां बाललीला-विद्याभ्यास भील-विजय-नैविमोचन नंदाद्वय-विवाह-
प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीय अध्याय

अरिल छन्द

गगनवल्लभ के विद्याधर राजा रानी वर्णन—

सुनीं और बक बात महारस की भरी,
भरत क्षेत्र वैताद्वय अरिण दक्षणा परी ।
अमर नगर समुत्तमर गगनवल्लभ जहां,
विद्याधर भूपाल गरुडवेगो तहां ॥१॥
भाइनि काढ़यो सोइ थान सिं धूपती,
तब तिन कियो विचार रहनु को सुभमत्ती ।
रत्नवीर कै माहि नाम मनुजो दयो,
परवत देखि मनोगि चित्त हरषित भयो ॥२॥
जहां बसायो नगर नाम रमणीय जो,
तहां रह्यो खग भूप क्षांति रस पीय जो ।
ताकै नारि स्वरूप चारिणी नाम है,
सुतो नाम गंधर्ववत गुणधाम है ॥३॥

एक दिवस गंधर्वदत्ता उपवासिया,
 जाय देहुरै पूजि देव गुण रासिया ।
 आय पिता कौं दई आसिका सुभकरी,
 देखी खेचरराय ताहि ओवन भरी ॥४॥
 तब पूछ्यो परधान नाममति सागरा,
 देहि कौन कौं याहि कहौ गुण आगरा ।
 तब बोल्यो परधान सुनौ भूपाल जो,
 मंदिरगिरहैं गयो सकल दुख टालजी ॥५॥
 नंदन वन कै माहि पूर्व दिसि देहुरा ।
 तहां वंदिया देव जगत के सेहुरा ।
 दरसन कारणि नाम विपुलमति चारणा,
 आये हे जोगीस जगत के तारणा ॥६॥
 करि प्रणाम मै सुन्यो धर्म जिनराय कौं,
 जगत पूजि जग पार करण सुखदाय कौ ।
 बहुरि पूछ्यो एह कहौ जग तातजी,
 मेरे नृप की सुता रूप विख्यात जी ॥७॥
 ताहि कौ पति ह्वै कौन तब मुनि बोलिया,
 मुझ परि होय दयाल अवधि द्विग खोलिया ।

गंधर्वदत्ता के विवाह की भविष्यवाणी—

भरत क्षेत्र कै माहि देस हेमांगवा,
 तहां राजपुर नगर हरै सुरपुर मदा ॥८॥
 सत्यंघर भूपाल सत्य भूषण घरा,
 ताकै विजया नाम महारांनी परा ।
 तिन कौ सुत मतिवान वरै तांकी सही,
 कौन रीति करि सोहु धारि तू उर मही ॥९॥

तेरे नृप की सुता धारिहै धारणा,
 जो तर वीन बजाय होय चित हारणा ।
 सो बहु गुण कौ नाथ हाथ मेरी गहै,
 तौन जगत के मांहि मोहि कोत न लहै ॥१०॥
 सुनि परतज्ञा एह धाय हैं बहु नरा,
 वीन स्वयंवर मांहि भूचरा खेचरा ।
 कोई ताहि रिभाय सकै नहि नागरा,
 सत्यंधर की पूत गुणनिकी सागरा ॥११॥
 वीन बजाय रिभाय ताहि परतें सही,
 हौनहार ए बात सकल मोसीं कहीं ।
 ज्यों मो कौ समुभाय कह्यो मुनिरायजी,
 त्यों मैं तुम सीं कह्यो सु श्रीसर पायजी ॥१२॥
 सुनि मंत्री के वैन सोच करि भूपती,
 बोल्यो सुनि मंत्री सच्चित्त धरि सुभमति ।
 ताकी आवन इहां होइ किस रीति सीं,
 कैसे सो गुणवान विवाहै प्रीति सीं ॥१३॥
 प्रकट कह्यो परधान भूपति यों तवै,
 कह्यो मोहि संजोग साधुन यों सबै ।
 नगर 'राजपुर' मांहि महा धरमातमा,
 'वृषभदास' इक सेठ दास परमातमा ॥१४॥
 जाकै सुन्दर तारि नाम 'पद्मावती',
 ताकै सुत 'जिजवत्त' सकल ए जिनमती ।
 एक दिवस पुर पासि प्रीतिवर्द्धन बना,
 तहाँ विराजें आय केवली निजघना ॥१५॥
 सागरसेन सु नाम ज्ञान के सागरा
 त्रिभुवन गुरु जगदीस गुणनिके आगरा ।

पिता सहित जिनदत्त पूजिवा आइ है,
दे परदक्षणा जोरि हाथ सिरनाइ है ॥१६॥

गवडवेग हू जहां जायगौ दरसनै,
देखि तहां जिनदत्त भक्ति रस सरसनै ।
करिहै तासौं प्रीति धर्म अनुराग सौं,
जानै गौ इह प्रीति भई बड भाग सौं ॥१७॥

खग मैं वामैं भेद भाव रहि है नहीं,
हौनहार इह बात अल्प दिन मै सही ।
ताही तें इह काज सरैगो ब्याह को,
ताही कै पुर ब्याह-होय उछाह को ॥१८॥

ए मुनि भाषैं वैन मोन खै नाथ जी,
ते मै तोसौ कहै सकल बड हाथ जी ।
मुनि भाषी सो भई प्रीति जिनदत्त सौं,
भेद रह्यो नहि कोई जैनमत रत्त सौं ॥१९॥

अब तू मुनि जा भांति मिलै संजोग जी,
वृषभवास बड भाग गह्यो मुनि जोग जी ।
जिनदत्तहि सब सौंप साध गुणपाल पै,
दिक्षा लीनी देव सकल अघटाल पै ॥२०॥

बहुरि सुव्रता पासि त्यागि जग की मती,
भई अर्यका सेठ नारि पदमावती ।
जे कुलवंती नारि पतिव्रत धारिणी,
तिनकी एई रीति कही सुभकारिणी ॥२१॥

अब जिनदत्त सपूत पाय पद तात कौं,
परकासै निति धर्म घातिया घातकौ ।
अतुल द्रिष्य कौ ईस सीस सेठानि को,
सिख्या दायक धीर सुगुर जेठानि को ॥२२॥

सो व्योपार निमित्त आइहै हथां प्रभू,
 रतन दीप कै मांहि रतन बहुते बिभू ।
 ताही तैं इह काज सिद्ध ह्वै गौ महा,
 जतिसागर ए तात भाणि चुप ह्वै रहा ॥२३॥
 कैयक दिन में तहां वरिणकपति आइयो,
 खुसी हुवो खग भूप ताहि उर लाइयो ।
 पाहुन गति अति करी रीति पाली सबै,
 करि अति चित्त प्रसन्न बात भाषी तवै ॥२४॥
 तेरै मेरै भेद रह्यो नांही भया,
 तन मन जन धन धाम एक ह्वै परणया ।
 मेरी तेरी सुता दोय नांही गनी,
 तेरै पुर परणाय व्याह की ह्वै धनी ॥२५॥
 वीन बजाय रिभाय याहि जीतै जिकी,
 वर पुत्री की होय घोर निश्चै तिकी ।
 ए सुनि खग के वैन सेठ जिनबस्त जो,
 मित्राई प्रतिपाल धर्म मै रत्त जो ॥२६॥
 निज पुत्री सम जानि विश्वाधर की सुता,
 लेय गयो निज नगर बहुत खग संजुता ।
 रच्यो स्वयंवर गेह मनोहर वन महैं,
 जाकी सोभा देखि देव अचिरज गहैं ॥२७॥
 बहुत कला में निपुन भूचरा खेचरा,
 आये अति सुकुमार वीन में तत्परा ।
 प्रथमहि पूजा करी देव जिनराय की,
 महा मंगलाचार करण मुखदाय की ॥२८॥
 जब आये सब सुघर स्वयंवर साल में,
 दीप अधिकी कान्ति जिनों के भाल में ।

तब आई गंधर्ववता गुणरासिका,
 लैकै वीन प्रवीन महारस भासिका ॥२६॥
 नाम सुघोषा वीन सुलक्षणा की भरी,
 ताके तारनि मांहि सुवरस रसभरी ।
 वीन बजाई शुद्ध जबै विद्याधरी,
 हुते वीन परवीन तिनी की सुधि हरी ॥२७॥
 जानी इह गंधर्व सूत्र की मूरती,
 अर इह सब संगीत कला की मूरती ।
 जीति सबयो नहीं कोई वीन मै नागरा,
 सब की जीति सुजान हियं मुण आगरा ॥२८॥

जीवंधर की वीणा प्रतियोगिता में विजय—

तबै जीतिवा याहि धीर जीवंधरा,
 सकल कला परवीन वीन में तत्परा ।
 प्राये सभा मभार सार गुण के भरे,
 पक्षपात सौं रहित तिनें साखी करे ॥२९॥
 अधिकारीनि सौं कह्यौ देहु वीणा हमै,
 जिनके तार बजाय चित्त अति ही रमै ।
 वीन न्यारि तिन ल्याय चतुर कै ढिग धरी,
 बोल्यो तब परवीन वीन दूषण भरी ॥३०॥
 केस रोम लव आदि इनौ मैं औगुना,
 हम की दे ए वीन राग चाहै सुना ।
 यों तिन सौं कहि साँपि दई अर बोलिया,
 सुनि हो नभ-चर सुता गाँठ उर खोलिया ॥३१॥
 जो तू मछर रहित महागुण की भरी,
 तौ तेरी दे वीन बजाऊँ चित धरी ।

तब अति होय प्रसन्न विद्याधर की सुता,
 दई सुशोषा वीन सुद्ध तारनि जुता ॥३५॥

लैकै वीन प्रवीन बजाई रस भरी,
 राग सूत्र अनुसारि लगाई रंग भरी ।
 काढ़े सुर गंभीर गीत संजुत महा,
 मधुर मनोहर रूप सुजस जाय न कहा ॥३६॥

सुनि करि चित्रत रहे भूचरा खेचरा,
 मृग मोहित व्है महाराग मै चित धरा ।
 या विद्या करि हुई कंवर की कीरती,
 जानी सब संसार राग में कीमती ॥३७॥

धन्य धन्य ए वचन तेहि पहूपा भये,
 तिन करि पूजे कुमर पंडितनि सिर नये ।
 हरयो गयो सुनि वीन चित्त कंवरी तनों,
 लगे काम के वांत भेदियो उर वनों ॥३८॥

भाला घाली कांठ कंवर के खग सुता,
 सीलवंति गुणवंति रूप करि अद्भुता ।
 कहा कहा नहि होय पुण्य परभाव सौं,
 तातें धारी पुण्य भव्य सुभ भाव सौं ॥३९॥

जैसे दिन मै दीप दिपें नहि भानु पें,
 तैसें पर नर भये कंवर बहु जान पें ।
 भासैं अति दैदीपमान निज लोक जे,
 जीबंघर परताप धरें गुन थोक जे ॥४०॥

थकित भई लख रूप लाल की खेचरी,
 एक रूप इक भाव होय करि ढिग खरी ।
 वीन सुशोषा हेत पाइयो सुभपती,
 करी वीन की तब खुसी व्है धुति अती ॥४१॥

सरय सु धोषा नाम दीन तेरी सही,
 बड़े वंसतै भई आप लोको चही ।
 मधुरा अति रस तार चित्त की हारिणी,
 कीयो कंवर मिलाप तैहि सुखकारिणी ॥४२॥
 अति प्रवीन तू सखी निपुन दूती महा,
 तेरैई परसाद गुणपती पति लहा ।
 ह्यां तौ अतिरस भयो सुनौ अव सज्जनां,
 काष्ठांगारिक पूत सु प्रेरचो दुरजनां ॥४३॥
 हरणे को गंधर्वदत्ता को जड़मती,
 काष्ठांगारिक नाम कियो उद्यम अती ।
 तब कुमर इह जानि भये असवार जी,
 जय गिर गज परि आप सांवता लारजी ॥४४॥
 तब तात गंधर्वदत्ता को नभचरा,
 गरुडवेग सुभ नाम बुद्धि मैं ततपरा ।
 जाय परचो मध्यस्थ दुहै कै सुभमती,
 अति उपाय परवीन बिद्याधर को पती ॥४५॥

गंधर्वदत्ता के साथ जीवंधर का विवाह—

शांत कियो दल शत्रु सारि मेटी सबे,
 अति उछाह तै व्याह हुवो पुर मैं तबे ।
 जीवंधर को देय पुत्रिका आपनीं,
 हुवो अति निहचित खेचरा को धनीं ॥४६॥

दोहा

रहै कंवारी कन्यका, व्याह जोगि घर मांहि ।
 मात तात को दूसरी, ता सम चिता नांहि ॥४७॥

पुत्री परणावन समा, नहि निश्चितता और ।
 तार्त भयो निश्चित अति, गच्छवेग खग भौर ॥४८॥
 जीवंधर अर खग सुता, वदधो परसपर नेह ।
 मिनके रस विगार कौं, कहत न आवै छेह ॥४९॥
 रति स्वरूप रामा इहै, काम स्वरूप कुमार ।
 वय किसीर नागर नवल, क्यौं न बडै सिगार ॥५०॥
 सम स्वरूप सम गुन सबै, सम विद्या सम सील ।
 क्यौं न परसपर प्रीति ह्वै, चित्त एक द्वय डील ॥५१॥

इति गंधर्ववत्ता विवाह निरूपणम् ॥

चौपई

अब आई मधु^१ रितु अति चाव, मदन वरधनी मोद सु भाव ।
 फूले तर बाजी सुभ वाय, प्रगटो परिमल अति अधिकाय ॥५२॥
 वन सुर मलय नाम विख्यात, नंदन वन की तुल्य लखात ।
 तहां चले नरपति अति रंग, चाले नगर लोक नृप संग ॥५३॥
 निज निज संपति प्रगट दिखाय, सुख कारण ले बहु समुदाय ।
 अति उद्यव उपज्यो वन मांहि, जाहि लखै सब सोक नसांहि ॥५४॥
 इक वैश्वरूपवत्त है साह, जाकै इनि दिनि बहुत उछाह ।
 सुतमंजरी जाकै नारि, रूपवती पति आजाकारि ॥५५॥
 ताकै पुत्री सुरमंजरी, अति सुंदर चतुराई भरी ।
 स्थाम लता दासी जा कनै, सुरमंजरि के गुण अति भनै ॥५६॥
 ले आई चंद्रोदय नाम, वूरणवास महा गुण घांम ।
 जहां लखै बहुजन समुदाय, तहां वचन यों भाषै जाय ॥५७॥
 या सम और न कोई सुगंध, जाकौं पाय भमर ह्वै अंध ।
 यों कहि इत उत फिरती फिरै, सब गुण मैं मुक्त स्वामिनि सिरै ॥५८॥

बहुरि कुमारवत्त इक साह, धिमला नारि तनों जो नाह ।
 गुणमाला ताकै सुभ सुता, रूपवती बहु गुण करि जुता ॥५६॥
 ताकै दासी विद्युतलता, मानवती चतुराई रता ।
 सोहू लाई चूरणवास, सूर्योदय इह नाम प्रकास ॥५७॥
 इह हू पंडित सभा मभार, करै प्रसंसा विविध प्रकार ।
 हमरे चूरण वास समान, तुम विषै हू तन्हि पखान ॥५८॥
 सकल कला परवीन सु जानि, मुझ स्वामिनि सी और न मानि ।
 भले भौह अर मृग से नैन, यों दासी बोलै मधु वैन ॥५९॥
 भमर भर्मेया परित हकीक, मेरे वचन न होय अलीक ।
 स्याम लता अर विद्युत लता, निज निज स्वामिनि गुण मैं रता ॥६०॥

सुगंध परीक्षा—

दोऊ दासी मझर भरी, करै विवाद सभा मैं खरी ।
 हुते सुगंध परखवा घने, वनें ठनें अतिरस के सनें ॥६१॥
 कोऊ परखि सकयो न सुगंध, दोऊ दीसैं एक अवंध ।
 अधिक बोध्य जान्यों नहि परै, तब जीबधर परख जु करै ॥६२॥
 परखि दुहैं कौ बोले लाल, चंद्रोदय है गंध बिसाल ।
 जो नहि मानौ मेरे वैन, तो देखी परतखि निज नैन ॥६३॥
 यों कहि मसलि हाथ तैं सही, दोऊ चूरण डारे मही ।
 चंद्रोदय परि भमर जु आय, लागे अति सुगंध परभाय ॥६४॥
 तव हुते जेते मतिवान, तिननें बात करी परमान ।
 सबनि सिराह्यो चंद्रोदयो, तब विवाद सारौ मिटि गयो ॥६५॥
 सदा करत ही विद्यावाद, दोऊ धारत हो उदमाद ।
 तब ते वाद दुहुनि कौ गयो, दोऊ कन्या अति हित भयो ॥६६॥
 गंध परखवा दूजौ तांहि, जीबधर सौ धरणी मांहि ।
 यों कहि सबनि प्रसंसा करी, इन की देह गुणनिसौ भरी ॥६७॥

ताही समै और इक बात, भई सोहु धारी बिख्यात ।
निज इष्टा सौं कूकर एक, क्रीड़ा करत हुतौ अविवेक ॥७१॥

जीवंधर द्वारा कुत्ते को रामोकार मंत्र सुनाना—

दुष्ट बालका लार जु परे, लकरी लोढी मारणा करे ।
दीरघी कूकर अति हो डरयो, अंडे द्रह मांही गिरि परयो ॥७२॥
प्राण छोडि वे सनमुख भयो, सुनिकं कुमर कड़ाई हि लयो ।
जान्यों इह जीवै नहि कोइ, याकौ मरण अवारहि होय ॥७२॥
तब ताके कांननि मैं आप, दियो मंत्र जो नासै पाप ।
नमोकार सौ मंत्र न और, इहै मंत्र सब श्रुतकौ मौर ॥७३॥

यक्ष मिश्रता—

धारयो कूकर मन मैं एह, सुभ भावनि सौं त्यागी देह ।
यक्ष सुवस्सन नामा भयो, महामंत्र तैं अध सब भयो ॥७४॥
चंद्रोदय गिर विषै निवास, देवनि कौ पूरव भवभास ।
जक्ष चितारि सकल परसंग, आयो कंवर पासि अतिरंग ॥७५॥
कहत भयो हो सुगुर सुजान, तुव परसाद लह्यो सुभ थान ।
पाई अति विभूति मैं नाथ, करि किरपा तैं पकरयो हाथ ॥७६॥
दीयो महामंत्र तैं सही, जाकी महिमा जाय न कही ।
याहि देखि सब अचिरज रहे, नमोकार के गुन सरदहे ॥७७॥
जक्ष कितज्ञ महा मतिवान, करी कंवर की पूज विधान ।
दिये दिव्य आभरण अमोल, अर मित्राई कही अडोल ॥७८॥
करी चीनती बारंबार, मोहि गनों अपनौ निरधार ।
अब सौं हरख-विषादनि मांहि, सदा चितारी संसै नांहि ॥७९॥
नमस्कार करि अपनै धाम, गयो जक्ष गावत गुण ग्राम ।
विनु कारण जे पर उपगार, करें तंहि पावै फलसार ॥८०॥

राजा के हाथी का विगड़ना—

वन की क्रीड़ा करि नर नारि, आवत है सब नगर मभारि ।
 नृप की हसती गंधमहंत, असनिवेग नामा बलवंत ॥८१॥
 विभक्त्यो लोक सबद तैं महा, अति ही मद करि छकि जो रहा ।
 काहू पै न निवारद्यो जाय, बहु प्रचंड अति दीरघ काय ॥८२॥

सुरमंजरी को बचाना—

सुरमंजरि के रथ परि गजा, दीरघो खौके संक ही भजा ।
 जीवंधर तव आये घाय, जिनतैं मोपि न कोइ उपाय ॥८३॥
 गज शिक्षा ग्रंथनि परवान, गज सौ लागे क्रीड सुजान ।
 करे परिभ्रम तीसर दोय, तामैं हस्ती सिधिल जु होय ॥८४॥
 इन कौं खेद होई नहि कबै, इन तैं सुर नर खग तिर दवै ।
 वसि करि हाथी वांढ्यो ठान, सांवत सकल कला कै जान ॥८५॥
 गज ग्रंथनि मैं लखि विज्ञान, करन लगे सब सुजस वखान ।
 आये कंवर आपनैं गेह, सुर मंजरि कै उपज्यो नेह ॥८६॥

जीवंधर के प्रति सुरमंजरी की आसक्ति—

लखि करि जीवंधर कौ रूप, भई कन्यका काम सुरूप ।
 ताकी चेष्टा लखि करि जबै, मात तात नैं जानी सवै ॥८७॥
 या पुत्री कै निश्चं इहै, जीवंधर मेरी कर गहै ।
 तब वैभवणवत्त करि नेह, आयो गंधोतकट कै गेह ॥
 करी वीनती बे कर जोरि, वहुनि आपनीं सीस निहोरि ॥८८॥
 सुनौं सेठपति मेरे वैन, जीवंधर जग कौ सुख दैन ।
 इह तेरी सुत अद्भुत रूप, मेरै परणैं अतुल अनूप ॥८९॥

सुरमंजरी के साथ विवाह—

करि तू मोहि आपनीं दास, तू किरपानिधि सुगुण निवास ।
 तब बोले गंधोतकट साह, या सम और जु कौन उछाह ॥९०॥

करी प्रमाण वात मैं एह, मेरी सुत परखीं तुव गेह ।
 तव वैश्रवणदत्त निज सुता, सुर मंजरि जो बहुगुण जुता ॥६१॥

तुरत हि भली महूरत पाय, जीवंधर कूं दी परणाय ॥६२॥
 भरी रंग रस सुर मंजरी, प्रीतम सौ अति प्रीति जु धरी ।
 सुरापन अर अति सोभाग, जीवंधर सौ नहि बड़भाग ॥६३॥

काष्ठांगार का षड्यंत्र—

करै निरंतर कीरति सबै, काष्ठांगारिक कोप्यो तवै ।
 मेरी हस्ती गंध अनूप, असनिवेग हाथिनि को भूप ॥६४॥

पीस्यो ताहि मान मद हरयो, कुधी वनिक सुत गरवै भरयो ।
 कुल की रीति तजी मति अंध, सीस्यो राजनि के परबंध ॥६५॥

बनियनिकी इह रीति अनादि, हरवै सूंठि आवला आदि ।
 वेचै और मोलि ले सही, इन तौ रीति और ही गही ॥६६॥

करै जाति माफिक जो काम, तासीं रहै तात कौ नाम ।
 इह कुल खंपण कुबुधि सुरूप, मन मैं भयो रहै सुतभूप ॥६७॥

तव तेज्योपुर कौ रछिपाल, चंडवंड नामा कुटवाल ।
 तासीं भाध्यो काष्ठांगारि, जीवंधर की तुरतहि मारि ॥६८॥

है इह बहुत कुचेष्टा भरयो, धन जोवन छकि बहु वहि परयो ।
 इह नृप आज्ञा सुनि कुटवाल, लेकर अपने सुभट विसाल ॥६९॥

सजि बजि दौरयो काल समांत, जीवंधर परि लेवा प्रांत ।
 तवै साह सुत सुनि इह बात, लेकर साथि भ्रात निज सात ॥१००॥

आउँ भाई आयुध भरे, करि साहस तलरव परिपरे ।
 तुरत भगाय दियो कुटवाल, जीते जीवंधर गुणमाल ॥१०१॥

बहुरि कोप करि काष्ठांगारि, भेजे बहुत सुभट रण कारि ।
 तव दयाल ह्वै मन मैं एह, धारी जीवंधर गुण गेह ॥१०२॥

कहा रंक ए मीसौ लरै, मेरे बांशनि तैं सब मरै ।
 पनि हिंसा सी और न पाप, जीवनि कौ करणी न सताप ॥१०३॥
 तातैं कीइ उपाय विचारि, भेटौ पाप कारिणी रारि ।
 करौ शांत या सठ कौ सही, तव सुमरथो उर में सुर वही ॥१०४॥
 जो अपनौ निज मित्र विसाल, जक्ष सुदरसन प्रीति रसाल ।
 आयो तुरत महा बलवान, संकल रारि भेटौ मतिवान ॥१०५॥
 अर जवि करी वीनतौ एह, एक बार लखिए मुझ गेह ।

जीवंधर का चन्द्रोदय पर्वत पर जाना—

चंद्रोदय परवत सुभधान, तुब परसाद लह्यो गुणवान ॥१०६॥
 तव जीवंधर जग सुखदेन, जखि कौ सुख देवे मृगनेन ।
 ताकी बात करी परमान, तव वह लेय गयो निज थान ॥१०७॥
 नाम द्विजैगिर हस्ति चढ़ाय, इह मित्रनि की रीति कहाय ।
 मित्रनि कौ पधरावै गेह, दे सुभ वस्तु करै अति नेह ॥१०८॥
 किनही नहि जानी इह बात, मात तात अर सातौं भ्रात ।
 करन लगे आकुलता महा, बिना कंवर नहि थिरता गहा ॥१०९॥
 जैसे नव पल्लव लहि वाय, अति ही हौंहि चलाचल काय ।
 तैसें निज जन अधिर जु भये, हमहि जताये विनु कित गये ॥११०॥
 तव गंधर्वदाता खग सुता, अति विद्या निधि अति गुण जुता ।
 निमत ज्ञान तैं जानी बात, कंवर नहि कछु उत्पात ॥१११॥
 रही निराकुल चित्त सयांन, समुझाये निज जनहित वान ।
 कंवर लाभ ले आवै सही, या मांहै कछु संसै नहीं ॥११२॥
 कबहु मैं जानौ गति कोय, रही हरष सौं थिर चित होय ।
 तव थाके गति वचन प्रमान, सबनि लह्यो संतोष निधान ॥११३॥
 जीवंधर जखि कै धरि जाय, कैयक दिवस रहे सुखपाय ।
 बहुरि भयो चलिवे कौ चित्त, अभिप्राय तव जान्यौ मित्त ॥११४॥

दोहा

काम मुद्रिका प्राप्ति—

काम रूपिणी मुद्रिका, महाशान्ति की रूप ।
सकल अरथ साधन करी, दीनी अतुल अनूप ॥११५॥
अर उतारि परवत थकी, किती दूरि पहुँचाय ।
आंती इनकों भै नहीं, लाभ होंहि अधिकाय ॥११६॥
तवै सीख करि धरि गयो, जक्ष प्रीति प्रतिपाल ।
शील कंवर के चरण जुग, जीवनि के दुखटाल ॥११७॥

इति श्री जीवंधर स्वामी चरित्रे महापुराणानुसारेण वासावबोध
भाषायां, 'वीन प्रगीनता', 'गंधर्ववत्ता विवाह', 'सुगंध परीक्षा', स्वानोपगार
यक्षमित्रता, गंधहस्ती विजय, सुरमंजरी विवाह, कीर्ति प्रकाश, काष्ठगार्गिक
कोपरलोचन, यक्षागमन युद्धप्रशान्ति यक्षग्रहेगमन काममुद्रिकालाभ निरूपणो
नाम्न द्वितीयोऽध्यायः ॥

तीसरा अध्याय

छन्द-चालि

अब चले कंवर गुण पूरा, पहुँचे केतीयक दूरा ।
इक नगर नाम 'चंद्राभा', दीखै जाकी बहु आभा ॥१॥
अति धीले उजले गेहा, वही सरद चांदनी जेहा ।
राजा 'धनपति' पुर स्वांमी, सो लोकपाल सो नांमी ॥२॥

पदमोत्तमा को विषधर द्वारा डसना—

अर है 'तिलोत्तमा' रानी, राजा के रूप निधानी ।
शुभ 'पदम' उत्तमा पुत्ती, अति सुंदर बहुगुण जुत्ती ॥३॥
इक दिवस गई ही वन में, क्रीडा की चाव जु मन में ।
सो इसी दुष्ट विषधरनें, जब सोच हूवो नरवर नें ॥४॥

तव करी घोषणा पुर में, इह निश्चै धारौ उर में ।
 जो याके प्राण उबारै, मणि मंत्रीषध परकारे ॥१५॥
 ताकी एही परणाऊं, अर सीस आपनी नाऊं ।
 फुनि आघौ राज हू तांकी, जो नर विष टारै यांकी ॥१६॥
 तव सब आये विष भारा, लखि लोभ बहुत परकारा ।
 पनि विष नहि हुवा दूरा, पचि पचि हारे गुन पूरा ॥१७॥
 तव नृप कै उपज्यौं सौका, दौरे सब दिसि अति लोका ।
 दूँढन विषहारी नर कीं, लखि जीवंधर ततपर कीं ॥१८॥
 पूछन लागी तुम मांही, विषहर विद्या अकनांही ।
 देखे अति आकुल लोका, तव बोले तत्व विलोका ॥१९॥
 कछु इक विद्या है भाई, पूरण विद्या जिनराई ।
 सुनि शवन महा संतुष्टा, ते तरे जांति तुन पुष्टा ॥२०॥
 इह नाग मंत्र मैं निपुना, सब ही वातनि में सुगुना ।
 तौपनि चित यी वह जक्षा, जो राखै अपनी पक्षा ॥२१॥
 नृप पुत्री निरविष कीनी, जिन मंत्र श्रीषदी दीनी ।
 तव राजा हुबो राजी, जानी ए नर परकाजी ॥२२॥
 अति क्रांति पराक्रमधारी, लक्षण करि लखिए भारी ।
 ए राजवंस वरवीरा, निश्चै नर नायक धीरा ॥२३॥
 तव निज पुत्री परणाई, अर बहुतहि प्रीति जनाई ।
 फुनि अरध राज हू दीयो, निज वचन सत्य नृप कीयो ॥२४॥
 कन्या के भ्रात बतीसा, अति ही सज्जन गुण ईसा ।
 सब लोकपाल प्रमुखाजे, जीवंधर सौं सुमुखाजे ॥२५॥
 विनयादिक गुण लखि तिनमें, जीवंधर राजी मन में ।
 कैयक दिन क्रीड़ा कोनी, सबही कीं सता दीनी ॥२६॥

अब ह्याँ तैं आगेँ चाले, अतुली बल निसि कौ पाले ।
 काहूँ सौँ नाहिँ जतायो, एकाकी गमन कगयो ॥१७॥
 कितीयक कोसनि पहुँचे जी, जीवंधर श्रीधर से जी ।
 इक खेम नगर सुर पुर सौँ, सब ही बातनि अति सरसौँ ॥१८॥
 इक वन है पुर तैं नीरा, देखत ही भेटे पीरा ।
 जो नाम मनीरम कहिया, अति सुंदर तरवर सहिया ॥१९॥

सहस्रकूट चैत्यालय के कपाट खुलना—

तामैं जिन मंदिर सोहै, सो सहस्र सिखर मन मोहै ।
 लखि जीवंधर जिन मेहा, कीयो वंदन धरि नेहा ॥२०॥
 दे तीन प्रदक्षणा भाई, दरसन कौ भाव धराई ।
 देवल के पाट बिसाला, ते खुले सहज ततकाला ॥२१॥
 हूवो दरसन जिनवर कौ, भवतारन त्रिभुवन गुर कौ ।
 जिन सतवन करनेँ लागौ, अति भक्त आंत रस पागौ ॥२२॥
 फूल्यो चंपा इक जब ही, दरसाती राग अधिक ही ।
 कोकिल चुप होय रहे हे, मधु रति कौ विरह गहे हे ॥२३॥
 ते लगे बोलनेँ मधुरा, सुनि करि राजी ह्वै सुधरा ।
 अर जिन मंदिर कै निकटा, इक सरवर अति ही सुधटा ॥२४॥
 सो निर्मल जल करि पूरो, हूवो आतप चक चूरी ।
 मानौ फटिक द्रव भरियो, गुन निपुन नरनि कौ करियो ॥२५॥
 तामैं फूले ततकाला, कमलादिक गंध बिसाला ।
 अति भमर करें गुंजारा, लखतां ह्वै हरष अपारा ॥२६॥
 करिकेँ जु सनाँन विसुद्धी, ते आठौँ द्रव्य सुबुद्धी ।
 जिनवर कौ पूजि सुरयांनी, श्रुति करन लगौ गुण खांनी ॥२७॥
 ता खेमनगर कौ वासी, इक समुद्र सेठ जस रासी ।
 जाकेँ निरवृति सेठानी, ताकेँ पुत्री मतिवांनी ॥२८॥

सो क्षेमसुन्दरी नामा, मांनौ लखिमी गुण धामा ।
 इक दिन विनयधर स्वामी, मुनि ज्ञान व्यांन विसरांसी ॥२९॥
 तिनकी कन्या कै ताता, पूछ्यो लखि कै अति ग्याता ।
 मेरी पुत्री कुन परनै, तव महा पुरुष यों वरनै ॥३०॥
 चंपी फूलें ततकाला, ह्वै कोकिल सबद रसाला ।
 फुनि पाट जिनालय उघरै, जय जय रव जब वह उचरै ॥३१॥
 अर फूलें कमल सु बासा, ए सकल चिह्न जे भासा ।
 जाके आवे तैं होवै, जा करि दुखिया दुख खोवै ॥३२॥
 सो व्याहै तेरी कन्या, इक पुरख धारिणी बन्या ।
 तव ही ते राखे पुरुषा, जे करैं सुवर की परषा ॥३३॥
 ते रहत हुते या वन मैं, लखि सुनर खुशी ह्वै मन मैं ।
 तिन जाय ततक्षण भाई, श्रेष्ठी कौ दई बधाई ॥३४॥
 जे चिह्न बताए गुरनै, ते प्रगटे पाय चतुरनै ।
 तव सुनि सुख पायो अति ही, सो जामैं श्री जिनपति ही ॥३५॥
 वहु दई बधाई तिनकीं, अर चलयो मनोरम वन कीं ।
 नहि मुनि के वचन अलीका, इह जानी जिन तह कीका ॥३६॥

क्षेमसुन्दरी विवाह—

लखि जोबधर कौ रूपा, जान्यो इह पुरुष अनूपा ।
 तव निज पुत्री परणार्ई, अर हित की रीति जनाई ॥३७॥
 फुनि करी वीनती एका, सुनिये चितधारि विवेका ।
 इक नगर राजपुर नामा, 'सत्यधर' नृप गुण धामा ॥३८॥
 हम कियो तहां निवासा, सो नगर बहुत सुखरासा ।
 वहां चैन बहुत ही पायो, सत्यधर राज सुहायो ॥३९॥
 इह धनुष बहुरि ए बांन्या, हमसीं करि नेह निधाना ।
 दोनैं सत्यधर नृप नैं, तिनसीं अति प्रीति जु अपनै ॥४०॥

एहैं तुम लायक नीकें, राखौ दीनें नृप तीकें ।
 तब राखें जीवंधर नैं, अति जुद्ध कला ततपर नैं ॥४६॥
 ह्वैं अति संतुष्ट सुजानी, कैयक दिन धिरता ठानी ।
 सुख सौं निवसैं ससुरा कै, अति सज्जन भाव भराकै ॥४७॥
 कबहुक विद्याधर पुत्री, अति विद्या रूप विचित्रा ।
 गंधर्वदत्ता गुणधामा, जाकै पति ही विसरामा ॥४८॥
 करि प्रिय दरसन कौं भावा, आई विद्या परभावा ।
 लखि वल्लभकौं वह सुखिया, हरखित कीनी निज अखिया ॥४९॥
 विनु मिलें गई फुनि घर कौं, आवी न जतायो वरकौं ।
 घर हैं तैं परछन आई, ह्यां हूं तैं परछन जाई ॥५०॥
 जानौं ए हित की रीती, जिन कै उर प्रेम प्रतीती ।
 देखैं प्रीतम उछाहा, नहि और बसत की चाहा ॥५१॥
 शुभ खेमसुंदरी गेहा, तिष्ठे सुंदर धरि नेहा ।
 कैयक दिन रहि गुणवंता, जीवंधर जगत महंता ॥५२॥
 काहू कौं नाहि जनायो, पर द्रव्य नही अपनायो ।
 ले धनुष बान बरवीरा, निसि कौं उठि चाले धीरा ॥५३॥
 है सुजन नाम इक देसा, हेमाभ नगर सुभ भेसा ।
 हड़मित्र नाम है राजा, जाकै निति उत्तम काजा ॥५४॥
 नलिना रांती गुणधामा, पुत्री हेमाभा नामा ।
 जाके जनमत ही निमती, यों कहत भयो इक सुमती ॥५५॥
 है नाम मनोहर वन जो, अति हरै लोक की भन जो ।
 तां भीतरि बहुत बिसाला, आयुध अभ्यास जु साला ॥५६॥
 अति करें धनुष अभ्यासा, बहु सस्त्र सूत्र अभ्यासा ।
 जा धनुषधार कौ वाह्यो, अति सीध हि जाय उमाह्यो ॥५७॥

सर लागि निसांनै भाई, ततपिण पाछी ही आई ।
 जा ही मारग करि जावै, ताही मारग फुनि आवै ॥५३॥
 इह हाथ तनी जु सफाई, सर अति हि वेश देजाई ।
 लखि फरसि करै नहि छेदा, है वाहन ही में भेदा ॥५४॥
 इह होय बल्लभा ताकी, सर श्रुत मैं अति मति जाकी ।
 है वाला अति हि सुलषणा, द्वैकुलकी कीरति रखणा ॥५५॥
 या विधि कौ सुनि आदेसा, आये सावंत वैसेसा ।
 धरि हेनाभा को आसा, लागे करने अम्यासा ॥५६॥
 जीबंघर हूं वहां आये, लखि रूप सवनि सुख पाये ।
 जब बोले धनुष धरैया, तुम हूं कछु जानौं भैया ॥५७॥
 सुनि कहत भये सुकुमारा, हम हूं कछु इक इह धारा ।
 तब कह्यो सवनि सरवाही, जाँ तुमरै चित्त उमाही ॥५८॥
 वेधो निसांनो वीरा, उर संक न आंनो धीरा ।
 तब धनुष चढ़ाय चलायो, सर कंवर सवनि दरसायो ॥५९॥
 सो लागि निसांनै भाई, ततपिण पाछी ही आई ।
 तब तहां हुते नृप लोका, तिन सब ब्रत्तांत विलोका ॥६०॥
 ते दौरि गये नृप पासे, हरषित बहै सबद प्रकासे ।
 सुनि करि नृप बहु सुख पायो, तिनकी दारिद्र नसायो ॥६१॥
 निज पुत्री जीबंघर कौ, परणाई गुण ततपर कौ ।
 अति उछव कीयो राजा, भेले करि सर्व समाजा ॥६२॥
 राजा कै पुत्र सपुत्ता, सब ही सज्जन गुण जुत्ता ।
 है बड़े कंवर 'गुणमित्र', दूजै 'बहुमित्र' विचित्रा ॥६३॥
 तीजे कौ नाम 'सुमित्र', चौथे 'धनमित्र' पवित्रा ।
 इरयादि अनेक कुमारा, 'जीबंघर' सौ हित धारा ॥६४॥

जिन सबकी कला समस्ता, जीवंधर दई प्रसस्ता ।
 नित ही के पृण्य प्रभावा, तिष्ठे गुन निपुन सुभावा ॥६५॥
 ए जाही ठौहर जावै, ता ठौहर सब सुख पावै ।
 अब सुनीं बात इक भाई, गंधर्वस्ता सुखदाई ॥६६॥
 जीवंधर कीं लखि जावै, सबसों परछन्न हि आवै ।
 इछा हूँ मन की जबही, देखै निज पति कीं तवही ॥६७॥
 नहि पति कौ हूँ सुखि याकी, नहि और लखें गति ताकी ।
 अति सीध हि घर तैं आवै, अर तुरत हि पाछी जावै ॥६८॥
 इक दिवस लखी देवर नै, नवाञ्च महामति धर नैं ।
 तव पूछ्यो तू कित जावै, काहू कौं नाहि जतावै ॥६९॥
 हम हूँ कौं ले चलि माई, जा दिसि तू गमन कराई ।
 तव बोली खेचर पुत्ती, अति विद्या गुण करि जुत्ती ॥७०॥
 जौ तेरो इछा वीरा, सौ सुनि तू इक चित धीरा ।
 जा दिसि कौ मेरी गमना, ता दिसि तू पहुँचै सुमना ॥७१॥
 देवाधिष्ठित गुणधामा, इह समर तरंगणि मामा ।
 सज्या है अति सुखदाई, या परि विधि पूर्वक भाई ॥७२॥
 निज बड़ भाई कौं ध्याये, करि सयन तहां तू जाये ।
 इह सुनि भावज के वचना, ताही विधि कीनी रचना ॥७३॥
 सज्या परि सूते निसि कौ, चित धरि भाई की दिसि कौ ।
 तव ही जु भोगिनी तुरता, विद्या अति सकतिनि जुगता ॥७४॥
 सज्या जुत भाई पासे, ले गई महा गुण रासे ।
 जब मिले परसपर दोऊ, इक जिन मारग के जोऊ ॥७५॥
 सुख पूछि उभै हितरासी, हूये इक ठौहर बासी ।
 प्यारे भाईनि कौ मिलिबौ, या सम नहि मन की खिलिबौ ॥७६॥
 अब याही देस मझारा, इक नगर सोमपुर भारा ।
 दड़मित्र भूपाल पवित्रा, ताके निज भ्रात सुमित्रा ॥७७॥

जाकै 'वसुंधरा' रानी, पुत्री 'श्रीचंद्रा' जानी ।
 सो नवयोवन बुद्धिवंती, अति रूपवती गुणवंती ॥७८॥
 इक दिन निज घर आंगन में, देखे क्रीडत हित मन मैं ।
 द्वै जाति परेवा भारी, जिन मैं इक नर, इक नारी ॥७९॥
 तिनकोँ लखि मुरछा आई, जाती समरण उपजाई ।
 तब हुती सहैली पासे, ते भई सकल दुख रासे ॥८०॥
 चंदन खस सीतल पानी, विभक्तादि भवकि मतिवांती ।
 संबोधि ताहि सुभ वचनां, भेटी मुरछा की रचनां ॥८१॥
 सुनि मात-पिता सुखदाई, कन्या की सखी बुलाई ।
 जो अलक सुंदरी नामा, अति चातुरता गुणधामा ॥८२॥
 है तिलक चंद्रिका कोया, पुत्री अति चेतन हीया ।
 तासौं भाष्यो हे सुमती, तो दिग उपजै नहि कुमती ॥८३॥
 पुत्री की प्राण समाना, है सखी महा गुणवांता ।
 करि मुरछा को उपचारा, तू पूछि सकल परकारा ॥८४॥
 तब इह कन्या पै जाये, पूछन लागी समुभाये ।
 तू देवांगन सी कन्या, कहि मुरछा कारण धन्या ॥८५॥
 जब श्रीचंद्रा यों बोली, तो मां है बुद्धि अतोली ।
 इह नाहि कछु कहवा की, अति परछन बात हिया की ॥८६॥
 ती पनि मैं तो सौ भाषीं, कछु भाव छिपाव न राखीं ।
 प्राणनि सौ अधिकी प्यारी, तू कबहु न मोसौं न्यारी ॥८७॥
 करि समाधान चित सुनि तू, मेरे मुख की सब धुनि तू ।
 निज पूरव भव संवधा, भाषीं सब ही परवधा ॥८८॥
 मुहि उपज्यो जाती समरा, उर धरि तू विवरा हमरा ।
 असें कहि बात सुनाई, करि भिन्न भिन्न समझाई ॥८९॥
 इह सुनि व्रत्तांत जु जब ही, उर मैं अवधारधो सब ही ।
 तब ही जु गई तजि ता पै, कन्या के मात पिता पै ॥९०॥

जा विधि कन्या में सुनियों, ताही विधि इन में मनियों ।
या भवथी पहली तीजें, भव सौ ले बात सुनीजें ॥६१॥

सोरठा

पूर्व भव वर्णन—

हेमांगद इक देश, जहां राजपुर नगर है ।
वरिणक वंस सु भेस, रतन तेज निवसें तहां ॥६२॥
जाकैं नारि सुजांन, नाम रत्नजल सही ।
ताकैं रूप निधान, नाम अनुपमा पुत्रिका ॥६३॥
गुण करि अनुपम होई, नही नाम अनुपमा ।
रमा उमा सी सोई, सुन्दर सनमति धारिणी ॥६४॥
ताही नगर मभार, कनकतेज इक सेठ है ।
जाकैं रूप अपार, नारि अन्नमाला कही ॥६५॥
साकैं सुवरण तेज, पुत्र दुरयती दुरविधो ।
जाकैं सुभ में जेज, असुभ काज में सोघ्रता ॥६६॥
पहली जानें नाहि, अंगुन सुवरण तेज के ।
रतनतेज मन मांहि, तवैं अनुपमा की सही ॥६७॥
करी हुती सुभ जांनि, सेठ सगाई सूझ सौ ।
पछें लक्षण पहचानि, करी अवज्ञा सठतनी ॥६८॥
मणि व्योहारी साह, ताही पुरि गुणमित्र जो ।
करिकैं अधिक उछाह, ताहि दई परणायं सो ॥६९॥
लहि पतिसौं संजोग, अलप काल ही सुख भयो ।
तुरत हि हुवो विधोग, जल जात्रा चाल्यो पति ॥७०॥
रतन बिसाहन काज, बँठी साह जिहाज में ।
बूझी बड़ी जिहाज, परी आय जल भरण मै ॥७१॥

मरण धनीं कौ जानि, दुखित भई अति अनुपमा ।
 महा रूप की खानि, अति बूझव दीहर गई ॥१०१॥
 बूझी जल में जाय, महा मोह परभाव तैं ।
 भव भव अति दुखदाय, मोह समान न शत्रु को ॥१०३॥
 नगर राजपुर मांहि, गंधोतकट सुभ सेठ है ।
 जा मैं औगुन नांहि, गुन अनेक करि जो भरघो ॥१०४॥
 ताके गेह मभार, जनम परेवा कौ लहघो ।
 दोऊ अति हित धार, इक नर इक नारी भई ॥१०५॥
 पवनवेग सुभ नाम, भयो कबूतर गुण मितर ।
 रतिवेगा अभिराम, भई परेवी अनुपमा ॥१०६॥
 गंधोतकट के पूत, सीखैं गुरु पै अक्षरा ।
 ए धारैं सब सूत, दोऊ तिन पै जाय कै ॥१०७॥
 आवक वस्त प्रवीन, सेठ सेठनी सुभमती ।
 जिन आज्ञा आधीन, तिनको लखिए सुरभिया ॥१०८॥
 भये शांति मति धीर, पंथी ही के जनम मै ।
 नदी गंग कौ नीर, तिसौ ऊजलो मन भयो ॥१०९॥
 अति हि परसपर नेह, धर्म सनेही अब भये ।
 वसैं सेठ कै गेह, परम प्रीति के पात्र ए ॥११०॥
 सुवरणतेज अयान, बैर भाव धरि जुगल सौ ।
 मूवो पाप निधान, हूवो दुष्ट विलाव सो ॥१११॥
 कबहुक इनको देखि, महा निरदर्ई पापधी ।
 अपनी औसर पेलि, पकरी रतिवेग सुभा ॥११२॥
 ग्रसै राह ज्यों कूर, चन्द्रकला को दुष्ट धी ।
 त्यों विलाव अचपूर, ग्रसी कबूतर की तिया ॥११३॥
 तवै कबूतर जान, अति ही भिरघो विलाव तैं ।
 नख पक्षादिक घात, करिक नारि छुडाय ली ॥११४॥

पकरै पापी याहि, ते तैलोक जु आइया ।
 अति हि डरायो ताहि, गयो भागि अति नीच जो ॥११५॥
 इक दिन पापिनि पासि, रची पार घ्यावन द्विषै ।
 तामैं सो गुणरासि, आय गयो परबी ब्रती ॥११६॥
 रतिवेगा धरि आय, दरसाइ लिखि भूँच सौं ।
 तजी कवूतर काय, निश्चै धारी सज्जना ॥११७॥
 करी दिलासा साह, सवनि सतोषी पक्षणी ।
 अति उपज्यो पतिदाह, त्यागे प्राण कवूतरी ॥११८॥
 सो जिनधर्म प्रभाव, श्रीचंद्रा पुत्री भई ।
 तुम्हरै सरल सुभाव, महा गुणवर्ती मतिवती ॥११९॥
 आजि क्रीडते देखि, सुघट परेवा दंपती ।
 निज पूरव भव पेखि, पाय मूरछा भै परी ॥१२०॥
 मो सौं निह संदेह, भासी परभव वारता ।
 मैं तुम आमैं एह, कही जथारथ नाथ जो ॥१२१॥
 अलक सुंदरी बँन, सुनि करि चितातुर भये ।
 क्यौं लहिये सुख देंत, पूरव भव पति पुत्रिकी ॥१२२॥
 ता विनु या भव मांहि, नहि परनें इह सुभमती ।
 या कै बाँछा नांहि, और पुरष की चित्त मैं ॥१२३॥
 पूरव भव वस्तांत, श्रीचंद्रा की पट्ट मैं ।
 लिखवायो अति कांत, तवें सुमित्र सु बुद्धि नैं ॥१२४॥
 रगतेज इक नाम, नटवर गति मैं अधिक जो ।
 मदन लता एक धाम, नटनी नृत्य प्रवीन सो ॥१२५॥
 तिन की करि सनमान, दानादिक बहु देय कैं ।
 सौंप्यो पट्ट निधान, सब व्योरी समुजाय कैं ॥१२६॥
 नट नटनी पट लेय, पुहपक बन मैं जाय कैं ।
 फँलायो चित्त देय, नाचन लागे रीति सौं ॥१२७॥

देखैं लोक अनेक, देखि देखि व्हैं अति खुशी ।
 ताहि वन मैं एक, महा मुनीसुर दिद्वृती ॥१२८॥
 हुते ध्यान लवलीन, ज्ञान परायण पूरण ।
 मन उनमन तन खीन, नाम समाधिसुगुप्त जे ॥१२९॥
 अर ताही वन मांहि, क्रीडा कौ कन्या पिता ।
 आयो हो सक नाहि, तहां भेटिया मुनिवरा ॥१३०॥
 तीन प्रदक्षणा देय, करि बंदन कर जोरि कै ।
 जा करि शिव सुखलेय, सो जिन धर्म सुन्यों सुधी ॥१३१॥
 सुरग मुक्ति दातार, धर्म समान न वस्तु को ।
 जे आत्म ग्यातार, ते हो धर्म धरैं सही ॥१३२॥
 मुनि कै धर्म सुरूप, पूछ्यो राय सुमित्र नैं ।
 हे मुनिगण के भूप, कहौ शिरपा कारे ओ गुरु ॥१३३॥
 पूरव भव भरतार, मेरी पुत्री कौ प्रभू ।
 कौन सु खेय मभार, तिष्ठै कौन दसा धरया ॥१३४॥
 तव बोले मुनिराय, अवधि ज्ञान लोचन महा ।
 मुनी सुचित्त लगाय, नगर नाम हेमाभपुर ॥१३५॥
 तिष्ठै तहां अनूप, वरिणक पुत्र सावंत जो ।
 जोवन-वंत सुरूप, लखिमीघर भाई नरै ॥१३६॥

छंदवड दोहा

ए मुनि मुनि के वचन बिसाला, हरष्यो राव सुमित्रा ।
 ताही क्षण पुत्री कौ ले करि, चाल्यो बुद्धि विचित्रा ॥१३७॥
 संग लये नट नटिनी दोऊ, लये परिग्रह लारा ।
 पहुच्यो पुर हेमाभ सिताबी, जहां पुत्रि भरतारा ॥१३८॥
 जाय तहां अर नृत्य नचायो, लोक देखनै आया ।
 लोक लार नंदाडि हु आया, पट मैं चित्त लगाया ॥१३९॥

उपज्यो जाती समरणा याकों, तुरत मूरछा होई ।
 सीत क्रिया करि सज्जन लोकां, महा मूरछा खोई ॥१४०॥
 पूछ्यो जीवंधर नें कारण, मूरछा की भाई सौं ।
 तब नंदादि पट्ट कौं लिखियों, भाष्यो मुखदाई सौं ॥१४१॥
 सो गुणचित्र अनुपमा भरता, पाय कबूतर काया ।
 भयो रावरी त्हीरौ भाई, कुल श्रावक कें आया ॥१४२॥
 सुनि करि खुसी भयौ जीवंधर, थप्यो व्याह सुखदेवा ।
 प्रथम हि मंगल कारण महती, रची जिनेसुर सेवा ॥१४३॥
 सुनौ और वत्सांत जु भाई, हरि विक्रम इक नामा ।
 भीलनि कौ नायक नामी जो, जाकैं बहुत हि गामा ॥१४४॥
 सो भाइनि के भैं तैं भागौ, छांडी धरा पुरांनी ।
 आय कपिबन्ध नाम वन मांही, धिरता अपनी ठांनी ॥१४५॥
 नाम दिसानिर परवत ऊपरि, बनगिर नगर वसायो ।
 जाकैं नारि सुबरी नामा, सुत वनराज कहायो ॥१४६॥
 हरि विक्रम कौ प्यारे चाकर, बट वृक्ष जु अर मित्रा ।
 चित्रसेन फुति संधव नामा, बहुरि अरिजय चित्रा ॥१४७॥
 शत्रु मर्दनो अति बलवंता, ए छह मुखिया गनियां ।
 अर वनराज पुत्र कै दोई, सखा एक चित भनियां ॥१४८॥
 सोहजंघ अर है श्रीवरा जु, एक दिवस ए दोई ।
 नगर सोभपुर गये देखिवा, श्रीवरा तिन जोई ॥१४९॥
 खेलत ही उपवन कै मांहि, बहुत सहैली संगी ।
 लखि कें याकौ रूप अनूपम, देविनि कौ सौ अंगी ॥१५०॥
 करत प्रसंसा जात हुते ए, दाटे घोट कपालां ।
 ते घोरनि कौ पाती पावन, आये नदी नाला ॥१५१॥
 दोऊ भोल रोस धरि मन मै, गये आपनैं आने ।
 ही बात वनराज कनारें, हरि विक्रम नहि जानें ॥१५२॥

सुंदर रूप क्रांतिधर कन्या, हम दीखी अदभूता ।
 असी और नहीं मंडल में, सुनि किरातपति पूता ॥१५३॥
 भयो महा कामातुर पापी, जो अन्याय सुरूपा ।
 सुवरण तेज बहुरि मंजारा, सो वनराज परूपा ॥१५४॥
 पूरव जनम हुती जु सगाई, अब अति आतुर हूवो ।
 काहू भांति ताहि तुम ल्यावो, दीयो तिनकी दूवो ॥१५५॥
 ते अति जोर चोर अवपूरा, लोहजंघ श्रीवेणा ।
 ले करिकै थक सांवत लारै, आये कन्या लेणा ॥१५६॥
 कन्या की सोवनसाला जो, ताहि ठोक करि पापी ।
 लाय सुरंग सोवती कन्या, लेव गये संतापी ॥१५७॥
 डारि गये इक लिखि कै पत्रा, नाम करण कीं आई ।
 पहुँचे दुरा श्रीलपति गुतपै, रासि विषै ही तेई ॥१५८॥
 ससि रेखा जुत सनि मंगल ज्यों, श्रीचंद्रा जुत दोऊ ।
 लखि करि खुसी भयो वनपति सुत, जोवन छक मति खोऊ ॥१५९॥
 प्रात समै वह वांच्यो पत्रा, जानी भीलां लीनी ।
 कितर मित्तर यक्ष मित्र नै, तवै चढ़ाई कीनी ॥१६०॥
 कन्या के भाई ए जोधा, पठए राव सुमित्रा ।
 तुरत जाव भीलन सौ लरिवा, लागे जुद्ध विचित्रा ॥१६१॥
 लोहजंघ अर श्रीवेण जु द्वै, लरे बहुत कवरनिसों ।
 हारि गये राजा के पुत्रा, जीति सके नहि इनिसों ॥१६२॥
 श्रीचंद्रा ले माँन जु बैठो, विनु दरसन जिनराई ।
 अर विनु देखें नगर सोभपुर, भोजन करीं न काई ॥१६३॥
 लखि कै याकी विरकत चित्ता, वनपति सुत बहु दूती ।
 तेडी अर तिनपै यों भाषी, याहि करौ रस गूती ॥१६४॥
 तव वै आई श्रीचंद्रा छिग, साम भेद बहु जानै ।
 बोलि महासती सौ पापनि, तू कयौ चित्ता आनै ॥१६५॥

करि जु सनातन पहरि सुभ कपरा, धारि विभूषण वाई ।
 फूल माल लै चरचि सुगंधा, लै भोजन सुखदाई ॥१६६॥
 करहु सुखनि की बात जु हमसौ, मितख जनम फल आई ।
 भोग विमुख मति नरभव खोवै, नव जोवन सुखसेई ॥१६७॥
 जौनि अनेक विषे इह दुल्लुभ, ताहु मै इह रूपा ।
 नांही वर वनराज सारिषी, पुष्पनि मांहि अनूपा ॥१६८॥
 करि अंगीकृत वनपति सुत की, चांदिनि ज्यों चंदर की ।
 आदि चक्रिकी राजभूति ज्यों, उची जहाँ इंदर की ॥१६९॥
 जैसे भूषण कल्प वृक्ष सीं, लपटि रहै आभरणा ।
 त्यों वनराज कंवर सौ सुंदरि, तन मन एकीकरणा ॥१७०॥
 लहि करि चितामणि की सुबुधी, कौन हाथ सौ डारै ।
 इत्यादिक दूतिनि के वचना, कन्या का मन धारै ॥१७१॥
 जब वनराज दिखायो भै अति, सुनी तात ए बातें ।
 तब तिह दाख्यो पुत्र कुबुद्धी, करै न अधिकी यातें ॥१७२॥
 अपनी पुत्रिनि भेली राज्ञी, दीनी अधिक दिलासा ।
 इह ती मौन लिया ही बैठी, परमेश्वर की दासा ॥१७३॥
 अब द्विभिन्न सुमित्र आदि सह, भेले क्हे करि भाई ।
 सजि वज्र सेन लेख कैं अधिकी, आये तुरत चलाई ॥१७४॥
 घेरयो नगर भील की सीधहि, भील हु लरिवा आया ।
 जब जीवंधर जीव दयाला, मन मै मता उपाया ॥१७५॥
 नास होयगी बहु जीवनि को, या मै कछु न भलाई ।
 तब चितयो मन मांहि सुंदरसन, जक्ष महा सुख दाई ॥१७६॥
 यादि करत ही आयो जक्षा, ल्याय कन्यका दीनी ।
 कारिज सिद्धि कियो मित्रनि की, किसहि न पीरा कोनी ॥१७७॥
 पाप भील जे प्रांती जानी, करि उपाय रण टारै ।
 काहु कौन सतावैं कबही, सहजें काम सुधारै ॥१७८॥

काज सिद्धि करि रारि मेटि करि, चले आपनैं थांता ।
 फुनि वनराज दुष्ट बुद्धि श्रुति, आयो लरन अयांतां ॥१७६॥
 तब ताकौ अति नीच पुरिष लखि, पकरयो जक्ष संयातैं ।
 सौंण्यो जीबंघर कौ तब तिन, दीयो बंदी खानैं ॥१८०॥
 सेना रम्य सरोवर ऊपरि, किये सेन जुत डेरा ।
 भोजन कारण चारण मुनिवर, आये सिव सुख हेरा ॥१८१॥
 करि वंदन विधि पूरव भोजन, दीयो जीबंघर नैं ।
 पंचाचरिज दान परभावैं, पाये गुण ततपर नैं ॥१८२॥
 देखि दान फल त्यागि चित्तमल, तीतहि जनम प्रबंधा ।
 लखे भील सुत या भवताई, जिते हुते संबंधा ॥१८३॥
 पुत्र छुड़ावन बल ले आयो, हरि विक्रम अति प्रबला ।
 ताहू कौ पकरयो जधि ततखिण, जखि आगँ जन अबला ॥१८४॥
 तब वनराज सवनि पैं भाष्यो, सुनौ सकल ही सुबुधो ।
 या भवतैं पहली तीजें भव, हुतौ बरिणक सुत कुबुधो ॥१८५॥
 सुवरण तेज नाम ही मेरी, जिन मारग न पिछान्यो ।
 सेये सात विसन मैं अति ही, कीयो मन कौ जान्यो ॥१८६॥
 मरि करि मारजार हूं हूवो, इक होती जु परेवी ।
 मैं पापो मारन कौ दौरयो, महा दुष्टमति सेवी ॥१८७॥
 कबहुक कोई मुनिवर स्वांमी, पठत हुते जिनवांनी ।
 तामैं चउगति दुख कौ वरणन, भाषत हे गुणखांनी ॥१८८॥
 सुनि करि बैर भाव मैं त्याग्यो, तजि विलाव की देहा ।
 लह्यो भील कै कुल मैं जनमा, या सौं धारयो तेहा ॥१८९॥
 सुवरण तेज जनम में मेरी, यासौं हुती सगाई ।
 इह होती जु अनुपमा नामा, मोहि नही परणाई ॥१९०॥
 तातैं नेह भाव तैं मोकौं, उपजी हरण कुबुद्धी ।
 सो सब माफ करौ मुझ चूका, तुम ही महा सुबुद्धी ॥१९१॥

सुनि करि याके वचन संवनि नैं, जानी बात प्रमाना ।
 पूरव नेह थकी इति आनी, और न कारण जाना ॥१६२॥
 तवै कोध तजि भये सांत चित, जीवधर ततकाला ।
 पुछि सुमित्र बहुरि बिड़मित्रैं, छोडे अटवी पाला ॥१६३॥
 हरिथिक्कम बनराज दुहं सौं, क्षमा भाव करि भाई ।
 धर कौं विदा किये तजि दोषा, जिनमति रीति सिखाई ॥१६४॥
 सत पुरषनि कै धरमिक सौं हित, धरम समान न कोऊ ।
 ह्यां तै गये नगर हेमाभ जु, दुखियनि के दुख खोऊ ॥१६५॥
 दोय तीन दिन रहे तहां फुनि, नगर सोभपुर आये ।
 श्रीचंद्रा नंदाज्य कंवर कौं, दई तहां परणामे ॥१६६॥
 अति विभूति सौं भयो विवाहा, जोरी मिली समाना ।
 धन जोवन विद्या गुण पूरा, दोऊ रूप निधाना ॥१६७॥

इति श्री जीवधर-स्वामी-चरित्रे महापुराणानुसारि बालावबोध भाषायां
 पद्मसोत्तमा विधापहार, पद्मसोत्तमा विवाह, सहस्रकूट चैत्यालय कपाट स्वयमे-
 बोदघटन, क्षेमसुंदरी विवाह, धनुर्वेद प्रवीणता, हेमाभा विवाह, नंदाज्य मिलन
 श्रीचंद्रा नंदाज्य पूर्वभव-वर्णन, श्रीचंद्रा हरण, किरातो परिगमन, किरात
 बंधन, किरात मोक्षन, नगर सोभपुरे नंदाज्य श्रीचंद्रा विवाह वर्णनो नाम
 तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थ अध्याय

छंद भुजंगीप्रयात

जबै होई चूकौ विवाहो विधी सौं,
 तवै सीख मांगी हितू भूपती सौं ।
 महाधीर जीवधरा लार भाई,
 सु हेमाभ नगैं चले सुखदाई ॥१॥

बड़ी सेन साथे सुपंथा मझारे,
 लख्यो एक तालाव डैरा जु ढारे ।
 गये लोक पांणी भरीवा कितेई,
 डसं दुष्ट भाखीं पोरें घरोई ॥२॥
 सुनी बात स्वामी जवें चित्त मांही,
 विचारी निसदेह मांखी जु नांही ।
 इहां कारणो और होई सुकोई,
 तवें चितयो जख भीरी जु सोई ॥३॥
 चित ताहि आयो हितू जख राया,
 विडारी महा खेचरी नाम माया ।
 सही खेचरें लेय आयो जु पावां,
 तवें आप पूछी तिसैं सुद्ध भावां ॥४॥
 किसैं हेत रोवयो इहैं तें तलावा,
 तवें खेचरो भासई आप भावा ।

पूर्वभव कथा—

सुनौं भव्य मेरी कथा चित्त लाये,
 हमारे हि भागैं इहां आप आये ॥५॥
 हुतौ एक माली धनाढ्यो महंता,
 पुरे राजनये वसैं पुष्पदंता ।
 'त्रिया' नाम तार्क सुकुसुम्भी है,
 सुतो जाति भट्टो सु संगचरी है ॥६॥
 तहां ही वसैं जू धनंजय नामा,
 त्रिया नाम नंभी सती सील धामा ।
 सुतो नाम चंद्राभ मेरो सखा सो,
 सही जैनधर्म जिनधीस दासो ॥७॥

तिसैं तू कदाचित्त घमैं स्वरूपा,
 दिखातौ हुतौ नाथ कारुण्य रूपा ।
 तबैं मैं हु स्वामी हुबो घमैं रागी,
 तजे जू अभक्षा भयो पुण्यभागी ॥८॥
 करे आयु पूरी भुबो हूं प्रभूजी,
 लह्यो जन्म विद्याधरौ की विभूजी ।
 इही खेत्र मांहीं सुवेताडि वासी,
 गयो एकदा सिद्ध कूटें बिलासी ॥९॥
 लखे चारणा दीय साधू महंता,
 बिनैवंता होई नमैं ज्ञानवंता ।
 तिहारे हमारे सुनं भी तहांजी,
 तवैं देखनैं तोहि आयो इहांजी ॥१०॥
 इहै ताल रोकयो दियो नां प्रवेसा,
 तवैं रावरौ दर्स पायो नरेसा ।
 कहौं मैं तिहारे सुनौं भो विवेकी,
 कहे श्रीधिज्ञानी करे चित्त एकी ॥११॥
 सही धातकी खंड दीपो दिपै जी,
 लखें सोभ जाकी सुरालै छिपैजी ।
 जहां पूर्व वैदेह क्षेत्रो विसाला,
 तहां पुष्कलावत्य देसो रसाला ॥१२॥
 वसै पुंडरीकि नृप नयी सुधाना,
 जयंध्रो नृपो नीतिवांतो सुजाना ।
 जयावत्य रांनी जयव्रत पूता,
 सर्वे जैनधर्मी धरें जे विभूता ॥१३॥

गयो एकदा क्रीडनै राजपुत्तो,
 मनोहार वागै सखा संध जुत्तो ।
 लख्यो हंसवाला जब चेटकानै,
 तवै हयाय सौण्यो कुमारै तिनानै ॥१४॥

बोहा

करतौ क्रीड़ा सर बिषै, रहतौ माता पास ।
 खैन पावतौ तात पै, भरतौ महा विलास ॥१५॥
 तात मात तैं चेटका, बृथा दिछोह्यो वाल ।
 कौतुक कौ लीयो कंवर, चरणा चूँच चखि लाल ॥१६॥
 पोषन कौ उद्यम कियो, राख्यो नीकी भांति ।
 पै या विनु क्षण एक नहि, तात भात कौ सांति ॥१७॥
 ओक सहित माता पित्त, सबद करैं नभ मांहि ।
 बारंबार विलाप के, या में संसै नांहि ॥१८॥
 तवै चेटकां क्रोध करि, मारयो सर तैं हंस ।
 पाषिनि के परिणाम में, होय न करुणा अंस ॥१९॥
 भागि गई तव हंसनी, लखि पति कौ परलोक ।
 मुनि रांनि ए बात सहु, उर में धारयो सोक ॥२०॥
 चेटक तैं अति कोप करि, पुरतैं दियो निकासि ।
 कंवर थकी हू अति खिजी, जीव दया कौ रासि ॥२१॥
 रे रे पुत्र अमान तैं, कियो निद्व इह काम ।
 कमें राखि खल चेटका, हुवौ पाप कौ धाम ॥२२॥
 अब या बालक कौ सही, मा सौ तुरत मिलाय ।
 तव हि जयप्रथ कंवर नैं, दयो ताहि पहुँचाय ॥२३॥
 अर बहुत हि करुणा करी, मात वचन उर धारि ।
 निद्यो निज कौ अति तिनैं, दई कुसंगति टारि ॥२४॥

दिवस सोख मैं मात पै, पहुँच्यो बालक सोई ।
 लह्यो हंसनी चैन जब, निज सुत कौ अवलोय ॥२५॥
 चातक कौ चउमास ज्यौ, जलधर धारा जोग ।
 करिकैं अति तिरपत करै, हरै दाह दुख सोग ॥२६॥
 त्यों बालक कौ मात सौं, जयद्वय कंवर मिलाय ।
 कियो सुखी सब दुख हरचो, जिन आज्ञा उर लाय ॥२७॥
 चैत्र मास ज्यौ फूल कौ, करै बेलि संजोग ।
 भानु उदै अलि कौ जथा, करै कमलिनी जोग ॥२८॥
 त्यों नृप सुतनै हंस सुत, धरयो हंसिनी गामि ।
 पर दुख हरण समान नहि, और पुण्य की गामि ॥२९॥
 कैंयक दिन घर में रहे, सुख सौं कवर सुजान ।
 कबहु कलहि वैराग कौ, कारण अति भतिवान् ॥३०॥
 राज भार परिवार तजि, ले सिर पर तप भार ।
 परम समाधे देह तजि, लह्यो सुरग सुख सार ॥३१॥
 सहस्रार नामा सुरग, सही बारसौं होय ।
 अष्टादस सागर तहां, सुख लहि चै करि सोय ॥३२॥
 भयो धर्म धो अति चतुर, तू जीवंधर नाम ।
 हण्यो हंस चेलानि नै, करि हिंसा परिणाम ॥३३॥
 सो काष्ठांगारिक भयो, तिह मारचो तुव तात ।
 युद्ध विषै जोधा महा, सत्यंवर सुख दात ॥३४॥
 हुतौ जयंधर भूप जो, सौं सत्यंवर जानि ।
 अर षोडस दिन तैं जुदौ, मात थकी सुत आनि ॥३५॥
 राख्यो ताके पाप तैं, षोडस वर्ष व्रियोग ।
 तोहि भयो निज मात तैं, पाप समान न रोग ॥३६॥
 ए विद्याधर के वचन, सुनि जीवंधर जाहि ।
 गन्यों आपनौ मित्रवड, अति परसंस्यो ताहि ॥३७॥

तहाँ थकी फुनि गमन करि, कैयक दिन कै मांहि ।
पहुंचे पुर हेमाञ्ज ए, सुखसौं काल गमांहि ॥३८॥

छंद वेसरी

जीवंधर की तलाश में छहों भाइयों का प्रस्थान—

अब तुम सुनों और विरतांता, खग पुत्री जीवंधर कांता ।
मधुरादिक षट भाइनि तासौं, पूछी बात छिपी नहि जासौं ॥३९॥
कहु गंधर्वता सुखदाई, कहां गये हमरे द्वै भाई ।
तू सब जानै विद्या रूपा, पतिव्रता जिनधर्म सुरूपा ॥४०॥
तव बोली विद्याधर पुत्ती, अति परवीन बहुत गुण जुत्ती ।
सुजन देस हेमाञ्ज सुनग्रा, बहु नगनि मैं सो गनि अग्रा ॥४१॥
तहां विराजै दोऊ भाई, अति सुखिया सब कौं सुखदाई ।
तुम चिंता कवहु मति आनीं, मेरे वचन जथारथ मानो ॥४२॥
तव ए छहों परम अनुरागी, चले भ्रात देखन बड़ भागी ।
मात पिता की आज्ञा लैकें, सब ही कौं सुख साता दैकें ॥४३॥
मारग मैं दंडक बन मांही, आय नीसरे संसै नांही ।
देखन कौं तपसिनी आई, अद्भुत रूप देखि सुख पाई ॥४४॥

माता विजया से मिलन —

इनकौं लखि करि विजया माता, पूछ्यो कहां जाहु सुखदाता ।
अर आये किस दिसतैं भाई, तव इन बात कही समुभाई ॥४५॥
सुनि करि विजया लहि संतोषा, जानी ए सब ही गुण कोषा ।
है मेरे सुत कौ परिवारा, तव इनसौं बोली व्रतधारा ॥४६॥
आजि इहां वसि करि तुम जावो, अर भाई कौ इत ही लावो ।
लखि जीवंधर की सौ रूपा, इन जानीया अतुल अनूपा ॥४७॥
होइ किधौं जीवंधर माता, धर्म धारिणी अघ की घाता ।
तव तिन कह्यो करें हम योंही, माता तुम आम्हा दी ज्योंही ॥४८॥

मिष्ट वचन करि अति संतोषी, चले इहां तैं षट ए सोषी ।
 मारग मांहि लुटेरा आये, तिनसौं रण करि तुरत भगाये ॥४६॥
 अपनी इच्छा जातहु ते ए, सूरवीर बहु बुद्धि जुते ए ।
 आय पहाँचे पुर कै पासे, कहीं वात इक श्रीर प्रकासे ॥४७॥
 अति हेमाभ नगर कौ साथा, लूटचो भीलनि जानि अनाथा ।
 राजद्वार में लोक पुकारे, तब जीवधर आपु पधारे ॥४८॥
 जाय भगाय दये वनपाला, वनियनि कौं घायो सब माला ।
 तब करि भील मदति षट भाई, लरे धात सौं अति सुखदाई ॥४९॥

जीवधर से मिलन—

लखि कै निज भाई कौ नीरा, नाम पत्र जुत भेज्यो तोरा ।
 तब जान्यो जीवधर एहो, मधुरादिक आये अति नेहो ॥५०॥
 मिले परसपर आठौं भाई, ए द्वै अर बै षट गुणराई ।
 नगरि राजपुर की सहु वातां, जीवधर पै करी विख्यातां ॥५१॥
 कैयक दिन ह्यां करि बिसरामां, कवरें जेय चले निजधामां ।
 आये दंडक वनवर वीरा, आठौं धीर हरें पर पीरा ॥५२॥

माता से मिलन—

तहां लखी विजया गुणखानी, अति विलाप जुत सोक निधानी ।
 सुत सनेहु तैं आंचल जाके, भरि आये पै करि अति ताके ॥५३॥
 अश्रुपात परिपूरण नैना, अति दुरवल तन सर बोलत बेना ।
 बहु चिंता जुत है संतप्ता, जटो भूत सिर केस विषिप्ता ॥५४॥
 नित्य निरंतर उषननिसासा, तिन करि विवरण अधर उदासा ।
 अति मलीन जाके सब दंता, सर्वाभरण रहित दुखवंता ॥५५॥
 ज्यौं प्रद्युम्नि कौं एकमणि माता, त्यौं निज सुत कौं इह सुभ गाता ।
 चितवेंती निज चित्त मभारा, सुत वियोग कौ दुख अतिभारा ॥५६॥

तब ही आय परचो सुत पावां, हाथ जोरि सिर नमि सुभ भावां ।
 दई असीस ताहि तब माता, होहु पुत्र तुम्हरे सुख साता ॥६०॥
 अति कल्याण लहीं तुम लाला, मेरी आंखि तुही गुणपाला ।
 रत्नी उठी जग के सुजगरी, धर्मदंत जिन मारग धारी ॥६१॥
 ऐसे वचन कहे फुनि बोली, चिरजीवो इह तेरी टोली ।
 तुव दरसन करि लह्यो अनंदा, टूटि गये सब ही दुख फंदा ॥६२॥
 या विधि पुत्र धकी सुभ वांणी, भासत ही विजया बुधि वांणी ।
 एतै ही आई सो जक्षी, जाकै माता की अति पक्षी ॥६३॥
 न्हान विलेपन सब आभरणा, वस्त्रासन भोजन सुख करणा ।
 पहूप माल औरहु सुभवस्ता, आठनि कौं दीनी परसस्ता ॥६४॥
 कियो साहिमी बछल जानें, साधी जिन मारग विधि तानें ।
 करि सतकार गई निजधामा, धर्मवती अति ही अभिरामा ॥६५॥
 साचौ मित्रापन है एही, आपद में त्यागी न सनेही ।
 मात लख्यो इह सुत बड़ भागी, प्रथवी कौ नायक गुणरागी ॥६६॥
 बुद्धि निधान पराक्रम धारी, अरिगंजत सज्जन सुखकारी ।
 तब याकौं एकांत जु लैकें, समझायो अति सिद्धा दैकें ॥६७॥

माता द्वारा पूर्व वृत्तान्त कथन -

सत्यधर तेरी निज ताता, नगर राजपुर को सुखदाता ।
 महाराज राजनि कौ राजा, सूरवीर सावंत समाजा ॥६८॥
 ताकौ जुद्ध विषे हति भाई, काष्ठांगारिक राज कराई ।
 सो अति नीच तिहारी सज्ज, तुम तौ सब जीवनि के मित्रू ॥६९॥
 तात तनें धानक कौ त्यागा, तुम कौं जोग्य नहीं बड़ भागा ।
 इह सुनि माता कौ आदेशा, कियो पुत्र परमान्त असेसा ॥७०॥
 सुनिकें तातघात अति कोपा, उपज्यो अरिपरि सब सुख लोपा ।
 तौ पनि दाव्यो हिरदा मांही, काहू सौं प्रगट्यो कछु नांही ॥७१॥

निज मन मैं धारी तव स्वांभी, विनां समै सूरत्व न कामी ।
 सब कारिज को साधन काला, काल पाय ह्वै धान विसाला ॥७२॥
 तव मात सौं अमृत बांणी, बोले पुत्र महा सुखदानी ।
 तुव परसाद सकल ह्वै नोकी, तुम चिता भेटौ निज जीकी ॥७३॥
 इह कारिज पूरण ह्वै माई, तव नंवाण्य तो कनै आई ।
 तोहि बुलाऊं तव ह्वै साता, तू माता नर देही दाता ॥७४॥
 तव तक हृयां तिष्ठौ सुखरूपा, सोक रहितधरि ज्ञानअनूपा ।
 इह कहि सब सामिग्री मा पै, अर कछुयक परिवार हु तापै ॥७५॥
 राखि आप चाले बुधिवंता, नगर राजपुर कौं बलवंता ।
 पहुँचे नगर निकटि जब नाथा, मनै कियो अपनों सब साथी ॥७६॥

जीवंधर का राजपुर नगर में प्रवेश—

मेरी आवौ गोपिहि राखी, काहू पासि कछू मति भाखी ।
 भिन्न भिन्न समझाये लोका, आप विचक्षण अति गुन धोका ॥७७॥
 जक्ष मुद्रिका कौं परभावा, वरिणक भेष धारयो सुभ भावा ।
 पैसि नगर मैं आनंद रूपा, कोइक देखी हाट अनूपा ॥७८॥
 तहां विराजे पुण्य निधाना, भाग्यवंत सावंत सुजाना ।
 लह्यो लाभ जब साह अपारा, तव तिन जानीए गुणधारा ॥७९॥
 सागरवत्त नाम है जोई, जाके अमला नारि जु होई ।
 विमला पुत्री अति मतिवंती, रूपवती सो बहु गुणवंती ॥८०॥

विमला के साथ विवाह—

आगै निमति या विधि भाख्यो, कही सांच संदेह न राख्यो ।
 जो नर हाटि विराजै आई, होय लाभ ताकरि अधिकई ॥८१॥
 सो विमला परनै सुभकारी, ए सब बात सेठ उरधारी ।
 देखि कवर कौं जानी एही, विद्या निधि अति सुन्दर देही ॥८२॥

तब इनकी पुत्री परणार्ई, दियो दायजी अति अधिकाई ।
कैयक दिन सुसराकै स्वामी, रहे महा सुखसी विसरांमी ॥८३॥

जीवंधर परिव्राजक के भेष में—

एक दिवस परिव्राजक भेषा, धरि करि जाय भूषकीं देषा ।
दे आसीरवाद बडभागी, बोले मोहि भूख बहु लागी ॥८४॥
तातं तोहि जाचनें आये, दै सुभ भोजन भूख नसाये ।
जब काष्ठांगारिक अज्ञाना, करी इनों की बात प्रमांन ॥८५॥
तब जीवंधर सकुन विचारयो, निश्चै अपने उर मै धारयो ।
मेरी उद्यम जो फल रूपा, ताकी एही फूल अनूपा ॥८६॥
इह चितवन करि भोजन काजें, बैठे बड आसन प्रभु राजें ।
ल भोजन निकसे जब धीरा, जब बोले मुखतं वरवीरा ॥८७॥
वसीकरण चूर्णादिक वस्ता, है मोपं औषध परसस्ता ।
जिनकी फल परतक्ष जु देखी, मेरी वचन सांच तब लेखी ॥८८॥
जाकी रुचि ह्वै ल्यो ए सोई, इन तें मनमथ जाग्रत होई ॥८९॥
चाही जाहि ताहि वसि कारी, ए मुझ वचन हिया मै धारौ ॥९०॥
राजद्वार के लोकनि पासे, अैसी विधि के वचन प्रकासे ।
सुनि करि हंसे सकल ही लोका, इन नें मदन सूत्र अवलोका ॥९१॥
देखी वृद्ध निलज्ज महा ए, भेष धार गनियें जु कहाए ।
मरण काल अति नीरै आयो, तौ पनि मनमथ मै मनलायो ॥९२॥
चूरण अंजन गांठि कमारै, वसीकरण मोहण उरधारै ।
अैसै कहि हंसि करि सब बोले, तपसी तोमैं लखण अतोले ॥९३॥
सुनि इक बात हमारी भाई, गुणमाला कन्या अधिकाई ।
याही पुर मै सेठ सुता जो, जोवनवंती रूप जुता जो ॥९४॥
आगें इक जीवंधर नामा, गंधोतकट सुत बहु गुण धामा ।
तानें चूरण और सराह्यो, अर गुणमाला कौ विसराह्यो ॥९५॥

तब ते पुरष मात्र थी जाकीं, चित्त उदास भयो अबला कीं ।
 काहू कीं परणों नहि सोई, बसी करै तू ती अति होई ॥६६॥
 तेरी परसंसा जग मांही, सब ही लें औषध सक नांही ।
 जेती मांगै तेती मोला, दे तोकीं ले वस्तु अतोला ॥६७॥
 सुनि करि बनकी वांनी भाई, बोले भेष धारण गुणराई ।
 कहा विधी जीवधर जानै, चूरण वास कछू न पिछानै ॥६८॥
 तुम्हरे गांव मांहि इक सोई, तब नहि जहां इरंडहि जोई ।
 तब सब बोले होय सकोपा, तू ती तापस पर गुन लोपा ॥६९॥
 नीच पुरिष की इहै सुभावा, अपने गुन कीं करै प्रभावा ।
 कहा जथेष्ट वकै विप्रा, तोकीं हम जानै इह लया ॥७०॥
 अपनी श्रुति अर पर की निंदा, न करै तेई जानि जतिद्रा ।
 तू दुश्श्रुत उद्धत अति गर्वा, जानै मैं ही जानों सर्वा ॥७१॥
 ए सुनि वचन तापसी भाषै, गुन ह्वै सो छिपिया नहि राखै ।
 एक महरत मैं घट दासी, करो सेठ कन्या इह भासी ॥७२॥

बृद्ध ब्राह्मण के भेष में गुणमाला के पास जाना—

गयो तुरत गुणमाला गेहा, धरि बूढ़े वांम्हन की देहा ।
 ताकी दासी लई बुलाई, तासीं यों भाषी द्विजराई ॥७३॥
 तेरी स्वामिनि कों कहू जाये, बूढ़े विप्र वारणों आये ।
 तब दासी गुणमाला पासे, जाय करी द्विज वात प्रकासे ॥७४॥
 स्वेच्छाचारी वांम्हन आयो, औसौ बृद्ध न और लखायो ।
 तब गुणमाला लयो बुलाये, पूछ्यो विप्र कहां तै आये ॥७५॥
 विप्र कह्यो पाछातैं आवैं, अर आगा कौ पाव धरावैं ।
 तब सब हसी सहैली ताकी सुनि बोली वांम्हन विरधा की ॥७६॥
 वांम्हन कह्यो हसी मति कोई विरधापन सबही मैं होई ।
 गनिका विरधा पन नहि चाहै नव जोवन कों अतिहि उमाहै ॥७७॥

. वाम्हन तापस कौं तौ एही, आभूषण जानौं जरदेही ।
 तब बोली गुणमाला बाई, किती दूर जावो द्विजराई ॥१०८॥
 वाम्हन बोल्यो तीरथ ताई, धर्म हेत आगां कौं जाई ।
 वाम्हन कौं लखि सेठ सुतानै, जानी मन मैं बुद्धि जुता नै ॥१०९॥
 इह केवल तन ही करि वृद्धा, मन अर वचन देखतां गृद्धा ।
 तब याकौं भोजन दै चोखा, भली भांति करि प्राण जु पोखा ॥११०॥
 दै भोजन बोली गुण विस्ता अब तुम जाहु जहां है चित्ता ।
 वाम्हन कह्यो भली तुम भाषी, भोजन मांहि कमी नहि राखी ॥१११॥
 करि परसंसा उठनै लागौ, वृद्धा सुरुष धरयां वड भागौ ।
 डिगि करि परयो धरणि मैं सोई, फुनि लाठी गहि उठियो जोई ॥११२॥
 कान्या की मज्ज्या परि एही, जाय परयो वाम्हन जरदेही ।
 तब सब सखी सहैली कोपी, देखी इन अति लज्जा लोपी ॥११३॥
 सज्जा थंकी उठावन सारी, दौरि चितधरि रोस अपारी ।
 वाम्हन कह्यो सत्य तुम भासी, में निरलज्ज राग रस रासी ॥११४॥
 लज्जा तो नारीगण मांही, सोहै बहुरि पुरिष में नांही ।
 जो तर हू में होवै लाजा, तौ नहि होइ भौग कौ काजा ॥११५॥
 ए सुनि वृद्ध वाक्य गुणमाला, जानी इह नहि वृद्ध विसाला ।
 रूप पलटनी विद्याधारी, है इह कोई गुण निधि भारी ॥११६॥
 इह विचारि बोली बुधिवांना, आये द्विज अपनै मिजमांना ।
 कहा दोष सज्जा परि एही, पौढे रहौ खीण अति देही ॥११७॥
 हमरै सज्जा और विद्यावो, ए सज्जा एहो ले जावो ।
 यों कहि सारो सखी निवारी, बसे राति ह्यां द्विज तन भारी ॥११८॥
 निसी कौं वाम्हन मतौ विचारचो, शुद्ध सुरनि करि राग उचारचो ।
 महा मधुर रस जनमन हारी, काननि कौ अति आनंदकारी ॥११९॥
 सुनि करि सेठ सुता सुख पायो, अँसौ राग किनी न सुतायो ।
 आगे जोषधर नै रागा, गायो हौ चित धरि अनुरागा ॥१२०॥

जब गंधबंदता तिन व्याही, वाम्हन हूं गावै विधि याही ।
 उठि कै प्रातः तनक गुणमाला, वाग्हन तीं करि जितै जिसाला ॥१२१॥
 पूछन लागी द्विज पति भाषी, कौन सास्त्र में परचं राखी ।
 बोले विप्र सुनीं मृगनेना, तुमकों देखि लह्यो हम चैना ॥१२२॥
 धर्म अर्थ कामादिक सारा, हम अभ्यासे अर्थ अपारा ।
 धर्म अर्थ ए वृक्ष सुखया, काम शास्त्र फल रूप अनूया ॥१२३॥
 ताकी कछु यक कहीं विचार, सुनीं कान धरि वचन हमारा ।
 पञ्चेन्द्री अर विषय जु पंचा, इनही की इह सकल प्रपंचा ॥१२४॥
 करकस तरम आदि वसु फसा, अर मधुरादिक षट रस ससा ।
 कर्तृम स्वाभाविक द्वय गंधा, ताके भेद सुगंध दुग्ंधा ॥१२५॥
 चेतन और अचेतन वस्तु, कुइ दुरगंध कोई परसस्तु ।
 रूप पंच विधि है कुशनादी, स्वर है सप्त भेद षडगादी ॥१२६॥
 जीव अजीव संभवा जानी, चौदा दूरा विषे परबानौ ।
 इष्ट अनिष्ट गर्ने छप्पन्ना, पुण्य जोगतें इष्ट उप्पन्ना ॥१२७॥
 धर्म थकी ह्वै पुण्य निबंधा, अब तुम सुनीं धर्म परबंधा ।
 जे अजोग्य विषया अन्याया, तिनकी त्याग सुधर्म बताया ॥१२८॥
 तातें निषध विषे तजि दक्षा, सेवें न्याय विषे सुभ पक्षा ।
 काम शास्त्र के पण्डित तेई, कवहु अजोग्य विषे नहि सेई ॥१२९॥
 सुनि करि सेठ सुता यों भाषे, बुधजन सोइ जु असुभ न राषे ।
 हमरें जो कछु लखी अजोग्या, सोइ छुडावो पंडित जोग्या ॥१३०॥
 देहु जोग्य को तुम उपदेसा, करौ आपनी दास विसेसा ।
 तब पंडित सब कला सिखाई, याकों बुद्धि दई अधिकाई ॥१३१॥
 एक दिवस सह पुर के लोका, वन विहार को गये असोका ।
 आपहु गुणमाला लें साथा, वन देखन चाले गुणनाथा ॥१३२॥
 लखि एकांत ठौर रमणीका, सेठ सुता जुत बैठे नीका ।
 तब याकों निजरूप दिखायो, परै जाहि लखि सुर सरमायो ॥१३३॥

देखि कन्यका संसैवली, सन्यावत भरी गुणवली :
 मौन लेय बैठी सुभ रूपा, कंवर लखी संदेह सुरूपा ॥१३४॥
 तबी सबी चूरण वासादी, गुणमाला कौ वात जतादी ।
 उपजायो विस्वास विसेषा, बहुरि धरयो विरधा कौ भेषा ॥१३५॥
 पहूप सेज परि गैठे वृद्धा, कन्यासौ बोले गुण गृद्धा ।
 दावि हमारे पाव जु प्यारी, तू हमसौं कवहू नहि न्यारी ॥१३६॥
 तब वह महा नेह थी पावा, दावन लागी सरल सुभावा ।
 देखि राजपुत्रादिक सारा, अचिरज रूप रहे गुण धारा ॥१३७॥
 परसंसे मंत्रादिक याके, जस भासे सवनें विरधा के ।
 बन तें आय कही गुणमाला, मात पितासौं वात रसाला ॥१३८॥
 जीवंधर आये सुखकारी, तब तिन जानी मन में सारी ।
 दई ताहि परणाय कुमारें, जा लखि सुर तिय अचिरज धारें ॥१३९॥
 ता संजुक्त रहे दिन केई, ससुरा कै घरि अति सुख लेई ।
 पुण्य प्रभाव सकल सुख होई, पुण्य समान न जग में कोई ॥१४०॥

इति श्री जीवधर-स्वामी-चरित्रे महापुराणानुसारि वाल्मीकि-भाषायां
 विद्याधर मिलन, पूर्व भव निरूपण, हेमाभपुर आगमन, मधुरादि षट् भ्रातृ
 मिलन, स्ववेश प्रयाण, दंडक वने-विजया मात दर्शन, यक्षी सत्कार, राजपुरे
 आगमन, सागरवत्त मुक्ता विसला विवाह, राजद्वार गमन, ब्रह्मादि वरुण,
 गुणमाला कशीकरण, गुणमाला विवाह, सुकामुभवन निरूपणो नाम
 चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पंचम अध्याय

दोहा

अब ससुरा के घर थकी, चले आपनै गेह ।
 नाम विर्जगिर गंध गज, चढ़ि करि सुंदर देह ॥१॥

आत सकल ही संग है, अर सेना चतुरंग ।
जस गावैं जन नगर के, लखि लखि हरष अंग ॥२॥

जीवंधर गंधोत्कट मिलन—

गंधोत्कट के भाग धनि, धन्य सुनंदा भाग ।
जिनकी सुत गुण जुत महा, धरैं सकल जनराग ॥३॥
कीरति सब के मुख यकी, सुनत सुनत सुकुमार ।
पहुँचे निज घरि धर्म धी, हरष सुरूष अपार ॥४॥
गंधोत्कट के पाव लागि, लगे सुनंदा पाव ।
अति उच्छ्राय हूवो तवै, सुती नगर के राव ॥५॥
मन में धारयो दुष्टमति, काष्ठांगारिक कोप ।
देखी वारिणज तनज ए, करी कारिण सब लोप ॥६॥
अति उनमत्त भयो इहै, डरै न मोतैं रंच ।
मंत्री लखि याकी हूदै, बोले तजि परपंच ॥७॥
इह जीवंधर अति प्रवल, महाभाग मतिवंत ।
पूरव पुण्य प्रभाव तैं, याकी उदै अनंत ॥८॥
अर याके घर में महा, खग पुत्री परवीन ।
है गंधवंदता सती, रमा तुल्य गुणलीन ॥९॥
जक्ष सुदरसन सारिखे, महा मित्र बलवान ।
कबहू न्यारै होंहि नहि, करै कह्या परवान ॥१०॥
मधुरादिक सातों सखा, साता करी जानि ।
जिन सौ रण मै जीतिवां, समरथ कोइ न मानि ॥११॥
अर इह डोलैं अति सुभट, है अभेद्य रण मांहि ।
तातैं यासौं जुद्ध की, मन में आवैं नांहि ॥१२॥
बलवंतनि सौं वर करि, सुखी न होवैं कोई ।
इत्यादिक युक्तिनि करी, समझायो खल सोय ॥१३॥

तब चुप हूँ रण तें रह्यो, मंत्रिनि की सुनि बात ।
 कंवर विराजै घर विषै, रसित सकल उत्पात ॥१४॥
 कहीं और इक वारता, सुनीं चित्त निज लाय ।
 देस विदेह बिदेहपुर, है गोपिद सुराय ॥१५॥
 रांनी प्रथवी सुंदरी, 'रतनावती' सुभ नाम ।
 पुत्री सती सुरूप अति, बहुत गुणनि की धाम ॥१६॥
 करी प्रतज्ञा तिन इहै, चंद्रक वेध प्रवीन ।
 होय ताहि परनौ सही, परनर सकल अलीन ॥१७॥
 याकी परतज्ञा पिता, जानि विचारी एह ।
 जीबंवर सौ या समै, नही सुभट सुभ देह ॥१८॥
 धनुरवेद वेत्ता वहै, सकल वेद को जान ।
 इह उर धरि कन्या सहित, चाल्यो भूप सुजान ॥१९॥

रतनावती का स्वयंवर—

गयो राजपुर राजई, ले सामग्रि अनूप ।
 रच्यो स्वयंवर जायकै, अद्भुत सोभा रूप ॥२०॥
 पठई पत्री सवनिकी, भूचर खेचर जेहि ।
 आए पत्री वांचिकै, नगर राजपुर तेहि ॥२१॥
 चंद्रक वेध सथापियो, जहां स्वयंवर साल ।
 कोई वेधि सबयो नहीं, हुते बहुत भूपाल ॥२२॥
 देखि सवनिकीं सिथल चित्त, आये सेठ कुमार ।
 जीबंवर जोधा महा, सुंदर सुघर अपार ॥२३॥
 नमसकार करि सिद्ध कीं, आरजिबर्मा ध्याय ।
 जो अपनों गुर तप निधी, सकल कला को दाय ॥२४॥
 चाप चढ़ाय लगाय सर, अचल चित्त वरवीर ।
 वेढ्यो चंद्रक वेध जो, जीबंवर रणधीर ॥२५॥

उदयाचल परि बाल रवि, दिपै जथा तम भेदि ।
 दिपै सेठ सुत सबसिरै, चंद्रक वेधहि छेदि ॥२६॥
 सिंहनाद करि सुभट अति, गाज्यो नंदा पूत ।
 गुंजी तब दस ही दिसा, कपे थिर चर भूत ॥२७॥
 नीकं देख्यो वेध इनि, राखी कसर न कोय ।
 लागे परसंसा करत, भले पुरिख गुण जोय ॥२८॥
 कंठ कंवर कै माल वर, करिके अधिक सनेह ।
 घाली रतनवती तवै, देख्यो अद्भुत एह ॥२९॥
 तब सब सज्जन लोक नें, कीरति कही वखानि ।
 इनका संगम जोय है, दोऊ सब गुण खानि ॥३०॥
 सरद समै अर हंस तति, जथा जोम्य संबंध ।
 तैसें कंवरी कंवर की, भयो जोगि सनमंध ॥३१॥
 जय ह्वै सबही जायगा, पुण्यवतनि की ठीक ।
 यामैं कछु अचिरज नही, इह जानी तहकीक ॥३२॥
 हुते जिते बुधिवंत नर, किनहि न धारयो रोस ।
 काष्टांगारिक आदि खल, उपजायो उर दोस ॥३३॥
 पहली खम पुत्री वरी, तबकी लीयां दोस ।
 रतनवती की रूपलखि, भयो रोस की कोस ॥३४॥

जीवंधर द्वारा पत्राचार—

हुवो उद्यमी जुद्ध कौ, कन्या हरणैं काज ।
 जीवंधर लखि विषमतानें प्रवीन गुण राज ॥३५॥
 सत्यंधर भूपाल के, जिते हुते रजपूत ।
 कामदार इत्यादि सह, तिनपैं भेजे दूत ॥३६॥
 पठई वस्तु अनेक विधि, लिखे पत्र सुभ रूप ।
 समाचार तिनमें इहै, सत्यंधर बड भूप ॥३७॥

तिनको सुत मैं हौं सही, विजया उदर मभार ।
 उपज्यो इह निश्चै करी, यामैं सक न लगार ॥३८॥
 को इक कर्म प्रबंध तैं, मोकीं भयो वियोग ।
 लही वृद्धि मैं सेठ घरि, आय मिल्यो अब जोग ॥३९॥
 काष्ठांगारिक पाप धी, तिण लकरी अर कांस ।
 बहुरि कोइला बेचती, सिरपरि ल्याती वांस ॥४०॥
 काल घेप करती कुधी, था विधि पुरकें मांहि ।
 तासौं तुम्हरे भूष नैं, कमी जु राखी नांहि ॥४१॥
 कियो बरावरि आपनीं, दियो मंत्रि पद याहि ।
 यानैं अवसर पायकैं, रण मैं मारधो ताहि ॥४२॥
 पै पावैं जो सांप कौं, तऊ प्राण ही लेय ।
 सो कहवति सांची करी, नरभव कौं जलदेय ॥४३॥
 लियो घनी कौ राज इह, अब मैं मारीं याहि ।
 जाय रसातल मैं घुसैं, तीव न छोडौं ताहि ॥४४॥
 मेरौ ई अरि नांहि इह, तुम सबको अरि एह ।
 सेवक मेरे तात के, मोसौं करौ सनेह ॥४५॥
 स्वामि धर्मधर सेवका, तिनको मारग एह ।
 हनै स्वामि के शत्रु कौं, त्यागै अपनी देह ॥४६॥
 या विधि पत्री वांचिकैं, सवनि लखी मन मांहि ।
 सत्यधर की पूत इह, यामैं संसैं नांहि ॥४७॥

युद्ध वर्णन—

आय मिले तब बहु सुभट, निज निज सेना लेय ।
 चढ्यो राव सुत अरि परैं, सही नगारा देय ॥४८॥
 भयो जुद्ध नाना विधो, मुची सशु की सेन ।
 तब बैरी आयो प्रबल, तऊ आप सकुचेन ॥४९॥

नाम बिजै-गिर गंध गज, ता परि चढ़िया आप ।
 शशु मान मोड़न सदा, धारचां अतुल प्रताप ॥५०॥
 असनिवेग इक नाम गज, ता सिरि चढ्यो अयांन ।
 काष्ठांगारिक नीच नर, उद्धत अपजस वान ॥५१॥
 भयो परसपर जुद्ध अति, हृत्यो चक्र करि सोय ।
 इहै चक्र सामानि है, नही सुदरसन होय ॥५२॥
 मूवो लखि अघरूप कीं, भागे ताके लोक ।
 तव स्वांमी अति शांत ह्वै, मेय्यो सबकी सोक ॥५३॥
 करी दिलासा सवनिकी, अमै धोषणा देय ।
 भाइसि सौं अति देहु नरि, मिले बागल में सेव ॥५४॥
 कियो विनै विरघांनि की, उपजायो संताप ।
 आये जिन मंदिर जवै, जीवंधर गुण कोष ॥५५॥
 करी महा पूजा तवै, प्रभु की मंगल रूप ।
 दिये दांत दीनांनिकों, कीरति भई अनूप ॥५६॥

राज्याभिषेक—

नर नायक आये बहुत, अर आयो जधिराय ।
 कियो राज अभिषेक तिन, दियो तिलक लगि पाय ॥५७॥
 परनी रतनवती महां, उछव सौं भूपाल ।
 अर गंधर्ववता करी, पटरानी सुभ चाल ॥५८॥
 नंदाद्व्यादिक भेजिकें, लई बुलाय सुमात ।
 अर रानी परनी हुती, ते आनी सुखदात ॥५९॥
 सब कटुं व भेला प्रभू, अति ऐश्वर्य सुरूप ।
 अंतर वाहिज सशु के, जेता अधिक अनूप ॥६०॥
 न्याय थकी परजा सकल, पाली परम दयाल ।
 भोग भोगये इद्र से, लीला करी रसाल ॥६१॥

एक दिवस सुर मलय पवन, क्रीडा हेतु क्रिमाल ।
 गये हुते वरधर्म मुनि, देखे तहां विसाल ॥६२॥
 तमसकार करि साध कीं, सुन्यों तत्त्व विज्ञान ।
 अणुव्रत ले सम्यक सांहत, धारयो धर्म सु ज्यान ॥६३॥
 नंदाक्यादिक आत सब, भये अणुव्रत धार ।
 सम्यक जुत धरमातमा, असुभ रहित अविकार ॥६४॥

श्रावक धर्म वर्णन—

सम्यक अर अणुव्रतकीं, सुनौं सुरूप सुजान ।
 धरौ आपने चित्त मैं, लहौ सुगति मतिवान ॥६५॥
 देव जिनेसुर जगत वर, गुर मुनिवर व्रतधार ।
 धर्म दयामय जानिये, सौ सम्यक व्यवहार ॥६६॥
 अपनौ आत्म देव है, गुर आत्म ही होय ।
 वस्तु सुभाव हि धर्म है, इह निश्चै अब जोय ॥६७॥
 अनंतानुबंधी महा, क्रोध मान लल लोभ ।
 बहुरि तीन मिथ्यात ए, सात प्रकति अति शोभ ॥६८॥
 इनकौ उपसम क्षय बहुरि, अर लय उपसम होइ ।
 तव प्रगटै सम्तक त्रिविधि, मूल व्रत कौ सोय ॥६९॥
 सात उपसम्यां उपसमी, क्षयत क्षायक जानि ।
 एक उदै व्है सातमी, सो वेदक परवानि ॥७०॥
 भेदक हे सम्यक्त के, अब सुनि व्रत के भेद ।
 महाव्रत अर अणुव्रता, ब्रह्मता द्वै त्रिविधि अथ छेद ॥७१॥
 हिंसा मिथ्या वचन अर, चोरी नारी संग ।
 परिग्रह त्रिंशना पंच ए, पाप कुमति के अंग ॥७२॥
 सकल पाप कौ सर वृथा, त्याग महाव्रत जानि ।
 किंचित त्याग अणुव्रता, इह निश्चै परवानि ॥७३॥

महाव्रत मुनि धर्म है, अगुव्रत श्रावक धर्म ।
 श्रावक धर्म ग्यारह विधि, ताकी सुनि अव मर्म ॥७४॥
 त्याग कुविमन सर्वही, तजे अभक्ष अहार ।
 सम्यक द्विष निरमल धरै, नहूँ ती पडिमा धार ॥७५॥
 वसुमद वसुमल आयतन, षट अर मूढ़त तीन ।
 ए पचीस सम्यक मल, तजे प्रथम परवीन ॥७६॥
 दूजी पडिमा धार फुनि, धरै अगुव्रत पंच ।
 तीन गुण व्रत च्यारि फुनि, सिक्षा व्रत सुभ संज ॥७७॥
 अस हिंसा परघात वच, परधन अर परनरि ।
 अप्रमाण परिगह तज्या, ह्वै अगुव्रत सुखकारि ॥७८॥
 दसौ दिसा परमाण जो, भोगुपभोग प्रमाण ।
 अनरथ सबही त्यागिबौ, तीन गुण व्रत जाण ॥७९॥
 तीनों संख्या जिन भजन, पोसह च्यारि प्रमांनि ।
 अतिथि विभागर नेम निरति, चउ सिक्षा व्रत जांनि ॥८०॥
 अंतकाल सल्लेखणा, इह व्रत प्रतिमा रीति ।
 सुनि तीजी सामायका, धरि करि उर मैं प्रीति ॥८१॥
 सामायक समये महा, मुनि सम थिरता होय ।
 सो तीजौ श्रावक कहुँ, लहै सुगति सुख सोय ॥८२॥
 षट चउ ह्वै घटिका प्रमा, न्है सामायक काल ।
 सोलह बारह वसु पहर, इह पोसह की चाल ॥८३॥
 सामायक की सी दसा, पोसह समये होय ।
 चौथी पडिमा धार सो, श्रावक सुभमति सोय ॥८४॥
 सचित त्याग है पंचमी, छट्ठी दिन तिय त्याग ।
 अर निसि की भोजन तजन, धारें ते बड भाग ॥८५॥
 सदा सर्वथा नारिकी, त्याग सप्तमी जांनि ।
 तजन सकल आरंभ कौ, ताहि अष्टमी मांनि ॥८६॥

नवमी परिगह त्याग है, मुनि दसमो की चाल ।
 लौकिक वचन न भासई, जीवदया प्रतिपाल ॥८७॥
 एकादसमी द्वे विधि, क्षुल्लक अँलि वखाँनि ।
 वनवासी दोऊ सुधी, मुनिवत् भोजन माँनि ॥८८॥
 क्षुल्लक खडित वस्त्र इक, अर कोपीन प्रवाँनि ।
 केस मुडावें अरवहै, नहि करपात्र वखाँनि ॥८९॥
 करपात्री है अँलि सुभ, वस्त्र एक कोपीन ।
 लोच करै केपाँनि कौ, रहै धर्म लवलीन ॥९०॥
 क्षुल्लक लौ च्यारचों वरणा, धरै वत्त सुभ रूप ।
 अँलि अर्यका मुनिवरा, तीनहि वर्य अनूप ॥९१॥
 ए एकादस विधि कही, श्रावक की भगवाँन ।
 तिनमें दुजी आदरी, जीवंधर गुणवाँन ॥९२॥
 भाईनि जुत वारह वरत, सम्यक सहित धरेय ।
 गये आपनैं धरि नृपति, नर भव सफल करेय ॥९३॥
 सुखसीं वीत काल अति, नृप सबके सुखदाय ।
 एक दिवस वन देखिवा, गये गुणानि के राय ॥९४॥

वनविहार—

वन असोक रमणीक अति, तहां परसपर जुद्ध ।
 देख्यो बंदर वर्ग में, तवौ भये प्रतिबुद्ध ॥९५॥
 देखौ देखौ जीव जग, करि करि तीव्र कषाय ।
 भमैं सदा तब वन विषैं, धरि धरि नौतन काय ॥९६॥
 कोइक दड़ भागी पुरिष, लहि जिन भारण सार ।
 लिखकैं आत्म तत्व कौ, उतरै भवजल पार ॥९७॥
 जग त्रिरक्त मत जैन कौ, सधै न घरकैं माँहि ।
 मोह जाल है घर विषै, या मैं संसैं नाँहि ॥९८॥

बंधा विनु नहि होय धर, सो हिंसा की मूल ।
हिंसा श्री जिनधर्म तें, है अति ही प्रतिकूल ॥६६॥
इह विचार नृप कैं भयो, तब ही ता वन माहि ।
एक ठौर देखे मुनी, चारण ऋद्धि धराहि ॥६७॥

संसार से विरक्ति—

है प्रशस्त बंकजु महा, मुनि कौ नाम रसाल ।
अवधिज्ञान धारक गुरु, जीवदया प्रतिपाल ॥६८॥
तीन प्रदक्षणा देय नृप, करि वंदन कर जोरि ।
मुनें हुने खग मुन भवा, मुनि मुख मुनें कहीरि ॥६९॥
जाय धरें जिन पूजि करि, वढ़ी सुद्धता जोर ।
सुन्यों राव सुभ भावनें, वीर मोह मद मोर ॥७०॥
वरधमान सनमति प्रभू, महावीर अतिवीर ।
अंतिम तीरथ नाथ जो, तिष्ठै गुण भम्भीर ॥७१॥
वन सुर मलय विधैं विभू, तब आयो तिह ठौर ।
जीवधर धरणीवती, वदे त्रिभुवन मौर ॥७२॥
मुनि वांणी जगदीस की, उपज्यो अति वैराग ।
जगत भोग अर देह तें, तूटी मन कौ राग ॥७३॥
पटरांणी कौ पुत्र जो, नाम वसुंधर ताहि ।
सौंपी आप वसुंधरा, लख्यो नीति घर जाहि ॥७४॥
व्है निरमोही सवनितैं, करि सब परिगह त्याग ।
आठौं ससुरा आदि बहु, राजनि जुत बड़ भाग ॥७५॥
मधुरादिक नंदाब्ध जुत, लीयो चारित भार ।
भये महाव्रत धारमुनि, जीवधर जगतार ॥७६॥
बड़ पुरषनिकी रीति इह, तजि करि जग के भोग ।
करि निरवांछक भाव अति, धारें उत्तम जोग ॥७७॥

विजया माता अरु सबै, सासू आठौं जानि ।
 अर रांनी आठौं महा, सब ए गुण की खानि ॥१११॥
 भई अर्यका त्यागि घर, चंदनवाला पासि ।
 तारै जीव अनेक कौं, एक जीवगुण रासि ॥११२॥
 इह जीवधर मुनि कथा, कहि बोले गणधर ।
 श्री दुधरु स्तुती तनै, श्रीगुरु सौं निरधार ॥११३॥
 तुम पूछ्यो सो मुनि इहै, महा तपोनिधि वीर ।
 सांप्रत है श्रुतकेवली, द्वादसांग घरधीर ॥११४॥
 च्यारि घातिया घात करि, लहसी केवलज्ञान ।
 होसी अग्रह केवली, जगदीमुर जग जानि ॥११५॥
 अरघसांग भगवान के, साथहि करिजु विहार ।
 च्यारि अघाति यहू हते, पासी भवजल पार ॥११६॥
 विपुलाचल परवत श्रीकी, जासी जग कै सीस ।
 अष्टगुणादि अनंतगुण, घारी अविचल ईस ॥११७॥
 ए सुधर्म गणधर तनै, बचनमृत नृप पीय ।
 श्रेणिक त्रिपुत भयो महा, जनम सुकारथ कीय ॥११८॥

छप्पे छन्द

जे गंधर्वदत्तादि, अष्टरानी गुन वानी ।
 दुल्लभ श्रीर निकौंजु, तेहि पेरनी सुखदानी ॥
 तात घात को शत्रु, दुष्ट अति काष्टांगारी ।
 सो जानै रण मांहि, मारि डारघो दुखकारी ॥
 राज कियो जु कितेक दिवसां, फुनि परिगह तजिया सबै ।
 अष्ट कर्म से दुष्ट काटे, सकल विरद जिनकौं फवै ॥११९॥
 भेदि तिमिर अज्ञान, छेदि करि सर्व विभावा ।
 लहि मुक्ति श्री संग, सोहई सुख सुभावा ॥

जो जीवंधर राय, पंचकायनि तैं न्यासी ।
जगत सिरमणि देव, जगतजित जग कौ प्यारी ॥
नमौ ताहि कर जोरि सिरनमि, भक्ति भाव उरलाय कै ।
सत्यंधर विजया सुनंदन, सीइयो सनमति पाय कै ॥१२०॥

कथा का सार—

षोडस दिन परमान, हंस कौ बालक जानें ।
निज माता तैं भिन्न, राखियो कुमति प्रवानें ॥
पूरव भव कै मांहि, ताहि तैं षोडस वर्षा ।
मा सौं भयो वियोग, मात नहि पायो हर्षा ॥
इह उर मैं धरि भव्य जीवा, सुजन विछोहा जिन करौ ।
सकल जीव हैं आप सरिखा, इह जिन आग्या उर धरौ ॥१२१॥
भई तात की मृत्यु, जनम जिन लह्यो मसाना ।
भयो सेठ आगमन, सेठ धरि पत्यो सुजाना ॥
जषणी कौ उपगार, जक्ष से मित्र विवेकी ।
वढ्यो अधिक परताप, शत्रु मारयो अविवेकी ॥
देव गती है प्रबल अतिही, लखौ बात परतक्ष ए ।
जीवंधर कौ सुनि चरित्ता, धरौ जैन मत पक्ष ए ॥१२२॥
साध हुवां विन सिद्ध, हुवो नहि जम मैं कोई ।
तातैं साध समान, आन उत्तम नहि होई ॥
गहौ साध कौ पंथ, जोहि सिवपुर सुखदाई ।
पंच प्रकार आचार, धर्म दस लक्षण भाई ॥
संजम वारह भेद धारौ, तप द्वादश विधि आचारौ ।
अट्ठावीस जु मूलगुण हैं, ते नीकी विधि आदरौ ॥१२३॥
उत्तर गुण चौरासि, लाख हैं आनंदकारी ।
सहन परीसह बीस, दोय अधिका अधहारी ॥

मिथ्या मोह मदादि, तिन महीं एक न राखौ ।
 सम दम यम अर नेम, ध्यान अमृत रस चाख्यौ ॥
 तजौ प्रमाद विषाद सारा, नाहि बिबाद जु उरधरौ ।
 भवतन भोग विरक्त चित्ता, दिढ़ बैराग जु अनुसरै ॥१२४॥
 जिन आजा उर धारि, धरौ रतनत्रय विमला ।
 लखौ आपनीं रूप, शुद्ध बुद्ध जु अति अमला ॥
 किये कुमारी अनंत, अब धरौ परम समाधी ।
 अक्षय पद आनंद लही, तजि जगत उपाधो ॥
 इह जीवंधर चरित पुरन, भास्यो महापुरांन में ।
 श्री सुधर्म गरुधर महंता, ल्याये याहि वषांन में ॥१२५॥

इति श्री जीवंधर स्वामि चरित्रे समुद्रगूहात् निजगृहे गमन परमोत्साह, काष्ठांगारिक प्रच्छन्न कोप, संश्रिवचनादुपशान्ति, रत्नवती स्वयंवर, चंद्रक वेष वेषन, वरमाला गृहण, काष्ठांगारिक रणोद्यम तात भृत्याग्रति पत्रिका प्रेषण, सुभटागम, रणे काष्ठांगारिक हनन, राज्य लाभ, विजया माता आगमन, सर्व कुटुंब मिलन, प्रजापालन सुखानुभवन, सुरमल-योद्याने श्रीडा हेतु गमन, वरधर्म मुनि दर्शन, भ्रातृ सहित अणुव्रत गृहण, अशोक वने कवि युद्धावलोकन, संसार बेह भोग निर्वर्गता तत्रैव वने एकान्त स्थाने प्रशस्त वंक नामा चारण मुनि दर्शन, पुनर्भय अवण, गृहे गमन, जिन पूजारचन, सुरमलयोद्याने श्री वर्द्धमान स्वामि समवसरणिभिर्भजन अवण तत्रागमन, समुद्र भ्रातृ मातृ भार्यावि सहित वीक्षा गृहण, केवलोत्पत्तिमोक्ष गमन वर्णनो नाम पंचमोऽध्यायः ॥५॥

कवि परिचय—

कौन भांति इह ग्रंथ, देव भाषातें भाषा ।
 भयो सु सुनीं धरि चित्त, इक ठौहर राखा ॥
 मध्य लोक कैं मांहि, सोहए जंबूदीपा ।
 सकल दीपकौ एह, दीप मानौं अबनीपा ॥

जामैं क्षेत्र जु भरथ है इह, ता मांही षट खंड है ।
 पांच मलेछ जु खंड कहिया, इक आरिज परचंड है ॥१॥
 आरिज खंड मभार, देस कहिये जु अनेका ।
 तिन देसनि कै मांहि, देस मेवाड़ जु एका ॥
 उबियापुर ता मांहि, राजधानी अति सोहै ।
 जगतसिंह महाराण, पाट सीसोदिन का है ॥
 मछी धान की नगर मांही, वहां बैस मंदिर न्है ।
 तहां टहलवा पंडितो इक, खेतसीह नामा कहा ॥२॥
 दौलतरांम उकील, पुत्र आनंद की होई ।
 दुंढाहड़ पतिराज, तिनौ की सेवक सोई ॥
 वासी वसवा की जु, जाति कहिये जु महाजन ।
 गीत कसिलीवाल, मांहि खंडेल जु वालन ॥
 कुल आवक के जनम पायो, कछुयक श्रुत परचैं जिसैं ।
 महाराण के निकट कूरम, महाराज भेज्यो तिसैं ॥३॥
 रहै रांण के पास, रांण अति किरपा करई ।
 जानैं नीकौ जाहि, भेदभाव जु नहि धरई ॥
 सो जिन मंदिर आय, वांचई जिन मत ग्रंथा ।
 सुनैं विवेकी जीव, सरदहै जिनवर पथा ॥
 कैयक के रुचि बहुत नीकी, आगम अध्यातम तनी ।
 वांचे ग्रंथ कितेक तानैं, सैली अति सोभित बनी ॥४॥
 वांच्यो महां पुराण, बीस हजार सिलोका ।
 जाकैं अंति अनूप, बीर चरित जु गुण थोका ॥
 जामैं कथा रसाल, स्वामि जीवधर केरी ।
 सुनि करि हरषे भव्य, स्तुति कीनी जु धरोरी ॥
 तबें बोलियो अग्रवाला, वासी कालाडहर की ।
 चतुर चतुर भुज नांस चरची, ग्रंथ पंथ सिव सहरकी ॥५॥

देव भाष गंभीर, संसकृत विरला जानें ।
 पंडित करें वषांन, अल्प मति नाहि वषांनै ॥
 जो ह्वै ग्रंथ अनूप, देस भाषा कै मांही ।
 वांचै बहुत हि लोक, या महुँ संसै नांही ॥
 सब गिरंथ की बनि न आवै, तौ इह जीबंधर तनी ।
 अवसिमेव करनी सुभाषा, प्रथीराज भी इह भनी ॥६॥
 सुनी चतुर मुख बात, सोहि दौलति उरधारी ।
 सेठ बेलजी सुधर, जाति हूंमड हितकारी ॥
 सागदाड है वास, श्रवण की लगनि घरोरी ।
 सब साधरमी लोक, धरै श्रद्धा श्रुत केरी ॥
 तिननें शायद करि कही फुनि, दौलति कै मन मैं बसी ।
 संसकृत तें भाष कीनी, इहै कथा है नौर सी ॥७॥
 संवत ठारहसैं जु पंच, आषाढ़ सु मासा ।
 तिथि दोईज गुरवार, पक्ष सुकल जु सुभ मासा ॥
 तीजै पहर सु एह, ग्रंथ सुभ पूरण हूवो ।
 श्री जिनघर्म प्रभाव, सकल भव भ्रमते जूवो ॥
 नंदौ विरधौ जगत मांही, जौ लग चंद दिवाकरा ।
 तिष्टौ भव्यनि के हिये मैं, नवरस वरदान तें भरा ॥८॥
 इति श्री जीबंधरस्वामि चरित्रं सम्पूर्णं सुभं भवतु-कल्याणमस्तु ॥६॥

“भग्न पृष्ठि कटि ग्रीवा वक्रदृष्टिरधोमुखम् ।
 कण्ठेन लिखितं शास्त्रं, यत्नेन परिपाल्यताम् ॥”

विश्वेक विलास

रचना काल :—१८वीं शताब्दि

रचना स्थान :—उदयपुर (राजस्थान)

अथ श्री विवेक विलास भाषा

दोहा

निज धाम वर्णन—

प्रणमि परमसं(ऋषि) शांत कौं, प्रणमि धर्म गुरु देव ।
 वरणीं सुजस सुसील कौं, करि सारद की सेव ॥१॥
 सील व्रत कौं नाम है, ब्रह्मचर्य सुख दाय ।
 जाकरि प्रगटे ब्रह्मपद, भव वन भ्रमण नसाय ॥२॥
 ब्रह्म कहावै जीव सहु, ब्रह्म कहावै सिद्ध ।
 ब्रह्म रूप केवल महा, ज्ञान सदा परसिद्ध ॥३॥
 ब्रह्मचर्य सौ व्रतनां, न परम ब्रह्म सौ कोय ।
 व्रतिन ब्रह्म लवलीन सौ, तिरै भवोदधि सोय ॥४॥
 विद्या ब्रह्म विज्ञान सौ, नहीं जगत में जानि ।
 विज्ञ नहीं ब्रह्मज्ञ से, दह निश्चय परवानि ॥५॥
 ब्रह्म वासना सारिखी, और न रस की केलि ।
 विषे वासना सारिखी, और न विष की वेलि ॥६॥
 आत्म अनुभव सिद्धसौ, और न अमृत वेलि ।
 नहीं बोध सौ बलवता, देह्य मोह की ठेलि ॥७॥
 अध्यात्म चरचा समा, चरचा और न कोय ।
 अरचा जिन अरचा समा, नहीं जगत में होय ॥८॥
 चरचाकारक लोक मैं, नहि गणधर से धीर ।
 अरचा कारक इन्द्र से, नाहि दूसरे वीर ॥९॥
 लोक न चेतन लोक सौं, विश्वविलोक निरूप ।
 निज अवलोकनि जा विषे, केवल तत्त्व स्वरूप ॥१०॥
 परकासक दुति धार को, अति दैर्घ्य जु मान ।
 भाव सोइ निज दीप है, भरघो अनन्त निधान ॥११॥

विषय प्रदीपक भाव सौ, दीप न सुख की खानि ।
 क्षेत्र न कोई स्वक्षेत्र सौ, अक्षय अभय प्रवांन ॥१२॥
 खण्डन भाव अखण्ड सौ, परमानन्द निवास ।
 स्व प्रदेश सौ देश नहि, जहां अनन्त विलास ॥१३॥
 पुर न अभैपुर सारिखी, जहां काल भे नाहि ।
 निराकार निज रूप सौ, नृप घर नाहि कहाहि ॥१४॥
 पुरपति निज चिद्रूप सौ, और न दूजो भूप ।
 पुरपति पटरानी महा, सत्तासीन सुरूप ॥१५॥
 सत्ति अनतानंत सौ, अन्तहपुर नहि कोइ ।
 मांहमा अतुल अपार सौ, सखा समूह न जोइ ॥१६॥
 सखा न समरस भाव सौ, एकीभाव लखाहि ।
 पासवान परिणाम से, नाहि जगत के मांहि ॥१७॥
 निज विशेषता शुद्धता, अति अनन्तता कोइ ।
 बहु विस्तीरणात्ता सदा, ता सम सेतन होइ ॥१८॥
 अति प्रतापमय भाव जे, महा प्रभाव स्वरूप ।
 उमरावन तिन सारिखे, अद्भुत अचल अनूप ॥१९॥
 नहि प्रधान निज ज्ञान सौ, व्यापक सब में सोइ ।
 नहि प्रोहित आनन्द सौ, धर्म मूरती होय ॥२०॥
 नहि अनन्त वीरज जिसी, सेनापति जयरूप ।
 अगम अगोचर भाव सौ, और न दुर्ग अनूप ॥२१॥
 नहि गम्भीर स्वभाव सौ, खाइ अति गम्भीर ।
 निश्चल अजित स्वभाव से दुर्गपाल नहि वीर ॥२२॥
 द्वारन आतम ध्यान सौ, अध्यातम की सार ।
 निरव्रति रूप अनूप है जग परव्रति के पार ॥२३॥
 भाव अछेद्य अभेद्य से, और न कोइ कपाट ।
 दरसन बोध चरित्र सौ, और न दूजो वाट ॥२४॥

भाव अनन्त चतुष्टया, तिसे न चौहट और ।
 व्यापारीन सुभाव से, नहि पुर में भकभोर ॥२५॥
 मुह परिणमन नारिखो, व्यापारन है वीर ।
 अविनश्वरता भाव सौ, धन अटूट नहि धीर ॥२६॥
 गुण परणति पर्याय निज, नाना भाव सुभाव ।
 पर जातिन सम और नहि, द्वैत न भाव लखाय ॥२७॥
 भावनि के हि प्रभाव जे, अति प्रभास मय जेहि ।
 तिसे न परजा धर विमल, अति सुख पूरण तेहि ॥२८॥
 भरघो भाव सौ पुर महा, वसै जगत कै कूट ।
 ईति भीति नही पुर विषै, नहीं कपट अर कूट ॥२९॥
 निज अवकास बराबरी, और न है दो रास ।
 निज उद्यौत विकास सौ राज तेज नहि भास ॥३०॥
 सुर नर नारिक पसुनि के, सब ही रूप विरूप ।
 विघटि जाहि क्षण एक में, जामण मरण सरूप ॥३१॥
 वस्तु अरूप समान कौ, और न रूप अनूप ।
 निजपुर मांहि अरूप सब, जहां न कोइक रूप ॥३२॥
 मूरति सूरति याकै नहि, जगत जीवकी कोइ ।
 धूरत भाव धरै महा, रागादिक वसि होय ॥३३॥
 आतम भाव अमूरता, अदभुत सूरतिवंत ।
 राजा परजा एक से, जहां न भेद कहंत ॥३४॥
 आतम राजा गुण प्रजा, और न राजा रैति ।
 सस्त्र न भाव प्रचंड सौ, जाकरि नृप की जैति ॥३५॥
 प्रबल स्वभाव बराबरी, कोटवाल नहि कोय ।
 चोर न मन इन्द्रीन से, तिन को नाम न होय ॥३६॥
 चोरी होय न पुर विषै, जहां न कोई चोर ।
 जोरी जारी नांहि कछु, होय न कवहू सोर ॥३७॥

सार भूत निज वस्तु सौ, और न नृप भंडार ।
 भंडारी अस्तित्व सौ, और न सरवसु धार ॥३८॥
 नहीं धनी सौ दूसरौ, सदा धनी कै पामि ।
 सब सामग्री जा कनै, महा सुखन की रासि ॥३९॥
 शुध पारणामीक सा, नहीं पारषद कोय ।
 कदे न छांडे भूप सभा, सदा हजुरी सोय ॥४०॥
 क्षायक सम्यक सारिखा, नहीं महाभड भाव ।
 राज शुद्ध भावानि को करै निकटिक राव ॥४१॥
 बाधा रहित स्वभाव सौ अंग रक्ष नहि वीर ।
 नित्य निरंतर भाव से, मित्र न कोई धीर ॥४२॥
 श्रेष्ठी श्रेष्ठ सुभाव सौ, नहीं दूसरौ और ।
 सोभा पुर की जा थकी, चीहट को सिर मोर ॥४३॥
 सर्वोत्तम निज भाव सौ, नहि सिंहासन कोइ ।
 तापरि राजै राजई, सब को नायक सोइ ॥४४॥
 आतप हरण स्वभाव से, छत्र न कोई जानि ।
 निर्मल भाव तरंग से चमरन दूजे मानि ॥४५॥
 चेतनता निज चिह्न से, नहि निसान परवानि ।
 दिख विहारी भाव से, अस्व न और बखानि ॥४६॥
 मगन महा गलतान से अति उत्किष्ट स्वभाव ।
 तिसे न मत्त मतंगजा, धरै अतुल प्रभाव ॥४७॥
 रथ नहि तत्वारथ जिसे, पुरुषारथ तिन सांहि ।
 परमारथ परिपूरणों, यामें संसै नांहि ॥४८॥
 अनुचर अतिसय से नही, विचरें विश्व मभारि ।
 नहि शिवका शिव भाव सौ, थिर अर सकल विहार ॥४९॥
 सुख न अतिन्द्रिय सारिखी, सो सुख जहां अनन्त ।
 दुख को नाम न दीसई, जहां देव भगवंत ॥५०॥

दुख नहि इन्द्री भोग सौ, ताको तहां न लेस ।
 केवल परमानंदमय, वरतै देस असेस ॥५१॥
 आतम अनुभव अम्रता, तिसौ न अम्रत आन ।
 खान पान नहि ता समां, इह निषर्चै परवान ॥५२॥
 भोजन तृप्ति समां नहि, सदा तृप्ति बह देस ।
 स्वरस सुधारस पीयवौ, नहि बसना कौ लेस ॥५३॥
 दुधा तृषा बाधा नहों, नहों काल को जोर ।
 जन्म जरा मरणादि नहि, नहों रैन नहि भोर ॥५४॥
 रागादिक रजनीचरा, तिनकौ नहि संचार ।
 मोह पिशाचान पुर बिषै, रोग न सोग लगार ॥५५॥
 काम लोभ परपंच ठग, तिन को तहां न नाम ।
 बसै महा सुख सों सबै, आनंदी अभिराम ॥५६॥
 धर्म न बसतु स्वभाव सौ, धर्म रूप पुर सोय ।
 राजा परजा धर्म मय, नाहि अधर्मी कोय ॥५७॥
 दान न सकल प्रत्याग सौ, त्यागी सब ही भाव ।
 रागी कोइ न दीसइ, वीतराग है राव ॥५८॥
 सील न विमल स्वभाव सौ, जो अति उजल रूप ।
 सील रूप राजा प्रजा, नहि विकार स्वरूप ॥५९॥
 तप नहि बांछा रहित सौ, तहां न बांछ्या होय ।
 भाव अनन्त अपार है, जहां कुभाव न कोय ॥६०॥
 निज भावन की रम्यता, बहु मनोज्ञता जोय ।
 ता सम नन्दन वन नहों, निज उषवन है सोय ॥६१॥
 कहै अमर वन सूत्र में, ताको नाम मुनीस ।
 रमै अमर वन में सदा, चिदानन्द जगदीस ॥६२॥
 सघन स्वभावनि सारिखों, अम्रत वक्ष न और ।
 ता वन में ते लहलहै, रमै राव सिरमौर ॥६३॥

रही बेलि बिस्तरि जहां, शुद्धात्म अनुभूति ।
 ता समान नहि सुष लता, केवल भाव विभूति ॥६४॥
 परम सुभाव पियूष फल, निज रस पूरण जेहि ।
 तिन से नाहि सुधा फला, फलि नु रहे अति तेहि ॥६५॥
 सदा प्रफूलित भाव से, फूलन और सुगन्ध ।
 फूलि रहे महकै महा, राजै राव अवन्ध ॥६६॥
 बल बेलि फल फूल ए, तिन करि वन अति रम्य ।
 जहां न गम्य विभाव की, वस्तु न एक अरम्य ॥६७॥
 माया बेलि न है तहां, जहां न विकल्प जाल ।
 क्रोधादिक कंटिक नहीं, निज वन महा रसाल ॥६८॥
 नाहि शुभाशुभ कर्म से, विष तरु विश्व मभारि ।
 तिन को लेस न है जहां, दुख फल नाहि लगार ॥६९॥
 दुख फल से नहि विष फला, देहि जगत को पीर ।
 मानफूलि से फूल विष, तहां न जानौ वीर ॥७०॥
 सुख सरवर सौ सर जहां, भरचौ सहज रस नीर ।
 तरवर सधन स्वभाव से, तहां विराजै धीर ॥७१॥
 केवल कला कलोलनी, वहै निरन्तर शुद्ध ।
 क्रीड़ा करै महा सुखी, राजै राजा बुध ॥७२॥
 अथग स्वभाव पयोनिधी, स्वच्छ महा गम्भीर ।
 तिसौ न सागर खीर है, रमै गुणांबुधि वीर ॥७३॥
 अति उल्हास विलास मय, आत्म सक्ति प्रकास ।
 ता सम लीला और नहि, यह भासै जिनदास ॥७४॥
 अचल उच्च धिर भाव सौ, क्रीड़ा गिर नहि कोइ ।
 क्रीड़ा करै कला निधी, जगत सिरोमणि सोइ ॥७५॥
 ज्ञान चेतना परगती, निज सक्ती बहुनाम ।
 तासौ कमला बुध कहै और न कमला नाम ॥७६॥

सिद्ध अनन्ता सर्व ही, राज करे या सीति ।
 निज निज भाव प्रजा सहित, बिलसै सुख जगजीत ॥७८॥
 जहां न जन्म जरा मरण, जहां न इष्ट वियोग ।
 रोग न सोग न भोग तन, नहि अनिष्ट संयोग ॥७९॥
 भूख न प्यास न पाप पुनि, त्रिविध ताप नहि कोइ ।
 श्रद्धा आनन्दधन, वस्तु अमूरत होइ ॥८०॥
 नारि न पुरषन संड को, नाहि लृषातुर कोय ।
 लोक शिखर निज क्षेत्र में, शुद्ध सिद्ध अवलोय ॥८१॥
 रहित नाम बहु नाम जे, रहित रूप अति रूप ।
 ते हमकों निज बोध द्यौ, चिदानन्द चिद्रूप ॥८२॥
 लघुता गुरुता रहित जे, सदा अगुरु लघु जानि ।
 सिद्ध अनन्ता सर्व सम, तिन से श्रीर न मानि ॥८३॥
 ते भगवन्त जिनेश्वरा, तेहि महेश्वर देव ।
 शुद्ध बुद्ध योगीश्वरा, करै सुरासुर सेव ॥८४॥
 सर्व व्यापका विष्णु ते, भजै तिनै सुर राय ।
 लखै जेय कौ ज्ञान में, तातें कृष्ण कहाय ॥८५॥
 सकल वस्तु अवलोकिबौ, रहिवो सब तें भिन्न ।
 वसिवो आत्म भाव में, कबहूँ खेद न खिन्न ॥८६॥
 सिव कल्याण स्वरूप ते, परम ब्रम्ह परतक्ष ।
 सदा परोखि अज्ञान कौ, तातें कहै अलक्ष ॥८७॥
 ईश्वर समरथ सार जे, परमात्म परवीन ।
 मुक्त सर्व गत विमल ते घट धट अन्तरलीन ॥८८॥
 परम पुरुष परवान ते, परम जान भगवान ।
 महादेव महिपाल ते, महाराज गुणवान ॥८९॥

रहित रजोगुण राव जे, रहित तमोगुण भाव ।
 रहत सुभासुभ संत ते, निर्गुण है निरदाव ॥६०॥
 महा महंत अनंत ते, सर्व गुणनि के नाथ ।
 गुण पर्याय स्वभाव गण, सदा धरया निज साथ ॥६१॥
 रमि जु रहे निज भाव में, तातैं तिनकी राम ।
 कहिये सूत्र सिधंत में, रहित क्रोध अर काम ॥६२॥
 तीन भुवन के चंद ते, तीन भुवन के सूर ।
 तीन भुवन के नाथ ते, गुण अनंत भरपूर ॥६३॥
 जैसे चितामणि बहुत, सब की एक स्वभाव ।
 तैसे सिद्ध अनंत ही, समभाव दरसाव ॥६४॥
 भये अनंता सिद्ध प्रभु, होली कित कंत्य ।
 सब की मेरी वंदना, सेवै साह महंत ॥६५॥
 करै आप सम दास कौ, बड़े गरीब नवाज ।
 रहित कामना कल्पना, भजै जिनें मुनिराज ॥६६॥
 निज बोलति विलसै सदा, महाप्रभु निजरूप ।
 वसै भावपुर में प्रगट, परमानंद स्वरूप ॥६७॥
 नाम भावपुर की भया, कहै अभेपुर साध ।
 वसै सासती सुख मइ, जहां न कोइ वाध ॥६८॥
 निश्चै वास स्वभाव में, व्यवहारें जगसीस ।
 उपचारै घट घट विषै, व्यापक सदा अधीस ॥६९॥
 सब को सादि सभाव है, तातैं एकहि ईस ।
 कहिए ग्रंथनि कै विषै, चिदानंद जगदीस ॥१००॥
 है अनन्त सब एकसे, तातैं एकहि ध्यान ।
 करै महामुनि भाव सौं, ते पावै निज ज्ञान ॥१०१॥
 सिद्ध भक्ति इह भाव बरि, पढ़ै सुनै नर नारि ।
 ते निरवेद दसा लहै, जिन आज्ञा उर धारि ॥१०२॥

निश्चै देव निजातमा, व्यवहारै गुरदेव ।
 तिरै भवोदधि ते नरा, करै निजातम सेव ॥१०३॥
 जैसे चेतनराव सौं, और न दूजो राव ।
 तैसे व्रत में सील सौं, और न कोइ कहाव ॥१०४॥

॥ इति निजधाम निरूपणं ॥

आगे ठग ग्राम का वर्णन करे है ।

दोहा

ठग ग्राम वर्णन—

ग्राम ठगनि केतें प्रभू, काढे त्रिभुवन राय ।
 पहुँचावै निजपुर विषै, ताहि तमूँ सिर नाय ॥१०५॥
 रे जन तू निज नगर में, यह ठगनि को गांम ।
 ठग मोहादि अनन्त है, कौ लग कहिए नाम ॥१०६॥
 मोह महा बंचक कुधी, सकल ठगनि कौ राव ।
 ठगै कर्म ठग संवनि कौं, मोह राव परभाव ॥१०७॥
 मोह पासि सी है नहीं, फांसी जग में आन ।
 दे फांसी जग जीव कै, हरै मोह गुण प्रान ॥१०८॥
 नहीं मोह निद्रा जिसी, दीरघ निद्रा कोइ ।
 सोवै सब जग मोह बसि, ज्ञान चेतना खोइ ॥१०९॥
 मोह प्रिया ममता महा, तिसी न ठगनी जोइ ।
 ठगै सुरिन्द्र नरिन्द्र कौं, महा मोहनी सोइ ॥११०॥
 मायाचारी मोह ठग, इसौ न जगत मभार ।
 मोहै महा मुनीनि कौं, सुर नर कपा विचार ॥१११॥

बड़े ठगनि मैं दोष ठग, राग दोष बिड़ रूप ।
 तिनके भुज परताप तैं, मोह जगत को भूप ॥११२॥
 राग समान न राग कर, और सिकारी कोइ ।
 वस करि सुर नर पसुनि की, सारै पापि सोइ ॥११३॥
 हरै ज्ञान से प्राण जो, हरै ध्यान सौ माल ।
 लीयां कपट भर कालिमां, करै बहुत बेहाल ॥११४॥
 राग प्रीया जु सरागता, जाहि कहै जग प्रीति ।
 जासौं करि अप्रीति मुनि, हीहि भुक्ति जग जोति ॥११५॥
 विषै प्रीति अनुरागता, अदभुत ठगनी सोइ ।
 ठग चक्र वर त्याग की, वचै कहां तक कोइ ॥११६॥
 दोष समान न दुष्टधी, जगत विरोधी जानि ।
 करै दौर अय लोक में, दौरै खरी प्रवानि ॥११७॥
 हरै शुद्धता भाव जी, हरै दया सौ दर्व ।
 महा निरदयी दुरमती, धारै अतुलित गर्व ॥११८॥
 दोष प्रीया दुर्जन्यता, महा दुष्टता होय ।
 ठगै जु असुरिन्द्रादि कौ, हरि प्रति हरि कौ सोय ॥११९॥
 काम नाम ठग अति प्रबल, तासम नाहि कुचौल ।
 करै फैल बढ फैल बहु, हरै जगत कौ सील ॥१२०॥
 कंवर समान जु मोह कै, महा पाप कौ घाम
 ठगै देव दैत्यानि कौ, नर पसु सब कौ काम ॥१२१॥
 काम प्रीया रति अति बुरी, भव भरमावै सोय ।
 अनुपम ठगनी है भया, व्रत तप हरणी जोय ॥१२२॥
 कंटिक कोइ न क्रोध सौं, हरै प्राण तहकीक ।
 हरै बुद्धि सौ घन महा, बोलै वचन अलीक ॥१२३॥
 उधड़ी हथ मारो इहै, महा मोह उमराव ।
 करता हरता मोह कै, धारै कुबुधि कुभाव ॥१२४॥

ठगै वास देवादि कौ, रुद्रादिक कौ सोय ।
 ठगै सुरासुर वर्ग कौ, वचै कहां तैं कोय ॥१२५॥
 शोध प्रिया हिंसा महा, काल रूपणी जोय ।
 ठगै सबनि कौ सर्वदा, उवरै मुनिवर सोय ॥१२६॥
 नाहि कठोर गुमान सौ, चढि जु रह्यो गिरमान ।
 गनै तुछ सबकी सदा, खोसै गुन से प्रान ॥१२७॥
 हरै विनै धन सर्वथा, करै बहुत विपरीत ।
 ताकै बलि नृप मोह खल, होय रह्यो जु अजीत ॥१२८॥
 अति सम्मान गुमान कौ, मोह राज दरबार ।
 ठगै फनिन्द्र महिन्द्र कौ, यह ठग असि बलधार ॥१२९॥
 मान प्रीया ठगनी बुरी, नाम अहं ता होय ।
 अहंकार लीयां सदा, भयंकार अति सोय ॥१३०॥
 ठगै जु अहमिद्रादि कौ, ठगै मुनिनि कौ एह ।
 काइक उवरै सांत धी, धारै दसा विदेह ॥१३१॥
 कपट सम्मान न कुटिल कौ, सो नृप को परधान ।
 अति छल बल परपंचमय, पाखंडी परवान ॥१३२॥
 ठगै सदा सब कौ सही, करै जगत कौ दाध ।
 कोइ उवरै साधवा, करै जु निज आराध ॥१३३॥
 कपट प्रिया है कालिमा, कुटिलाई कौ धाम ।
 ठगै नारदा दानि कौ, वचै मुनी तिह काम ॥१३४॥
 नहीं लुटेरा लोभ सौ, लूटे त्रिभुवन जोहि ।
 सो सेनापति मोह कै, अति कोड़ीभड़ होहि ॥१३५॥
 सुरपति नरपति नागपति, खगपति दलपति जेहि ।
 सर्व लुटावै लोभ पै, डंड लोभ कौ देहि ॥१३६॥
 लूटे सबकी सर्वथा, लोभ सर्वदा वीर ।
 कोइक लूटे जाहि नहि, संतोषी मुनिधीर ॥१३७॥

लोभ प्रीया तृष्णा महा, जगत द्रोहणी सोइ ।
 सर्व भक्षणी पापणी, मुनि ठगनी है सोइ ॥१३८॥
 काइक मुनिवर उधरे, धी जिनगर परताप ।
 तजे भोग श्रमना सबै, सेवै धर्म निपाप ॥१३९॥
 निज प्रतीति हर भरम कर, ठग न मिथ्यात समान ।
 सो स्वरूप है मोह की, कुबुद्धी पाप निधान ॥१४०॥
 प्रीया मिथ्यात मलीन की, महा अविद्या जानि ।
 ठगै थावरा जंगमा, जग ठगनी परवानि ॥१४१॥
 नहीं सोच सौ कष्ट कर, सुख हिरदै संताप ।
 सोच प्रीया चिंता अरति, उर जावै बहुताप ॥१४२॥
 भैकारी है भय महा, मारै चहुँगति मांहि ।
 व्याकुलता है भय प्रीया, जामै आनंद नांहि ॥१४३॥
 रोग महाबल तन हरण, मरण करण दुखदाय ।
 आधि व्याधि रोग प्रीया, कबहु नहीं सुखदाय ॥१४४॥
 सोक हरै आनंद कौ, करै सबनि को दीन ।
 सो प्रीया संतप्तता, करै जगत को छीन ॥१४५॥
 अग्रत और असंजमा, विकथावाद विवाद ।
 मोह राव के रावता, हर्ष विषाद प्रमाद ॥१४६॥
 सब ठग सब पासीगरा, सर्व लुटेरा नीच ।
 सब दौरा सब चोर ए, भरे कालिमा कीच ॥१४७॥
 ऐ सब ही जु पिसाच हैं, भूत राक्षसा एह ।
 दैत्य दानवा दुरमती, एही असुर गनेह ॥१४८॥
 ए अजगर अष्टापदा, मत मतंग सिंह सर्प ।
 एहि व्याघ्रा है सदा, जीतै मुनि तरसिह ॥१४९॥
 ए भिडि पाव अनादिका, ए भेरुंड विशुंड ।
 दुष्ट एहि चीला महा, एइ मगर प्रचंड ॥१५०॥

ए दावानल दुमड़, ए दुख सागर जानि ।
 इन ते दुश्जन कीज कहि, इह निरनै सर आनि ॥१५१॥
 सशु एहि मोहादिका, ए किरात दुखदाय ।
 एहि पारधी धीवरा, एहि अहेरी राय ॥१५२॥
 एवा गुर अति दोष भर, महा पाप के रूप ।
 हिसक निर्दय दुरजना, ठग पुर मांहि विरूप ॥१५३॥
 नांहि ठगोरी लोक में, विषै वासना तुल्य ।
 महा ईरषा आदि बहु, विष करि पूरण कुल्य ॥१५४॥
 भोग भावना सारिखी, भुरकी जग सिर डारि ।
 खोंस लेहि सब ज्ञान धन, डारै नरक मझारि ॥१५५॥
 वात बनाय धिजा पते, विषै ठगोरी डारि ।
 लै हैं ज्ञान छिपाय धन, तातैं जतन^१ विचारि ॥१५६॥
 जतन न कोई दूसरी, करी निज पुरी दास ।
 विलसी निज धन सासतौ, धारी अतुल विलास ॥१५७॥
 कैसे पहुँचै निज पुरी, लंघि ठगनि कौ ग्राम ।
 सो उपाय सुनि चित्त धरि, करहु आतमाराम ॥१५८॥
 मोह विदारक सम्यका, राग विडार विराग ।
 संत भाव है दोष हर, धारैं जाहि सभाग ॥१५९॥
 काम विडार विवेक है, मार्दव मान निवार ।
 मार्दव कहिये मैरा सौ, नरम भाव अविकार ॥१६०॥
 क्रोध निवारक है क्षमा, आर्जव कपट निवार ।
 आर्जव कहिये विमलता, महा सरलता सार ॥१६१॥
 लोभ विडारक लोक में, नहि संतोष समान ।
 पाप विडारण तप जिसी, कोइ न दूजौ आन ॥१६२॥

मोहादिक दोषीनि के हरण हार सुखदाय ।
 है अनेक जोधा महा, कौ लग कहै बनाय ॥१६३॥
 तिनकों लारे लेय तू, लंघि ठगनि कौ गाम ।
 निजपुर मांहि असौ महा, जहां न ठग कौ नाम ॥१६४॥
 ठग ग्राम को वर्णना, पढे सुने जो कोय ।
 ठग ग्राम कौ लंघि कै, निजपुर वासी होय ॥१६५॥
 निज बोलत बिलसै महा, रमै सदा निज मांहि ।
 जामरा मरण करै नहीं, ममता मोह नसाहि ॥१६६॥

॥ इति ठग ग्राम वर्णनं ॥

निज वन निरूपण—

दोहा

निज वन में क्रीडा करै, क्रीडा सिधु कृपाल ।
 ताहि नमूँ कर जोरि कै, जाहि न व्यापै काल ॥१६७॥
 वन नहि निज वन सारिखौ, है अमरण वन एह ।
 अमरोद्यान कहैं जिसे, परमानन्द अछेह ॥१६८॥
 सही अभैवन ए सही, सदा अभैपुर पासि ।
 अति रमणीक मनोहरा, सुख अनन्त की रासि ॥१६९॥
 इह केली वन हंस कौ, हिंसा रहित अनूप ।
 रमै सांत रस धारका, परमहंस चिद्रूप ॥१७०॥
 नहि कोइल संसार में, आतम कला समान ।
 रसीया आतम केलि के, निज वन बंसिया मानि ॥१७१॥
 'ज्ञान अभै वन भारगा, जानी जीव विहंग ।
 तेहि रमै निज वन बिषै, क्रीडा करै अभंग ॥१७२॥

नहि सरवर सम भाव से, निज रस पूरित जेह ।
 कमलन भाव अलेप से, सदा प्रफुल्लित तेह ॥१७३॥
 भमरन भाव रस जसे, भमैं तिनों परि भूरि ।
 इहै रंग वन है भया, सब कुरंग तैं दूर ॥१७४॥
 अग नहि चपल स्वभाव से, ते यामैं नहि कोय ।
 दुष्ट भावमय दुष्ट पसु तिनकौ नाम न होय ॥१७५॥
 मोह दैत्य कौ वास नहि, नाहि किरात कषाय ।
 असुर दुराचार न जहां, लोभ चोर न रहाय ॥१७६॥
 नहीं दंभ बल छिद्र ठग, नहीं धूर्त पाखंड ।
 न परद्रोह दौरा कदे, दौर करें परचंड ॥१७७॥
 पाप रूप परपंच नहि, इन्द्री भूत न कोय ।
 मदन पिसाच रहै नहीं, अद्भुत वन है सोय ॥१७८॥
 नहीं एक कंटिक जहां, जहां न विकल्प जाल ।
 विष बेलि न मायामयी, सो वन महा विसाल ॥१७९॥
 विष वृक्ष न अघ कर्ममय, नाहि कुपक्षि कदाचि ।
 जहां क जीवन एक है, रहे जानि घन राचि ॥१८०॥
 नहि दुख फल नहि दोष दल, नाहि विषे विषफूल ।
 सो वन सेय सुजाण तू, जो सब सुख कौ मूल ॥१८१॥
 रागादिक रजनीचरा, विचरै तहां न कोय ।
 तरवर सघन स्वभाव जे, तिन करि पूरण सोय ॥१८२॥
 ते स्वभाव पीयूष तरु, सदा अमर फल दाय ।
 यह निज वन रमणीक है, रमैं जहां निजराय ॥१८३॥
 शुद्धातम अनुभूति सी, अमृत लता न कोय ।
 सदा प्रफुलित भावमय, अति सुख फल है सोय ॥१८४॥
 भाव भवात्प हरण से, और पत्र नहि होय ।
 तिन करि सोभित तरलता, अद्भुत वन है जोय ॥१८५॥

निरमलता सी वापिका, अर निज रस से कूप ।
 निज वन तिन करि सोहइ, अमृत मद अनूप ॥१८६॥
 केवल कला कलोलनी, जामें सरस कलोल ।
 ता सम नाहि कलोलनी, निज वन मांहि अडोल ॥१८७॥
 या सम नंदन वन नहीं, वंदन जोगि विसाल ।
 इह तीरथ निज धाम है, हरै सकल जंजाल ॥१८८॥
 रमै सदा या वन विषै, तेहि लहै आनंद ।
 या सम एगिदः जोग्य नहि, यह अति रस की कंद ॥१८९॥
 ज्ञान संपदा सासती, सो निज दीलति जानि ।
 निज संपति विलस्यां विनां, वन केलि न परवानि ॥१९०॥
 इह निज वच घणै वुधा, पढै सुनै जो कोय ।
 निज कानन कीड़ा करण, कर्म हरण सो होय ॥१९१॥

॥ इति निज वन निरूपणं संपूर्ण ॥

निज भवन वर्णन—

दोहा

भव वन सौ वन नाहि को, गहन विषम अघरूप ।
 जहां न रंचहु रम्यता, दीसै महा विरूप ॥१९२॥
 भव वन अमरा निवारिके, देय अभयपुर बास ।
 वंदौ देव दयाल कौ, करें आप सम दास ॥१९३॥
 भैकारी अम तम भरघो, है हिसा को धाम ।
 असुरन हिसक भाव से, बसै बहुत तिह ठाम ॥१९४॥
 दैत्य न दुष्ट स्वभाव से, ते विचरै घन घोर ।
 चोर न चाहि स्वभाव से, है तिनकी अति जोर ॥१९५॥

दैत्य सिरोमणि निरदयी, महा मोह छलवान ।
 ता सम कोइन दुरजनों, सो वन पति बलवान ॥१९६॥
 दुराचार सौ दूसरो, असुभ अबर नहि कोय ।
 सो जुगराज महीप कै, कहां भलाई होय ॥१९७॥
 राम दोष रजनीचरा, तिसे न राखिस और ।
 तेहि मोह नरपति नखै, सुभटनि के सिर मोर ॥१९८॥
 पाप समान पिसाच नहि, सो नृप कै परधान ।
 सपत विसन सेना सपत, सेनापति अज्ञान ॥१९९॥
 नहि अपराध बराबरी, महा पारधी कोइ ।
 सो प्रोहित भूपाल कै, दया कहां तै होय ॥२००॥
 परे जगत के जीव सहू, मोह पासि कै माहि ।
 पंथ नगर निरवान कौ, नृप चलिवा दे नाहि ॥२०१॥
 करि सथान भव वन विषै, बैठो मोह भूपाल ।
 काल समो विकराल नहि, सो नृप कै कुटवाल ॥२०२॥
 करै राज कानन विषै, कुबुधि कुटिल कुरूप ।
 मोह राव को राज सब, लखिये पाप स्वरूप ॥२०३॥
 ममता पटरांनी महा, मोह भूप कै जानि ।
 धरै ममत्व स्वभाव सो, कुबुधि भूल परवानि ॥२०४॥
 पाप अति समान को, और नहीं अन्याव ।
 वरतै तहां अन्याव ही, मोहराव परभाव ॥२०५॥
 विष अक्षन वसु कर्म से, जे अति कंटिक रूप ।
 मरण देहि भव भव विषै, छाया रहित विरूप ॥२०६॥
 तिन करि पूरण भव बना, मन मरकट की केलि ।
 फैलि रही माया तहां, तिसी न विष की वेलि ॥२०७॥
 शुधातम अनुभुति सो, अमृत लता न कोइ ।
 महा अगोचर है जहां, मरण हरण है सोई ॥२०८॥

सदा सधन अति मगन जे, भाव सुद्ध उपयोग ।
 तिनमै अमृत तरु नहीं, तिनको दुर्लभ जोग ॥२०६॥
 नाहि कुपत्र कुसूत्र से, तिनही को विसतार ।
 नाहि सुपत्र सुसूत्र से, तिनको तृच्छ विचार ॥२१०॥
 मानफूल धनफूल जो, राजफूल मनफूल ।
 विषै फूल से विष पहुँच, और न जानौ मूल ॥२११॥
 फूल रहे तेइ तहां, दुखफल फलै अनंत ।
 दुख फल से नहि विषफला, इह भासै भगवंत ॥२१२॥
 सदा प्रफुलित सहज ही, जे केवल निज भाव ।
 तैसे फूलन सुख मइ, तिनको अल्प लखाव ॥२१३॥
 परम भाव अति रस मइ, तैसे सुधा फल नाहि ।
 ते अगम्य भव वन विषै, जिन करि सब दुख जाहि ॥२१४॥
 शांत भाव सौ मिष्ट जल, अमृत रूप न कोय ।
 सो भव मै मिलवौ कठिन, जा करि तिरपत होय ॥२१५॥
 विषै वासना सारिखौ, और न विष जल वीर ।
 सो भव वन मै बहुत है, क्षार मलिन जो नीर ॥२१६॥
 भरथो कपट मय कीच सौ, जाकरि विषा न जाय ।
 सो पीवै वन जन सबै, मरै रोग दुख पाय ॥२१७॥
 मृग त्रिशणा नहि भ्रांतिखी, सो अत्यन्त लखाय ।
 इह वन अग तिषणा मई, सब जन सदा भमाय ॥२१८॥
 वांसिनि मै मोती दुर्लभ, त्यौं भव वन मै साध ।
 कोइक पड़ए धर्मधो, केवल तत्व अराध ॥२१९॥
 गिरन कठोर स्वभाव से, तिनकी भलो न तौर ।
 ते भव वन मै मुख्य हैं, महा कष्ट को ठौर ॥ २२०॥
 नला न नीच प्रवृत्ति से, रह्यो तिनो तें पूरि ।
 स्यालन का परभाव से, ते पावन मै भूरि ॥२२१॥

अग नहि मूरिख जीव से, फसै फासि कै मांहि ।
 करि अनुराग जु राग सौं, ब्रथा जीव सौं जांहि ॥२२२॥
 अहंकार ममकार से, नांहि अहेरी कोइ ।
 शब्दकार विरहरी सदा, धातुकर सम है सोइ ॥२२३॥
 जाल न बिकल्प जाल से, इह बन जाल स्वरूप ।
 अति जंजाल भरघो सदा, महा भंष विड रूप ॥२२४॥
 जीवनि के कुल जाति जे, अर नाना विधि वंस ।
 तिन सेवां सुन और को, नहि कुभाव से कंस ॥२२५॥
 भरघो वंस अर कंस तैं, अस भाव सुख मांहि ।
 लुटै पंथ निरवान कौ, बहु पंथी बिनसांहि ॥२२६॥
 सम्यक दरसण सोइ कण, ता विनु पर की आस ।
 घास सोइ तासौं भरघो, भव बन कष्ट निवास ॥२२७॥
 नहि कंटिक क्रोधादि से, तिन करि पूरण एह ।
 क्रूर भाव से सिध नहि, भव बन तिन कौ गेह ॥२२८॥
 दुरनयवादी जीव से, नांहि कुपक्षी कोय ।
 या संसार असार मैं, करै सोर अति सोय ॥२२९॥
 नही अजगर अज्ञान सौ, असै जगत कौं जोय ।
 वसै सही भव बन विषै, वचै कहां तैं कोय ॥२३०॥
 मद अष्ठानि से और कौ, अष्टापद नहि वीर ।
 भव अटवी मैं तैं रहै, तिनैं नहीं पर पीर ॥२३१॥
 अति उदमाद प्रमाद सौ, मत्त गयन्द न श्रीर ।
 सो बनगज भव बन विषै, दुष्टनि कौ सिर मौर ॥२३२॥
 रहै सदा उनगत महा, काल स्वरूप विरूप ।
 धिर चरसे नहि बन चरा, वसै तहां भय रूप ॥२३३॥
 पीडै पाप पिसाच अति, दुष्टनि कौ सरदार ।
 भूतन इन्द्री पच से, तिन कौ तहां बिहार ॥२३४॥

छल छिद्रनि से और को, नाहिं छलावा होय ।
 फिरै छलावा वन विषै, बचै कहां ते कोय ॥२३५॥
 भव कांतर असा रहै, अति दुष्टनि की वास ।
 नहि उलूक मिथ्यात सी, ताको तहा विलास ॥२३६॥
 काम लोभ परपंच से, ठग नहि कोइ और ।
 सदा ठगै भव वन विषै, करै जगत को चोर ॥२३७॥
 बटयारी दीरी बुरी, नहि परद्रोह समान ।
 दौर करै परधन हरै, धरै बहुत अभिमान ॥२३८॥
 नहि अंधेरि गुनाव जे, गुण औ नहि तीर ।
 सिधिल मन्द भाव से, गेंडा जानि न भीर ॥२३९॥
 भय दायक भावनि से, और नहि भिड़ि पाव ।
 भव अरण्य भीतरी भया, तिनको सदा लखाव ॥२४०॥
 बाधाकारी भाव से, नाहि वधेरा कोय ।
 हठ ग्राहक भावनि से, सूकर और न होय ॥२४१॥
 अविवेकी भावनि से, महिष अरण्य न और ।
 इत्यादिक खल जीव गण, दीसैं ठौर जु ठौर ॥२४२॥
 लोक गमार अजाण जे, तिसे न सोभर रोभ ।
 सदा रहै भ्रम भाव में, धरै न तप व्रत वोभ ॥२४३॥
 इत उत डोलत ही फिरै, अति हि भकोला खाय ।
 चितवति चंचल रूप जो, निश्चल कबहु न थाय ॥२४४॥
 ता सम और न लौंगती, भव कांतर मभार ।
 विचैरे आंति भरी सदा, धरै न धिरता सार ॥२४५॥
 उड़े फिरै चंचल महा, जे जग के परिणाम ।
 तिसे नभे रुंढा गरुड़, तिनको भव वन धाम ॥२४६॥
 परमहंस मुनिराज से, हंस और नहि कोय ।
 तिनको भव कानन विषै, दरसन दुरलभ होय ॥२४७॥

नहि सरवर सुख सरसमो, सम रस पूरित नीर ।
 ताके भेदी भव्य जन, विरला जानौ वीर ॥२४८॥
 नही वाय जग बायसी, जगत उड़ावा जोइ ।
 दाजै अति असराल सो, कंपै थिर चर लोय ॥२४९॥
 काय टापरी बापरी, यापै टिकै न कोय ।
 निज पद परवत आंसिरी, पकरै उदरै सोय ॥२५०॥
 नहि कोपल सारिखी, दावानल विकराल ।
 सर्व चराचर भस्म कर, महा तापमय ज्वाल ॥२५१॥
 लागि रही भव वन विषै, तापै बचिबौ नाहि ।
 बुझै शांत रस नीर मैं, सो दुर्लभ पद साहि ॥२५२॥
 निज गुर अंबुधि मैं बसै, ताहि न याकौ ताप ।
 तातैं सकल विलाप तजि, सेवो आपनि पाप ॥२५३॥
 विष पंच इंद्रीनि के, कालकूट विष तेहि ।
 विष कौ मूल भयंकरा, भव कानन है एहि ॥२५४॥
 नहि लुटेरा काल सौ, लूटै सरवसु जोहि ।
 संक न मानैं काइ की, हरै प्राण धन सोहि ॥२५५॥
 रागादिक रजनीचरा, विचरै अह निसी वीर ।
 रौकै पंचम गति पथा, करै जगत कौ पीर ॥२५६॥
 दैति सिरोमणि मोह कौ, राज महा विपरीत ।
 छोटे कौ मोटो गिलै, बसै लोक भँभीत ॥२५७॥
 पर पंचक पाखंड से, और दूसरे नाहि ।
 तिनकौ अति अधिकार है, मोह राज कौ साहि ॥२५८॥
 राज करै पापी जहां, दैत्यनि कौ सिरदार ।
 कैसें चाले धर्म कौ, मारग तहां जु सार ॥२५९॥
 दरसन ज्ञान चरित्र से, और न निज पुर पंथ ।
 या मारग ह्वै तत्व कौ, पावै मुनि निरगंथ ॥२६०॥

मोक्ष मारगी मुनि जिसे, और न जानी कोय ।
 मोह मान हरि ज्ञान धरि, निज पुर पहुँचे सोय ॥२६१॥
 संजम तप वैराग व्रत, निरव्रति विषै कषाय ।
 संवर निजैर सुभट ए, भैहारी सुखदाय ॥२६२॥
 इन सेवौ लावा नही, भव भै गने न मूल ।
 पहुँचावै निरवान ए, कबहु न ह्वै प्रतिकूल ॥२६३॥
 क्षायक सम्यक केवला, वीरज और अनंत ।
 वर दग बोध अनंत सुख, द्वै तन भाव कहंत ॥२६४॥
 शुद्ध पारिणामीक ए, साथी प्रबल प्रचंड ।
 इन से साथी और नहि, धारै साथ अखंड ॥२६५॥
 नहि सेरी जिनवानि सी, दरसिक गुरसे नाहि ।
 नगर नही निरवान सौ, जहां संत ही जाहि ॥२६६॥
 भव कांतार वहैतरी, पढै सुने जो कोय ।
 सो भव कानन लंघि कै, निज पुर नायक होय ॥२६७॥
 लहै सासली बोलती, फेरि जु भव वन माहि ।
 उपजै मरण करै नहीं, निज पुर माहि रहाहि ॥२६८॥

॥ इति भव वन निरूपणं ॥

भाव समुद्र वर्णन—

दोहा

चिदानंद चित्तमूरती, चेतनराय नरेस ।
 रमै सदा सुख सिधु मै, नमै जाहि जोगेस ॥२६९॥
 ताहि प्रणमि नमि मुनिमहा, प्रणमि सार सिद्धान्त ।
 निज समुक्त वर्णन करुं, जा सम और न सांत ॥२७०॥

चेतन सागर सारिखौ, और न सागर क्षीर ।
 यह अमृत सामर मही, हरै दाह दुख पीर ॥२७१॥
 विमल भाव सी जगत मै, होय न निर्मल नीर ।
 भरघौ विमल जल भाव सौ, गुण सागर गंभीर ॥२७२॥
 लहरिन परमानंद सी, जामै लहरि अनंत ।
 नंदी न निज परगति जिसी, इह भासै भगवंत ॥२७३॥
 वहै प्रखंडित धार जे, निज परगति रस धार ।
 ते सब निज सागर विषै, मिलै महा अविकार ॥२७४॥
 रतनन दरसन ज्ञान से, है रतनाकर एह ।
 भरघौ भाव रतनानि तैं, अंबुधि अचल अछेह ॥२७५॥
 मुक्त सकल परपंच तैं, जे आत्म परिणाम ।
 ते मुक्ताफल निरमला, सागर तिनकी धाम ॥२७६॥
 उजल उत्तम भाव से, परम हंस नहि कोष ।
 यह हंसनि की सागरा, अद्भुत अंबुधि होय ॥२७७॥
 अस्ति सदा सत्ता धरै, वस्तु रूप अतिसार ।
 चेतनता आनंदता, ए निज भाव अपार ॥२७८॥
 भाव मइ सागर यहै, भाव समुद्र कहाय ।
 सुख सागर रस सागरा, नाम अनंत धराय ॥२७९॥
 सुख नहि विषयादिक विषै, सुख आत्म रस सार ।
 मन इंद्री वरजित मही, अविनासी अविकार ॥२८०॥
 सुख समुद्र है सासतो, निज गुण रूप अरूप ।
 लौकिक गुण तैं रहित जौ, गुण सागर सद्रूप ॥२८१॥
 नाहि मगन भावानिसे, वन उपवन जग मांहि ।
 ते सब याकै तीर हैं, यामैं संसै नाहि ॥२८२॥
 अमृत वेलि न लोक मै, निज अनुभूति समान ।
 सोइ फलि रहि जलधि तटि, अमरण फलर समान ॥२८३॥

जड सुभाव जलचर नहीं, चेतन सागर मांहि ।
 मोह मान मन मदन छल, मगर न एक रहांहि ॥२८४॥
 मृत्यु कारणां दुष्टते, इन से दुष्ट न और ।
 रस सागर रतनागर, नहीं तिनी की ठौर ॥२८५॥
 घरे पक्ष मिथ्यात की, दया भाव तें दूर ।
 तेहि कुपक्षी नहि तहां, सागर है सुख पूर ॥२८६॥
 जीभ लोलपा मांछला, निठुर काछिवा जेहि ।
 वृथा विवादी मीडका, सागर में नहि तेहि ॥२८७॥
 तुल्य भाव जे भींगरा, कोट कालिमा रूप ।
 जल सर्पा जग भावजे, सागर में नहि रूप ॥२८८॥
 जग जंजाल अनेक जे, ते जल देवत जानि ।
 तिनकी तहां न ठाम है, यह निश्चं परवानि ॥२८९॥
 मलिन भाव हो काग जल, जलनिधि में नहि कोय ।
 मद मस्तर मास्तर नहीं, अदभुत सागर सोय ॥२९०॥
 पर पीड़ा कर क्षुद्र जे, परिरामा जग मांहि ।
 तेहि डांसरा दुष्ट धो, रस सागर में नांहि ॥२९१॥
 विषय वासना सारिखी, नहि वासना कोय ।
 निज सागर में सो नहीं, सुख सागर हैं सोय ॥२९२॥
 विष तर राग विरोध से, मा पासी विष बेल ।
 नहि अमृत सागर नषें, सागर रस की रेल ॥२९३॥
 कृपण भाव कोड़ी नहीं, नांहि मिथ्याती संख ।
 द्विविधा सीप नहीं जहां, निज सागर मधि बीभ ॥२९४॥
 विषम पवन जग वायसी, और न कोइ असार ।
 सो वाजें नहि जलधि में, उदधि अथाह अपार ॥२९५॥
 वड़वानल बांछा जिसी, नहीं विश्व के मांहि ।
 सो नहि विमल पयोधि में, खल नहि कोइ रहांहि ॥२९६॥

कस हंसन निज केलि से, जिनकी सदा निवास ।
 लहि सरिस समभाव से, तिनकी सदा विलास ॥२६७॥
 राज हंस रिषराय से, श्रीर न जानौं वीर ।
 क्रीड़ा करै सदा तहां, जहां सहज रस नीर ॥२६८॥
 अवर विहंगम मारगा, हौंहि सुभाव बिहंग ।
 तेहि सुपक्षी जलधि में, लीला करै अभंग ॥२६९॥
 हिंसा भाव नहीं जहां, है हंसन की केलि ।
 सीत न ताप न रैन दिन, जल निधि रस की रेलि ॥२७०॥
 क्षार भाव से क्षार जल, जलधि थकी अति दूर ।
 सो रतनागर सागरा, गुण अनंत भरपूर ॥२७१॥
 नहि विभाव बितर जहां, असुभ असुर नहि कोय ।
 मायाचार न चोर छल, अनुपम सागर सोय ॥२७२॥
 पापाचार स्वरूप खल, परिणामा सिषादि ।
 सागर तीर न पाइए, मद परिणाम गजादि ॥२७३॥
 कायर खंचल भाव मय, एक न कोइ मृगादि ।
 सागर तीर न देखिये, दोष रूप दैत्यादि ॥२७४॥
 लोभ लुटेरा नहि जहां, लूटि सकै नहि कोय ।
 दुखदायक दुरभाव नहि, सुखसागर है सोय ॥२७५॥
 क्रीड़ा भाव सुभाव ही, क्रीड़ा नात्र अनूप ।
 क्रीड़ा करै पयोधि में, परमात्म निज रूप ॥२७६॥
 नाम अनंत पयोध के, महिमा अगम अपार ।
 भाव नगर के निकट ही, भाव उदधि अविकार ॥२७७॥
 आत्म भाव हि नगर है, आत्म भाव पयोधि ।
 आत्म राम ही राव है, यह निज घट में सोधि ॥२७८॥

और न भाव प्रपंच कछु, केवल चेतन भाव ।

यह निज सागर वर्णनां, उर धारें मुनि राव ॥३०६॥

॥ इति भाव समुद्र वर्णनं ॥

दोहा

भव समुद्र वर्णन—

या संसार ससार में, श्री समवान प्रसार ।

तेहि उधारें घृण निधी, करें भवोदधि पार ॥३१०॥

नहि संसार समुद्र सौं, सागर और विरूप ।

यह विष सागर दुख मइ, महा भयंकर रूप ॥३११॥

भोग कामना कल्पना, भर्म वासना तेह ।

अति कुवासना सौं भरघौ, भव सागर है एह ॥३१२॥

दुख सागर सद्रूप इह, है अत्यंत असार ।

क्षार महा विष जलमइ, तै भव पारावार ॥३१३॥

विषै सारिखो जग विषै, और न है विष नीर ।

भव भव उपजावें मरणा, देय सदा दुःख पीर ॥३१४॥

भाव कालिमा सारिखौ, कीच न जग में कोय ।

कीच कालिमा सौं भरघो, भव सागर है सोय ॥३१५॥

मल नहि मोह ममत्व सौं, यह मल सागर पूर ।

छल सागर छल सौं भरघो, खल सागर सुख दूर ॥३१६॥

भोग भावना अति तृषा, उपजावें संताप ।

विषै नीर सौं नहि बुझे, विरथा विषै विलाप ॥३१७॥

आत्म अनुभव सारिखौ, और सुधारस नाहि ।

सो अति दुर्लभ है भया, भव सागर के मांहि ॥३१८॥

लहरि न लोभ तरंग सी, ते भव मांहि अनंत ।
 विषै तरंगनि सौं भरयो, दुख दोषनि कौ कंत ॥३१६॥
 नंदी न आसा सारिसी, आकुलता जल पूर ।
 मिलै सकल भव सिंधु में, रहै जीव अति क्रूर ॥३२०॥
 भवणन भ्रम सौ और को, उहै भवण भ्रम रूप ।
 भव समुद्र विडरूप अति, कहै महामुनि भूप ॥३२१॥
 घाकै तटि तरवर विषा, विषम भाव अघ रूप ।
 तिसे कुव्रक्षन और को, कंटिक रूप कुरूप ॥३२२॥
 बाधा सी विष वेलि नहि, विकल्प से नहि जाल ।
 ते भव सागर कै नषै, दीखै अति विकराल ॥३२३॥
 वन उपवन दुख फल भरे, भव सागर के तीर ।
 माया ममता मूरछा, वन देवी है वीर ॥३२४॥
 अमृत तरु सम भाव जे, ते सागर तटि नाहि ।
 अमरण फल कौ नाम नहि, मरण सदा भव मांहि ॥३२५॥
 अमृत वेलि न विश्व में, निज अनुभूति समान ।
 सौ भव सागर सौं सदा, है अति दूर निधान ॥३२६॥
 संसै विभ्रम मोहमय, धारे असुर अपार ।
 अति अथाह गम्भीर है, फैंकट फेन असार ॥ ३२७॥
 आदि न अंत न मध्य है, भव सागर कौ वीर ।
 कोइक उधरै धीर नर, तिरै भवोदधि नीर ॥३२८॥
 मीनन लम्पट चपल से, तिनकौ अति विस्तार ।
 मीन ध्वज से धीवरन, पाय सुरूप अपार ॥३२९॥
 धारयां विकल्प जाल जे, भाव महुा विकराल ।
 पकरै चपल मन मीनकौ, करै बहुत वेहाल ॥३३०॥
 नहि दादर दुरबुद्धि से, बकवादी चल भाव ।
 तिनकौ तहां निवासि है, ह भासै मुनिराव ॥३३१॥

निष्ठुर भाव कठोर जे, तेहि काछिवा जानि ।
 भरचो जलचरादिक थकी, जल निधि मांनि ॥३३२॥
 अति आलस परमाद से, सूंसि और नहि कोय ।
 कर्म बंध पर बंध से, नहि तांतूणि जु होय ॥३३३॥
 मगर मछ नहि काल सौ, गिले जगत कौ जोय ।
 भव सागर मैं सो रहै, वचै कहां तैं कोय ॥३३४॥
 महा नून व्रति तुछ व्रति, हीन दीन भव भाव ।
 तेहि भींगरा जानिये, तिनकी बहुत लखाव ॥३३५॥
 कीट न विषै कषाय से, महा मलिन दुख दाय ।
 कोई कर्म कलंक सम, और न कोई कहाय ॥३३६॥
 कूड कलंक कलेस मय, भव सागर भय सिंधु ।
 कोइक उधरे साधवा, रहित सकल परबंध ॥३३७॥
 मांछर मछर भाव जे, डांसर दुसह सुभाव ।
 सागर तीर अपार है, यह दुख कौ दरियाव ॥३३८॥
 थलचर जलचर नभचरा, धिरचर जग के जीव ।
 भरचो सदा सब भूत तैं, जामैं बहुत कुजीव ॥३३९॥
 जामरा मरण करें सदा, दुख देखें मति हीन ।
 कोइक मुनिवर पार ह्वै, निज आत्म लवलीन ॥३४०॥
 त्रिविधि ताप संताप तुल, बडवानल नहि कोय ।
 सोही भवानल भव विषै, सदा प्रज्वलित होय ॥३४१॥
 जैसें जल कौ सोसइ, बडवानल जल मांहि ।
 तैसें इह जीवन जला, सोसै संसै नांहि ॥३४२॥
 इह नांही रतनाकरा, दोषाकर दुख रूप ।
 खानि महा मछानि की, मकरा कर विडरूप ॥३४३॥
 दुरनय पक्षी सारखे, नांहि कुपक्षी कोय ।
 करें तेहि अति कुसवदा, सदा सोर अति होय ॥३४४॥

रहित ज्ञान धन जड़ता, जे मिथ्या परिणाम ।
 तिन से संख न और को, भव जल तिनकी धाम ॥३४५॥
 संखोत्यो सागर यहै, महा संख अति भंग ।
 उतरे पार पुनीत नर, जे निसंक नहि कंष ॥३४६॥
 कृपण व्रति सम लोक में, कौड़ी और न कोय ।
 भरचौ भवोदधि तिन थकी, नहीं रम्य है सोय ॥३४७॥
 कौड़यो सागर है सही, नहीं कौड़ी की एह ।
 गुण माणिक के पारखी, तजै या थकी नेह ॥३४८॥
 सीपन द्विविध व्रत ती, है द्विविध की ज्ञानि ।
 सीपोत्यो सागर यहै, रमि बाजे गिन जानि ॥३४९॥
 कागन कोइ कुभाव से, है तिनकी हृचां केलि ।
 बुग नहि ठग भावानि से, तिनकी रेलि जु पेलि ॥३५०॥
 जड़ स्वभाव जड़तामई, वरजित सम्यक ज्ञान ।
 नहि तिनसे जल देवता, रोकें पथ निरवान ॥३५१॥
 रागादिक अति राक्षसी, दुष्ट भाव दैत्यादि ।
 पाप स्वरूप पिसाच बहु, बितर है विषयादि ॥३५२॥
 ते संसार समुद्र में, वसें सदा विकराल ।
 कैसे प्रोहण चलि सकें, वहै बाय असराल ॥३५३॥
 बाय न मिथ्या बायसी, जा करि जग उड़ि जाय ।
 गिर नहीं धिरता भाव से, जे निश्चल ठहराय ॥३५४॥
 नाहि कुपर्वत लोक में, कठिन भाव से कोय ।
 कर्कस कटु कषाय घर, निष्ठुर निर घृण होय ॥३५५॥
 तें भवसागर के विषैं, नाव बिहारक वीर ।
 अवरहु विघन वहीत हैं, यह सागर गंभीर ॥३५६॥

प्रोहण लूट जल विषै, सब की सरवसु लेय ।
 जल दौरा लालच महा, जग की बंद करेय ॥३५७॥
 तसकर विषया भाव जे, चीरै अह निसि माल ।
 भाखन साव विरल गी, हरे अगत जंजाल ॥३५८॥
 अभख भक्षका हिसका, तेहि सिध व्याघ्रादि ।
 अति दोषी विष का भरचा, जेहि जानि सर्पादि ॥३५९॥
 सदा भवोदधि कै तटे, मद परिणाम मजादि ।
 दिखरै कायर चंचला, भाव सुसा मृग आदि ॥३६०॥
 बाधक भाव कुभावजे, तेहि व्याध अति होय ।
 अपराधी परिणाम जे, तेहि पारधी जोय ॥३६१॥
 मूल महा दुख की सदा, भव समुद्र भय रूप ।
 जामैं रंच न रम्यता, दीसैं बहुत विरूप ॥३६२॥
 है अछेह अघ गेह यह, लंघे याहि अनेह ।
 तजै गेह देहादिस्यौ, मोह मुनिद विदेह ॥३६३॥
 रतनन निज गुण रतन से, दरसन जान स्वरूप ।
 सत्ता चेतनता महा, आनंदादि अनूप ॥३६४॥
 ते अगम्य अति दुर्लभा, जिन करि रोर नसाय ।
 रीरन रस अनरस समा, इह निहश्चै ठहराय ॥३६५॥
 नहीं रतन की बात ह्या, कीड़िन की व्यौषार ।
 संख सीप बहुती सदा, संखनि की सरदार ॥३६६॥
 निज मणि प्रापति अति कठिन, कोइक पावे धीर ।
 सो नर है भव सिंधु में, तजै तुरत भव नीर ॥३६७॥
 विमल भाव परकास मय, निरमल ज्योति सरूप ।
 ते मुक्ताफल जानियै, वस्तु अरूप अनूप ॥३६८॥
 तिनको दरसन दुर्लभा, भव सागर कै माहि ।
 उज्जल उत्तम भाव जे, हंस न यहां रमाहि ॥३६९॥

नाव न मुनि व्रति सारिखी, विरक्त भाव निधान ।
 मंडित मूलोत्तर गुणनि, पहुँचावै निरवाण ॥३७०॥
 नाम नाव ही कौ महा, भाषे लोक जिहाज ।
 जति व्रत रूप जिहाज में, राजें श्री मुनिराज ॥३७१॥
 छिद्रण दूषण ग्रहण से, ते न नाव कै कोय ।
 इह अछिद्र नौका महा, भव जल तारक होय ॥३७२॥
 संग रहित संजम मई, जब बाजै सुध वाय ।
 जति व्रतरूप जिहाज तब, भवसागर तिरिजाय ॥३७३॥
 खेवटिया न गुह समद, जिनके ताहि लगद ।
 आप तरें तारें रखी, रहित विषाद विवाद ॥३७४॥
 श्री भगवान सुजानि से, और न सारथवाह ।
 भवसागर भय रूप में, तेइ करें निवाह ॥३७५॥
 नित्य स्वरूप विनास सौं, वरदवान नहि वीर ।
 निज चेतन धन ले मुनि, पहुँचे निजपुर धीर ॥३७६॥
 धर्म नाव गुर खेवटिया, सारथवाह जु देव ।
 यह वरणन व्यवहार है, निश्चै आतम एव ॥३७७॥
 आतम भाव अनूप जो, ता सम और न दीप ।
 भव सागर कै तार है, दिपै सदा दैदीप ॥३७८॥
 ताहि कहैं निरवान अर, मोक्ष हु कहै मुनिद ।
 कहै अभैपुर भावपुर, सिवपुर कहैं अतींद ॥३७९॥
 ए निजपुर के नाम सब, फवै जाहि सब वोय ।
 नग्न निरूपम निर्मला, है निरलेप अछोय ॥३८०॥
 बस दीप सब कै सिरै, जहां न जम कौ जोर ।
 चोर न जोर न जार कौ, होय न कबहु सोर ॥३८१॥
 दोलति रूप अनूप सौं, दीप दोष तैं दूर ।
 संपति ज्ञान विभूति जो, हैं तारैं भरपूर ॥३८२॥

निजपुर वासी होय कै, भाव समुद्र विलास ।
 लहैं भवोदधि तैं सदा, दूर रहैं सुवरास ॥३८३॥
 भव समुद्र भव वन इहै, एहि भाव नल रूप ।
 अंध कूप विडरूप इह, तिरैं महामुनि भूप ॥३८४॥
 भव समुद्र बरान भया, डर धारै जो धीर ।
 सो न परै भव सिंधु में, तिरैं तुरत भव नीर ॥३८५॥

॥ इति भव समुद्र वर्णन ॥

दोहा

ज्ञान निरूपण -

अचल अटल अति विमल है, जगदीश्वर जस रासि ।
 ताहि प्रणामि नमि सूत्र कौं, श्री गुरु गुण परकासि ॥३८६॥
 भाषी सुथिर सुभावमय, गिरवर अचल सुभाव ।
 क्रीड़ानिधि क्रीड़ा करे, जा परि चेतन राव ॥३८७॥
 अचल सुथिर सुभाव से, क्रीड़ा गिर नहि कोय ।
 रतनाचल रम्याचला, ताहां न कंटिक जोय ॥३८८॥
 अति उत्तकिण्ठे उत्तमा, उच्च सवनितें जेहि ।
 अचल भाव ते अचल हैं, और न अचल गनेहि ॥३८९॥
 रतन न निज गुण रतन से, अस्ति स्वभाव अनत ।
 चेतनता आदिक महा, थिर गिर माहि रहंत ॥३९०॥
 परम पुनीत पदार्थ जे, है तिनको यह थान ।
 जहां मगन भावानि से, सघन वृक्ष रसवान ॥३९१॥
 भरचो सदा रस वस्तु ते, अअत रूप अनूप ।
 जहां कुपक्षी एक नहि, चंचल भाव स्वरूप ॥३९२॥

उज्जल निर्मल भाव से, परमहंस नहि और ।
 इहै ज्ञानगिर धर्मगिर, है हंसनि की ठौर ॥३६३॥
 निज धारा कल्लोलनी, वहै अखंडित धार ।
 ता सम ए तटिनि और नहि, जाकौ पार न बार ॥३६४॥
 सो उतरै या गिर थकी, सुख सागर कै मांहि ।
 सदा समावे सासली, यामैं संसै नांहि ॥३६५॥
 गिर परि समरस सरवरा, गिर निज पुर कै पासि ।
 सदा ज्ञान अनुभूतिमय, वेलि रही परकासि ॥३६६॥
 सदा प्रफुल्लित भावमय, फूल रहे अति फूलि ।
 महा सुधारस भावफल, फलें हरै भ्रम भूलि ॥३६७॥
 क्रोध अगनि कामागनी, लोभ मोह मय आगि ।
 देखत ही भावाचला, तुरत जांहि सब भागि ॥३६८॥
 ज्ञानागनि ध्यानागनी, धूम रहित परकास ।
 तेज अगनि प्रज्वलित है, जा करि भर्म न भास ॥३६९॥
 धूम न कर्म कलंकसौ, ताकौ तहां न नाम ।
 नही वाय चल भाव मय, यह परवल निज धाम ॥४००॥
 दुष्ट कठोर कुभावजे, पाहण तैहि बखान ।
 यह क्रीड़ा गिर थिर गिरा, रमणाचल कहवाय ॥४०१॥
 या गिर मैं नहि पाहणा, कंकर कोइ न होय ।
 क्षुद्र रंक भावानि से, कंकर और न जाय ॥४०२॥
 वहै व परि सुसंगता, तिसी न सुन्दर वाय ।
 है रतननि कौ पर्वता, आपहि मांहै सोय ॥४०३॥
 अति हि कृपणता नांहपन, जाचकता जग मांहि ।
 तिसी न नांही कांकरी, ते या गिर परि नांहि ॥४०४॥
 सठ पमु नहि कामीनि से, ते गिर परी न लगार ।
 दुष्ट पमु न पिसुनानी से, तिनकौ नहि संवार ॥४०५॥

पसु न कहावैं पापिया, गहै दोष पर जेहि ।
 मिसुन न पेखैं पर्वता, धिरता रूपक देहि ॥४०६॥
 गिर परि हिंसा नाम नहि, नहि हिंसा परिणाम ।
 यह पहार निज धाम है, रमै आत्मा राम ॥४०७॥
 खल नर खल तिर खल असुर, लखि न सकैं गिरराज ।
 दिव्य भाव निज तेहि सुर, तिनके तहां समाज ॥४०८॥
 फूलि रहे भावा कमल, अमल अलेप स्वरूप ।
 समरस सरवर कै विषै, थिर गिर परि सद्रूप ॥४०९॥
 निज रस वेदक भावजे, तेहि भमर भ्रम दूरि ।
 ते रमणाचल उपरें, रमै सदा भूरपूरि ॥४१०॥
 आत्म अनुभव केलिसी, और न कोइल कोइ ।
 सो गिर ऊपरि है धनी, अति सुखदायक सोय ॥४११॥
 माया जाल न है तहां, जहां न विकल्प जाल ।
 विष तह अध कर्मन जहां, पर्वत बहुत बिसाल ॥४१२॥
 विष बेलि न ममता तहां, समता अनुल अपार ।
 जे विषफल दुख दोष भय, गिर परि ते न लगार ॥४१३॥
 नहीं काल अजगर जहां, और न अवकर कोइ ।
 है सुखकर इह पर्वता, निजपुर निकट हि होय ॥४१४॥
 नहि कंटिक क्रोधादिका, नहि मन मरकट केलि ।
 मोर प्रमोद स्वभाव से, तिन की रेल जु पेलि ॥४१५॥
 गुफा जान मय ध्यान मय, तिन करि सोभित एह ।
 सिखर सुधा भावानि से, धारें अनल अछेह ॥४१६॥
 या पर्वत की तलहटी, शुभाचार शुभ रूप ।
 अशुभ दैत्य दूर रहैं, थिर गिर अमल अनूप ॥४१७॥
 महा मुनिद्र गिरंद्र परि, राजै शांत स्वरूप ।
 रहैं राज हंसा सदा, आत्म राम अनूप ॥४१८॥

सुख की बात अनन्त है, दुख की एकहु नाहि ।
 यह सुख सिखरी सर्वथा, नहि भव सागर माहि ॥४१६॥
 इहै भाव गिर भूप गिर, भाव नगर कै पासि ।
 विना अनेपुर बिर गिरा, नहि भव बन में भासि ॥४१७॥
 इह निज क्रीड़ा गिर कथा, उर में धारै संत ।
 सो क्रीड़ा गिर उपरै, क्रीड़ा करै अनंत ॥४१८॥
 क्रीड़ा नाम न और को, क्रीड़ा निज अनुभूति ।
 जो निज सत्ता में रमै, बिलसै ज्ञान विभूति ॥४१९॥
 वस्तु अमूरति चेतना, है अनूपम अविकार ।
 आपहि निज गिर निजपुरा, आपहि सिधु अपार ॥४२०॥
 आपहि निज सर निजवना, आपहि है रसकूप ।
 निज विभूति वापी विषै, केलि करै चिद्रूप ॥४२१॥

॥ इति ज्ञान निरूपण ॥

बोहा

गर्व गिरि वर्णन—

मोह न मान न मनमथा, मन न वचन नहि देहि ।
 गेह न नेह न राग रिस, राजै राव अछेह ॥४२२॥
 ताहि प्रणमिन भारती, अनेकांत अविकार ।
 भाषौ मान मही घरा, नमि मुनि संजमधार ॥४२३॥
 नहीं मान गिर सारिखौ, और विष गिर कोय ।
 महानीच यह गर्व गिर, नीचन को घर होय ॥४२४॥
 नदय दुष्ट स्वभाव से, और न खल निरजंच ।
 या परवत परि बहु रहै, जिनकै दया न रंच ॥४२५॥

क्रूर दिष्टि कोपाधिका, तेहि केसरी आदि ।
 जानहुं भाव विकार मय, विष भरिया सरपादि ॥४२६॥
 उड़ते रहैं विभाव मैं, धरहि कुपक्ष कुभाव ।
 तेहि कुपक्षी हिंसका, तिनकी तहां प्रभाव ॥४२७॥
 कायर जपल सुभाव जे, वन पसु तेहि मृगादि ।
 विचरैं गिर परि मैं भरे, भावहि विषय त्रिणादि ॥४२८॥
 पातक से नहि पारधी, अति परपंच स्वरूप ।
 ते परवत परि अह निसी, फिरैं महा विडरूप ॥४२९॥
 कठिनि कठोर स्वभाव से, और न पाथर जोय ।
 है पाथर की पर्वता, रतन कहां तैं होय ॥४३०॥
 कुटिल कुव्रति कुभाव से, कंकर कोइ न और ।
 प्राणिनि कीं पीड़ा करें, यह गिर तिनकी ठौर ॥४३१॥
 औरन कीं नीचै गनैं, इहै नीच व्रति होय ।
 क्षुद्र व्रति ते कांकरी, नान्ही निश्चै जोय ॥४३२॥
 पाथर कांकर कांकरी, तिनसौं भरघौ पहार ।
 महाकष्ट कौ थान इह, तू मति करै विहार ॥४३३॥
 है कंटिक श्रोत्रादिका, मद गिर मांहि असार ।
 सदा विपक्षी हयां रहैं, मिथ्यात्वादि विकार ॥४३४॥
 सोर विपक्षनि कौ सदा, सोर पसुनि कौ वीर ।
 जोर कुजीवनि कौ तहां, जहां न अमृत नीर ॥४३५॥
 नहि अविद्या सारिखी, विषवल्ली विपरूप ।
 सो गिर परि विस्तरि रही, दुखदायक दुख रूप ॥४३६॥
 जाल न माया जाल सौं, यह गिर जाल स्वरूप ।
 भरघो आल जंजाल कौ, विकल्प रूप विरूप ॥४३७॥
 विष तरवर नवि भाव से, धरै अनेक विकार ।
 यह विष वृक्ष मइ सदा, गरव पहार असार ॥४३८॥

है विषफल तरकादि जे, यह गिर विषफल रासि ।
 सुभ कौ लेस न है इहां, नहि गुण मणिया पासि ॥४४२॥
 विषै फूलि धन फूलि से, और न विष के फूल ।
 फूलि रहे तरु तिन थकी, तहां जाय मति भूल ॥४४३॥
 सदा कुपत्र परे इहां, महा अपात्र स्वरूप ।
 मिथ्या सूत्र कुवाय तैं, उड़े फिरैं जड़ रूप ॥४४४॥
 नहि अध्यातम तन्त्र से, अमृत तरु गिर मांहि ।
 नहि अध्यातम व्रति सी, अमृत वायु लखांहि ॥४४५॥
 नांहि मानगिर के विषै, सदा प्रफूलित भाव ॥
 नांहि सुधाफल परमफल, यह गिर विषम लखाव ॥४४६॥
 नांहि शुद्धता सारिखी, गिर परि अमृत बेलि ।
 विमल भान हंसानि की, तहां न कबहू केलि ॥४४७॥
 नहि अमृत सरवर जहां, समरस भाव सुरूप ।
 भरे शांत रस नीर तैं, दाह हरण सद्रूप ॥४४८॥
 भाव अलेख अछेय से, तहां सरोज न कोय ।
 सर बिनु होय सरोज वयीं, यह निश्चै अवलोय ॥४४९॥
 भावरसज से विज्ञसे, भमर न भमैं कदाचि ।
 काहैं मद गिर ऊपरै, रहे मूढ जन राजि ॥४५०॥
 नहीं मगनता भाव मय, या परवत परि मोर ।
 नहि कोइल कलकांठ हृद्यां, अमृत धुनि मन चोर ॥४५१॥
 या गिर तैं नहि नीसरैं, अमृत सरिता सार ।
 जानामृत धारामइ, आनदी अविकार ॥४५२॥
 या गिर तैं आसा नदी, बांछा रूप विसाल ।
 निकलै ममता मूरती, मानो परतषि काल ॥४५३॥
 इहा भरे दुख सरवरा, विष जल तैं विकराल ।
 विचरैं चोर निरंतरा, मन इंद्री असराल ॥४५४॥

ठग न धूर्त भावानि से, इहै ठगनि को थान ।
 पर बाधक अपराध मय, वसै व्याध बलवान ॥४५५॥
 असुर न असुभाचार से, दुराचार के राय ।
 यह असुरनि की आश्रया, असुराचल कहवाय ॥४५६॥
 दैत्य दानवा दुष्ट जन, दगादार सौ काहि ।
 परदुख दायक दुरित धर, रहै बहुत गिर मांहि ॥४५७॥
 नहि पिशाच पापानि से, भूत न भर्म समांत ।
 वितर नहि विपरीत से, तिनकी घर गिर मान ॥४५८॥
 इह भूतनि की पर्वता, है दैत्यनि की केलि ।
 सदा पिशाचनि की पुरा, रहे निसाचर खेलि ॥४५९॥
 रागादिक रजनीचरा, परवत के सिरदार ।
 मोहासुर असुरेस कौ, जिनका भुज पर भार ॥४६०॥
 मदगिर में माया गुफा, करै मूर्छा भाव ।
 द्रोह सिखर संसै मइ, तहां धरै मति पांव ॥४६१॥
 महा वधिक बाधा करा, पशु धार का क्रूर ।
 विचरै दुर्जन भाव अति, यह गिर सुख तें दूर ॥४६२॥
 यहै पापगिर तापगिर, कबहूँ न क्रीड़ा जोगि ।
 वसै रौद्र भावादिका, पसु नर असुर अजोगि ॥४६३॥
 मंगलकारी मूलि नहि, सर्व अमंगल भाव ।
 यहै विघन गिर विषम गिर, धारै बहुत विभाव ॥४६४॥
 काम अगनि क्रोधागनी, लोभानल विकराल ।
 दोष अगनि दुख अगनि अति, काल अगनि असराल ॥४६५॥
 मोह अगनि सब में सरस, जा करि जगत जलाय ।
 घनसी अगनि न लोक में, भव भव ताप कराय ॥४६६॥
 सप्तार्चा एइ सही, विनु समरस न बुझाय ।
 सो समरस नहि गिर विषै, सदा अगनि भवकाय ॥४६७॥

यतसी नाहि दवानला, नहि वडवानल होय ।
 नहि वज्रानल विश्व में, नहि प्रलयानल कोय ॥४६८॥
 मोहादिक मोटी अगनि, सदा प्रज्वलित रूप ।
 यह गर्व गिर अगनि मय, दाह रूप विड रूप ॥४६९॥
 भ्रांति समान न वाय को, वाजै जहां असार ।
 कहिए भंभा जाहि कौ, धारै महा विकार ॥४७०॥
 नहि वन उपवन सुखमई, इहां न रस कौ नाम ।
 इहे मान अज्ञानमय, नहीं ज्ञान कौ काम ॥४७१॥
 लंघि मान गिर मृनिवरा, लेय भाव भड़ लार ।
 पहुँचै निजपुर धीर धी, जहां न एक विकार ॥४७२॥
 यहै मान गिर दोष गिर, भव वन मांहि अनादि ।
 सिवपुर तीं दूरी मदा, जहां वसें विरसादि ॥४७३॥
 मानाचल की तलहटी, समल सुभाव समस्त ।
 मानाचल के आंसिरी, होय ज्ञान रवि अस्त ॥४७४॥
 वर्णन गर्व पहार की, पढ़ें सुनें जो कोय ।
 सो मद गिर परि नहि चढै, अढै ज्ञान सुख होय ॥४७५॥

॥ इति गर्व गिर वर्णन ॥

दोहा

निज गंगा वर्णन—

गुण समुद्र गुणनायको, सतजन सेवें जाहि ।
 सो सर्वसुर सनमति, नमसकार करि ताहि ॥४७६॥
 निज सरिता वर्णन करूं, जामैं स्वरस प्रवाह ।
 जाहि लखें सब दुख मटें, उपजें अतुल उछाह ॥४७७॥

नित्य निरंतर निर्मला, निज परस्फुटि रस धार ।
 वहै अखंडित धार जो, ता सम नदी न सार ॥४७८॥
 केवल कला कलोलनी, सदा सहज रस पूर ।
 रमै जा विषै राग हर, निज रसिया भ्रम दूर ॥४७९॥
 नहि तरंगनि रंग जसी, उठै तरंग अपार ।
 नहीं अंत तटिनि तनी, यह तटिनी अविकार ॥४८०॥
 तट अनेकता एकता, ए द्वय अदभुत रूप ।
 भरी शांत रस नीर तें, नदी अनूप सिवरूप ॥४८१॥
 पंक न पाप समान को, या मैं पंक न लेस ।
 हरे पाप संताप राहु, सरिता रहित कलेस ॥४८२॥
 रंक भाव जे भोगरा, नहि नदी मैं कोय ।
 डांसर मांझर विकलपा तिनको नाम न होय ॥४८३॥
 जड़ता भाव जु जलचरा, ते न कदाचित जानि ।
 जल देवत जग भावजे, कबहु तहां न मानि ॥४८४॥
 मगरमच्छ नहि मोह सौं, महा पाप को धाम ।
 सो न पाइए ता विषै, रमै निजातम राम ॥४८५॥
 मिथ्या मारग पक्ष धर, तेहि कुपक्षी क्रूर ।
 तिनतें रहित महानदी, सर्व दोष तें दूर ॥४८६॥
 है निकलंक निराकुना, अमृत रूप अबाध ।
 निज गंगा तासौं कहै, निज रस रसिया साथ ॥४८७॥
 कर्म कलंक समान को, और न होय कलक ।
 कर्म भर्म हहै नदी, सेवें साधु निसंक ॥४८८॥
 कंकर भाव कठोर जे, कृमि कुभावना रूप ।
 ते न कदे धारै नदी, अमृत रूप अनूप ॥४८९॥
 लोलुपता मय मीन जे, कुरम करकम भाव ।
 दुरवादी दादर भया, सरिता मैं न लखाव ॥४९०॥

सरिता तटि तरवर सघन, मगन भावमय होय ।
 विषतरु रूप न, भाव खल, कंटिक एक न कोय ॥४६१॥
 समता रूप लता महा, जिसी न अमृत वेलि ।
 सो तटनी तटि लहलहैं, है हंसनि की केलि ॥४६२॥
 शुद्ध स्वभावमइ महा, परम हंस मुनिराय ।
 तजै न तटिनी की तटा, भव आताप बुभाय ॥४६३॥
 माया वेलि न विषमइ, नहीं कल्पना जाल ।
 नाहि कलिमा कीट अर, संसै रूप सिवाल ॥४६४॥
 उठै परम द्रह माहि तैं, मिले महोदधि माहि ।
 इह अमूर्ति गंगा भया, चेतन पुरुष लहांहि ॥४६५॥
 नाहि रजोगुण रूप रज, नाहि तमो गुण मेल ।
 नदी निकट नहि नीच नर, नाहि कोइ वद फेल ॥४६६॥
 नदी अनादि अनंत इह, छेह न जाकी होय ।
 वहै भाव की भूमि मै, विरला बूझै कोय ॥४६७॥
 सरिता सत्ता रूप यह, अति कल्लोल स्वरूप ।
 केलि ठौर चिद्रूप की, एक न जहां विरूप ॥४६८॥
 महा रतन की खानि इह, महा मुखनि की खानि ।
 गुण मानिक की रागि इह, रस रूप परवानि ॥४६९॥
 हरै जनम मरणादि भय, हरै पाप संताप ।
 हरै रोग रागादि सह, यह तीरध निहपाय ॥४७०॥
 याहि गगन गंगा कहैं, निज रस रसिया धीर ।
 मगन होहि जे या विष, ते न लहैं भव धीर ॥४७१॥
 निरमल नभ सम रूप निज, तामैं करें विहार ।
 तेहि विहंगम दुर्लभा, सरिता तीर अवार ॥४७२॥
 कमल समान कलंक विन, विमल भाव जे होय ।
 तेइ सरिता मै रमैं, अदभुत सरिता सोय ॥४७३॥

नाहि प्रपंच स्वरूप ठग, मायाचार न चोर ।
 लोभ लुटेरा नहि जहां, नहीं काहू कौ जोर ॥५०४॥
 मान मनोभव मन महा, मै वासी भव मांहि ।
 ते तटिनी तटि दुरमती, कबहुं दोरें नांहि ॥५०५॥
 आसा रूप जु आसुरी, असुभ असुर जे कोय ।
 वांछा रूप जु वितरी, वितर विषय जु होय ॥५०६॥
 रसना रक्ति जु राक्षसी, रक्ष सरोज जु धूत ।
 आंसि रूप जो पूतनी, भर्म स्तनपी भूत ॥५०७॥
 दुरजनता जो दंष्ट्रनी, दंष्ट्र दंभ दोषादि ।
 पातक त्रति पिसाचनी, फुनि पिसाच पिसुनादि ॥५०८॥
 एनहि निज सरिता नथै, सरिता निज पुर पास ।
 इति पापिनि कौ सर्वथा, भव बन मांही वास ॥५०९॥
 क्रूर भाव जे केसरी, व्याघ्र विभाव स्वरूप ।
 व्याधि रूप जे व्याघ्र खल, हिंसक महा विरूप ॥५१०॥
 अर अपराधी पारधी, अति निरदय परिणाम ।
 विषै दर्प सर्पादि फुनि तिनकौ तहां न काम ॥५११॥
 फूल रहे तटनि तहौं, भाव प्रफुल्लित फूल ।
 भर्म विचक्षण भाव अलि, रक्तिक भाव के मूल ॥५१२॥
 है निज धाम नदी महा, रमै आतमाराम ।
 सुधा रूप सरिता यहै, संतनि कौ विधाम ॥५१३॥
 गुण अणंत मणिकी महा, ऊर्मि मालिनी खानि ।
 परम स्वरूप पयोधि मै, करै प्रवेस प्रदानि ॥५१४॥
 निज अनुभूति अनूपमा, अमर बोलति होय ।
 निज अनुभूति लख्या बिना, सरिता केलि न कोय ॥५१५॥

निज समीप गंगा सदा, वहै अखंडित धार ।
करै सनत जू ता विषै, सो पावै भव पार ॥५१६॥

॥ इति निज गंगा निरूपणं ॥

दोहा

आशा वैतरणी विष नदी वर्णन—

आसा नाहि धरै प्रभू, सब बांछा तें दूर ।
बंदी परमानंद जो, गुण अतंत भरपूर ॥५१७॥
विष कलोलनी विश्व मै, नहि बांछा सी कोय ।
विष नहि विषै विकार सौ, भव भव दुख दे सोय ॥५१८॥
आसा सी न तरंगनी, त्रिषा सी न तरंग ।
भरण न संसै सारिखी, नहि तिरिबै कौ ठंग ॥५१९॥
भरी चाह विष नीर तें, नहीं ताप हर एह ।
कपट कीच कालिम मइ, भवि जन करै न नेह ॥५२०॥
विकल्प संकल्पानि से, और नहीं दुख रूप ।
सो द्वय तट धारै सदा, आसानंदी विरूप ॥५२१॥
विष वन विषम विभाव से, और नहीं जग मांहि ।
सो याकै तटि दीसइ, जिनमै छाया नांहि ॥५२२॥
विष बेलिन भमता जिसी, सो आसा कै तीर ।
फलै सदा दुख विषफला, जहां न अमृत नीर ॥५२३॥
उपजावै जड़ता इहै, राग दोष की खानि ।
क्षार महा दुरगंध है, प्राण हरा परवानि ॥५२४॥
बाजै जहा विरूप अति, आंति रूप जगवाय ।
सोइ उडावै जगत कौ, इह भासै मुनिराय ॥५२५॥

निकसै गिर अभिलाष ते, आसा तटिनि एह ।
 पइसै सागर सोच मैं, धारें अति संदेह ॥५२६॥
 बहै सदा भव वन विषे, आसा अति असराल ।
 रोकै सिवपुर की यथा, नदी महा विकराल ॥५२७॥
 मोखहू की आसा महा, मोख मोह दे नाहि ।
 कैसें भव भोगानि की, आसा दोष हराहि ॥५२८॥
 आसा आकुलता भरी, बांछा विकल्प रूप ।
 त्रिषना ताप मई महा, तजै सदा मुनि भूप ॥५२९॥
 तुछ अति भींजर जहां, भाव लोलपी मीन,
 मीढक वाचाली तहां, ब्रथा बर्क मति हीन ॥५३०॥
 भाव कठोर जु काछिवा, कृमि कुभाव मय मानि ।
 कीट कालिमा सौ भरी, आसा नंदी प्रवानि ॥५३१॥
 काम क्रोध लोभादि से, और न धीवर नीच ।
 ते डारें भ्रम जाल खल, आसा तटनी बीच ॥५३२॥
 मृत्यु समान ना लोक मैं, महा मगर नहि कोइ ।
 बिचरै आसा मैं सदा, निगलै सबको सोइ ॥५३३॥
 तिमर सारिखै तिम नही, तिनको तहां निवास ।
 जइ सुभाव जलचर घने, करै आस मैं वास ॥५३४॥
 नाहि अविद्या सारिखी, जलदेवी खल भाव ।
 वसै आस मैं सासती, धारें अतुल कुभाव ॥५३५॥
 मैं वासी नहि मोह सौ, मारे मारग मोष ।
 दौरे दुष्ट सदा जहां, हरै प्राण धन कोष ॥५३६॥
 नाहि विभावनि से भया, जग मैं वितर कोथ ।
 वसै आस मैं सासती, इह निश्चै अवलोय ॥५३७॥
 पर वस्तुनि के ग्राहका, अभिलाषी परिणाम ।
 तिन से चोर न बचका, आसा तिनको धाम ॥५३८॥

कुपख धारका कुसवदा, जेहि कुपक्षी क्रूर ।
 ते सब यास नीर है, दया भाव तैं दूर ॥५३६॥
 हिसक कुटिल कुभाव जे, ते सिधादिक जीव ।
 सदा आस तटिनी तटें, विचरें महा कुजीव ॥५४०॥
 सयन कंदर्पादि से, तिनकौ तहां निवास ।
 सदा कुवस्तुनि सौं भरी, यहै तरंगणि आस ॥५४१॥
 मल नहि राग विरोध से, आसा अतिमल पुर ।
 विमल भाव हंसा महा, ते तटिनी तैं दूर ॥५४२॥
 आसा तटि मुनिवर महा, रहैं न कवहु धीर ।
 अति अपराधी पारधी, विचरें दुर्जन कीर ॥५४३॥
 वैतरणी है न या सभा, आसा नदी असार ।
 उतरें कोइक साधवा, महाव्रती अणुगार ॥५४४॥
 अध्यातम विद्या जिसी, और न उत्तम नाव ।
 पार उतारैं सो सही, वायु विराग प्रभाव ॥५४५॥
 बैठन हारे नाव के, सम्यक दृष्टि धीर ।
 तिन से तेरु और नहि, ते उतरें भव नीर ॥५४६॥
 आसा मै बूढे घनें, बूढैगें जु अनंत ।
 पार उतारें मुनिवरा, कोइक संजमवंत ॥५४७॥
 गुण नहि दरसन जान से, तिन करि जकरी नाव ।
 रहित परिग्रह भार तैं, उतरैं गरु प्रभाव ॥५४८॥
 तिरि आसा मुनिवर महा, त्यागि जगत जंजाल ।
 वसैं निराकुल होय कैं, निजपुर मै ततकाल ॥५४९॥
 निजपुर सौ नहि कोइ पुर, जहां काल भय नाहि ।
 गुण अनंत निज पुर विषै, सुख अनंत जा माहि ॥५५०॥
 इह आसा कल्लोतनी, संकट रूप सिवाल ।
 कंटिक विषै कषाय से, बहुत कलपना जाल ॥५५१॥

- तहां जाय मति मित्र तू, तजि आसा को तीर ।
 विष सरिता आसा जिसी, और न जानौ वीर ॥५५२॥
 इह आसा वर्णन भया, जे धारें उर मांहि ।
 ते बूढ़े नहि आस मैं, सुख संतोष लहांहि ॥५५३॥
 निज दीलति अविनश्वरा, सत्ता रूप अनूप ।
 बिलसैं चेतनपुर विषैं, चिदानंद चिद्रूप ॥५५४॥
 ॥ इति आसा घंतरणी विष नदी कर्णन ॥

दोहा

भाव सरोवर वर्णन :-

सुख सरवर मैं जो रमैं, दमैं दोष दुख देव ।
 नमैं नाग नरनाथ मुनि, करैं सुरासुर सेव ॥५५५॥
 ताहि प्रणमि नमि भारती, भाषित भगवंत भूप ।
 करि प्रणाम गुरु देव कीं, भाषों निज सररूप ॥५५६॥
 सरवर समरस सौ नही, भरयो सहज रस नीर ।
 तरवर सघन स्वभाव से, तहां विराजें धीर ॥५५७॥
 अति सोभित सुख सरवरा, हरै दाह दुख दोस ।
 पालि जु सत्ता सारिखी, अचल अटल निरदोस ॥५५८॥
 इह सर सत्ता मांहि हैं, उठै लहरि आनंद ।
 वस्तु न दूजी जा विषैं, केवल परमानंद ॥५५९॥
 कीच न कर्म कलंक सौ, नहि कलंक की काम ।
 या सम अमृत सर नहीं, यह सरवर निज घाम ॥५६०॥
 नीर जु निर्मल भाव सौ, जा करि तृषा बुझाय ।
 इह सरवर सूकं नहीं, रस भरपूर रहाय ॥५६१॥

भाव अलेप अलेप से, अदभुत अंजुज होय ।
 सदा प्रफुल्लित सर तिनै, निज से कमलन कोय ॥५६२॥
 निज लक्षण मय लक्ष्मी, भाव सरोजनि मांहि ।
 वसै सदा सुख सासती, जा सम कमला नांहि ॥५६३॥
 सुख नहि निर-विकल्प समो, आत्म अनुभव रूप ।
 जहां न इंद्री मन वचन, बुधि न वस्तु अनूप ॥५६४॥
 केवल अनुभव केलि सी, और न अमृत बेलि ।
 परम भाव फल फलि रही, निज सर तटि रस रेलि ॥५६५॥
 भमर जु भाव रसज से, अति रस रसिया जेहि ।
 भाव अलेप सरोज परि, केलि करै निति तेहि ॥५६६॥
 हंस न उजल भाव से, स्वपर विवेकी वीर ।
 यह हंसनि को सरवरा, हिंसा हर गंभीर ॥५६७॥
 परमहंस मुनिराज जे, अस न धरै कलंक ।
 ते यामैं कीड़ा करै, निस वासर निहसंक ॥५६८॥
 सार भाव से सारिसा, तजै न इह सर कोइ ।
 चकवा चेतन भाव से, कबहु न विरही होय ॥५६९॥
 जहां निसा नहि आति मय, चकवी कौ न विधोग ।
 नहि चकवी निज शक्ति सी, रहै सदा संजोग ॥५७०॥
 ज्ञान भान भासिजु रह्यौ, जाकौ अस्त न होय ।
 यह अदभुत सरवर भया, वरणि सकै नहि कोय ॥५७१॥
 गुण रतननि की रासि यहै, रहित रजोगुण रेत ।
 वर्जित तामस तापसहु, संतनि कौ सुख देत ॥५७२॥
 इंद्री सुख दुख तै सदा, यह सर दूर अनादि ।
 भाव अतिंद्री अति धरै, जहां नही रागादि ॥५७३॥
 निज पक्षनि कौ धाम इह, सर्व कुपक्ष वितोत ।
 है पवित्र पीयूष सर, रमै पुरिष जगजीत ॥५७४॥

रहित शुभाशुभ शुद्ध सर, भाव प्रबुद्ध स्वरूप ।
 महा मोह मगरन अहं, तहां न एक विरूप ॥५७१॥
 काहू काम किरोध मय, सर को फरसि सकै न ।
 सर्व विभाव विकारमय, वितर एक रहै न ॥५७२॥
 जाचक भाव समान नहि, नून भाव जग माहि ।
 तेइ भींगर जानियँ, तिनको नाम हु नाहि ॥५७३॥
 दादर व्रथा विवाद जे, मछी वकल स्वभाव ।
 कदरज भाव जु काछिवा, सर मैं नाहि लखाव ॥५७४॥
 कीट कलपना जाल जे, डासर दुष्ट कुभाव ।
 मांछर मछर भाव जे, तिनको तहां अभाव ॥५७५॥
 नानाविध बर्णादिका, जड़ता भाव अनेक ।
 ते जलचर नहि ता विषै, भाव असुद्ध न एक ॥५७६॥
 विष विकार विनोदमय, विष व्रक्षत सर तीर ।
 विष वेलिन विभ्रांतता, भाव विषमता वीर ॥५७७॥
 मायाजाल न है जहां, समता मोह सुरूप ।
 पाप वासना रहित सर, आप स्वरूप अरूप ॥५७८॥
 जहां न भय को नाम है, अभै सरोवर एह ।
 अभै नगर के निकट ही, परमानन्द अछेह ॥५७९॥
 दुराचार दुरभाव जे, दुरविकल्प दुखदाय ।
 दुरित रूप ते दानवा, तहां धरै नहि पाय ॥५८०॥
 असु प्राणनि को नाम है, हरै प्राण पर जेहि ।
 असुर असुचि अति हिंसका, भाव न सर मैं तेहि ॥५८१॥
 विषै रागरत राखि सा, रसना लंपट भाव ।
 रंमणीरत रजनीचरा, तिनको तहां अभाव ॥५८२॥
 यंद्री भोगमयी भवा, भाव भूत भ्रम रूप ।
 ते न कदे सरवर लखै, जहां छाह नहि धूप ॥५८३॥

आसा नाम जु आसुरी, सर की नाम न लेय ।
 पर निंदा जु पिसाचनी, पाव न तहां धरेय ॥५८८॥
 अमल न कोइ मिथ्यात सो, जहां न मिथ्या भाव ।
 जोग सदा आनंद की, सम्यकज्ञान प्रभाव ॥५८९॥
 वंचक नाहि प्रपंच से, चोर न चित से कोय ।
 ठग नहि छल पाखंड से, सब तैं वर्जित सोय ॥५९०॥
 नाहि विपरजै भाव से, बटपारे विपरीत ।
 मारें मारग मोक्ष की, धारें सदा अनीत ॥५९१॥
 तिनकी नाही वसाय हैं, राजै चेतनराय ।
 लूटि सकैं नहि लोक की, लोभ लुटेरा आय ॥५९२॥
 दौरा दौरि सकैं नहीं, दंभ दोष दुख आदि ।
 अण्णाचार अपराध मय, जहां न जल कागादि ॥५९३॥
 भाव विराधक कुटिल अति, आरति रौद्र कुब्धान ।
 वृगतेही गनि ठग महा, जहां नहीं छलवान ॥५९४॥
 अविधि अजोगि अरीति नहि, निज तडाग तटि कोइ ।
 शुद्ध बुद्ध आनंदमय, सिद्धति की सर सोय ॥५९५॥
 त्रिविध तापहर पापहर, हरण सकल संताप ।
 इह निज सर सुखधाम है, रमै आप निहपाप ॥५९६॥
 परम मनोहर सर सदा, रतन सरोवर एह ।
 राज सरोवर है महा, कीड़ा जोगि अछेह ॥५९७॥
 स्वरस स्वसंवेदन समो, नहीं और रस स्वाद ।
 अमर अनूपम सर इहै, जहां न हर्ष विषाद ॥५९८॥
 मरें न काहू काल ही, निज सरवर रस पीव ।
 रहै मगन निज भाव मैं, सदा सरवदा जीव ॥५९९॥
 भाव नगर कै निकट ही, भाव सरोवर होय ।
 रम्य महा रमणीक अति, सुंदर सरवर सोय ॥६००॥

शुद्ध सरोज निवासिनी, निज सत्ता अनुभूति ।
करै केलि सुखसर विषै, केवलज्ञान विभूति ॥६०१॥
इह समरस सर वर्णना, पढ़ै सुनै जो कोय ।
सो अविनासी पद लहै, निज होलति पति होय ॥६०२॥

॥ इति श्री भाव सरोवर वर्णन ॥

दोहा

विभाव सर वर्णन—

चेतन भावमइ सदा, चिदानंद चिद्रूप ।
सर्व भाव वितीत जो, जानानंद स्वरूप ॥६०३॥
सीतल विमल अनंत गति, धर्म धुरंधर देव ।
शांतभाव सब कर्महर, करै सुरासुर सेव ॥६०४॥
जाकी भगति प्रभाव सौं, उपजै आतम बोध ।
लखै आप मैं आपको, करै करम की रोध ॥६०५॥
काढ़ै विकल्प सर थकी, निर विकल्प रस पाय ।
टारै मनमथ मोह मल, सौ त्रिभुवन की राय ॥६०६॥
ताके चरण सरोज नमि, प्रणमि सार सिद्धांत ।
विकल्प सर वर्णन करूँ, तजै जाहि मुनि शांत ॥६०७॥
विषसर विकल्प सर समो, नहि संसार मभार ।
महाविषम सर मलिन सर, जामैं रंच न सार ॥६०८॥
अति संकल पर विकलपा, तेइ विष जल वीर ।
भरघी सदा विष नीर तैं, विषतरु ताकै तीर ॥६०९॥
विषतरु विषै कषाय से, और न जनि कोइ ।
सर्व विभाव विकार मय, सदा मरण दे सोइ ॥६१०॥

पाप 'पालितें बंधियौ, इहै ताप सर आप ।
 महा विवट सर भर्म सर, देय सदा संताप ॥६११॥
 नहीं दाहहर दोसहर, नहीं रम्य सर एह ।
 हंसन शुद्ध स्वभाव से, करें न यासौं नेह ॥६१२॥
 कीचन काम कलंक सौ, यहै पंक तें पूर ।
 अमृत जल निज अनुभवा, सदा या थकी दूर ॥६१३॥
 अमृत वृक्ष न बोध से, फलें विमल फल भाव ।
 ते विकल्प सर तीर नहि, यह निश्चै ठहराव ॥६१४॥
 निज प्रवृत्ति भव निरवती, ता सम सुधा न बेलि ।
 सो विष सरवर तटि नही, जामैं रस की रेलि ॥६१५॥
 अशुभ कर्म से वृक्ष विष, विषै बुद्धि विष बेलि ।
 तिनकी विकल्प सर निकट, दीखै रेलि जु पेलि ॥६१६॥
 जल कागन जड़ भाव से, तिनकी तहां निवास ।
 वृग नहि पाखंडीनि से, तिनकी सदा विलास ॥६१७॥
 बुद्धि वियोगी बहिरमुख, बहिरात्म भव भाव ।
 तेइ चकवा ता विषै, विरह रूप दरसाव ॥६१८॥
 निसि न अविद्या सारखी, तिमर रूप दरसाय ।
 तामैं चकवी चेतना, कवहु लखी नहि जाय ॥६१९॥
 जगत वासना सारिखी, और न कोइ कुवास ।
 फैलि रही विषसर विषै, रोग सोग परकास ॥६२०॥
 मल नहि राग विरोध से, इह मलसर छलपूर ।
 खलसर अखिल विभाव से, सुंदरता सौं दूर ॥६२१॥
 मिथ्या मारग पक्षधर, हिंसक दुष्ट सुभाव ।
 तेहि कुपशी कुसवदा, तिनकी सदा प्रभाव ॥६२२॥
 मीन नदी न स्वभाव से, अति मलीन मतिहीन ।
 ते विचरैं विषसर विषै, अति चंचल अधलीन ॥६२३॥

अथा वक्कें वितथा लपें, लोभी लंपट भाव ।
 तिन से भेक न और को, धरें विवेक अभाव ॥६२४॥
 दादर डेड़र भेक ए, हैं मीडक के नाम ।
 यह मीडक की सरवरा, काल नाग की घाम ॥६२५॥
 मुह मीठी बातें करें, पीछें अति ही कठोर ।
 तेहि काछिवा सर विषै, जहां असुभ की जोर ॥६२६॥
 नांहीं मन नांहीं दसा, कृपण सदा परिणाम ।
 तेइ भींगर जानियें, मलसर तिन की घाम ॥६२७॥
 धीवर कुकरम भाव जे, चालें अधरम चाल ।
 ते विचरें विषसर नखें, धारें बिकल्प जाल ॥६२८॥
 मगर न होइ मही विषै, महा मोह सौ कोइ ।
 सुर नारक नर शिरन की, निगलें पापी सोइ ॥६२९॥
 बसैं सदा विषसर विषै, रूप महा विकराल ।
 अवरहु जलचर भावखल, जामें अति असराल ॥६३०॥
 सोर कुपक्षनि की सदा, सारिस जुगल न कोय ।
 सारिस दरसन ज्ञान से, और न जग में होय ॥६३१॥
 दुखदाइ दोषीक जे, दया रहित परिणाम ।
 दैत्य दानवा ते महा, खलसर तिनकी घाम ॥६३२॥
 दुष्ट व्रती दुरजन दसा, दुरगति दाइ रीति ।
 तेहि दैत्यनी यह बसैं, मलसर में विपरीति ॥६३३॥
 असुचि असुभ अत्रतमयी, अरि समान अघ भाव ।
 असुर असंजम रूप जे, तिनकी तहां प्रभाव ॥६३४॥
 अकुलत अविवेकता, आसा आरति रूप ।
 बसैं अविद्या आसुरी, विषसर विषै विरूप ॥६३५॥
 रमें राग धरि भोग में, जग अनुरागी भाव ।
 रस अनरस ते राखिसा, तिनकी तहां बसाव ॥६३६॥

रति अरति अति राषिसी, रसना लोलप रीति ।
 सर्व कुरीति लीयां वसै, विष सर मै विपरीति ॥६३७॥
 भय विभ्रमभय भाव जे, तेहि भूत भ्रमजाल ।
 यह भूतिन को सरवरा, रहै भूत विकराल ॥६३८॥
 भोग भावना भूतनी, अति स्वास्व विस्वा ।
 भ्रमैं सदा भ्रमसर विषै, भयकारी विहरूप ॥६३९॥
 परदारा परधन हरा, परद्रोही परिणाम ।
 ते पिसाच पापी करै, विषसर मै विश्राम ॥६४०॥
 पराधीनता पापिनी, मिथ्या परणति रूप ।
 पापव्रति पिसाचिनी, भवजल मै भय रूप ॥६४१॥
 सर्व विभाव विकार जे, विषै विनोद असेस ।
 ते वितर विषसर विषै, वैरी वसै विसेस ॥६४२॥
 अति अव्रत्तनिकी सदा, निरव्रति धरै न सोइ ।
 वै वितरी बलवती, मल सरवर मै होइ ॥६४३॥
 दुराराध्य दुरनीति धर, दुरजय दुसह सुभाव ।
 ते दौरा दौरें सदा, अति दोषादि कुभाव ॥६४४॥
 अति प्रपंचमय बंचका, माया मदन मनादि ।
 पूति सरोवर तीर हो, वचै विश्व अनादि ॥६४५॥
 भाव चलाचल चपल गति, त्रिषना रूप विरूप ।
 ते तसकर कुतड़ाग तहि, बोरी करै कुरूप ॥६४६॥
 लोभादिक लंपट महा, तेहि लुटेरा वीर ।
 लुटै सर्वहि लोक कौं, कोइक उवरै घोर ॥६४७॥
 बटपारे कुविसन महा, जूबां मद मांसादि ।
 वेस्या परधन हरणता, परदारा हिंसादि ॥६४८॥
 रोकें पथ निरवान कौं, रहै पापसर पालि ।
 तिन करि जग के जीव ए, सकै नहीं संभालि ॥६४९॥

ठग नहि जग के भाव से, ठगें ज्ञान सां माल ।
 बसैं सदा छलसर निकट, करें बहुत बेहाल ॥६५०॥
 अति ठगनी भव भावना, ठगें सुरासुर सोय ।
 कोइक उवरैं साधवा, संजम जिनपैं होय ॥६५१॥
 अभख भक्षका हिसका, करें कुसील विहार ।
 तिन से अपराधी नही, ते सर तीर अपार ॥६५२॥
 यह सरवर नहि केलिकी, कबहु रमन न जोगि ।
 तहा जाय मतिमत्र तू, सबही बात अजोगि ॥६५३॥
 है पिसाच सर पिसुन सर, विकट सरोवर नीर ।
 कीट सरोवर क्षार सर, करें महादुख पीर ॥६५४॥
 कीट न कलुष स्वभाव से, यहै कलुषता पूर ।
 रहैं पारधी पातकी, जे शुभ तैं अति दूर ॥६५५॥
 तामस सौ नहि तिमर है, राजस सम रज नाहि ।
 यह राजस तामस मइ, सब दुख याके माहि ॥६५६॥
 कमल न भाव अलेप से, तिनकी सदा अभाव ।
 कंटिक नाहि कषाय से, तिनकी महा प्रभाव ॥६५७॥
 कंकर क्षुद्र स्वभाव जे, दीखै तेहि त्रिसेस ।
 नही रतनन की बात ह्यां, लखिए असुभ असेस ॥६५८॥
 भमर न भावर संज्ञ से, तिनकी नाम हु नाहि ।
 दुष्ट भाव डांसर घने, रंच न सुख सर माहि ॥६५९॥
 मझर भावहि मांछरा, माखी मलिन सुभाव ।
 कुमि कुभाव रूपी महा, सर मैं बहुत लखाव ॥६६०॥
 भव बन मैं विकराल इह, भ्रमसर भयकर होय ।
 है विभाव-सर विषम-सर, विषसर इसौ न कोय ॥६६१॥
 शुद्ध निजातम भाव तैं, भिन्न जेहि भव भाव ।
 राग दोष मोहादि रिपु, ते कहिये जु विभाव ॥६६२॥

सदा विभाव तडाग तटि, थावर जंगम जीव ।
 लूटे जाहिं अनेक जन, कूटे जाहिं कुजीव ॥६६३॥
 कोइक मुनिवर उवरै, जिनवर की जन होय ।
 सर विभाव सो विरगहर, और न जग में जोय ॥६६४॥
 इह विकलप सर वर्णना, उर धारै जो धीर ।
 सो विकलप सर लंघि कै, निरविकलप है वीर ॥६६५॥
 निज स्वभाव सत्ता महा, सो निज बोलति होय ।
 और न संपत्ति सासती, यह निश्चै अवलोय ॥६६६॥

॥ इति विभाव सर वर्णन ॥

दोहा

अध्यात्म वापिका वर्णन—

देव दयानिधि देव जो, दिव्य दृष्टि भगवान ।
 दरसावै निजसंपदा, सो सरवज सुजान ॥६६७॥
 वंदनीक सब लोक गुर, सकल लोक कौ ईस ।
 रमै निजात्म भाव मै, नमूँ ताहि नमि सीस ॥६६८॥
 नही ब्रह्म विद्या जिसी, वापी अमृत रूप ।
 वापी मै पापी नहीं, मोह पिसाच विरूप ॥६६९॥
 अध्यात्म सो लोक मै, अमृत और न कोय ।
 अध्यात्म ये वापिका, त्रिविध तापहर होय ॥६७०॥
 नहीं सिवाल संसै जहां, पाप पंक नहि लेस ।
 नहि व्याकुलता भाव कृमि, भेटै सकल क्लेश ॥६७१॥
 भरी शांत रस नीर तैं, परमानंद स्वरूप ।
 हरै दाह दुख दोष सब, रमै तहां चिद्रूप ॥६७२॥

नहि विभाव व्यंतर जहां, भर्म भूत नहि होय ।
 रागादिक राक्षस महा, तिनको नाम न जोय ॥६७३॥
 नहीं अविद्या वासना, सम कुवासना कोय ।
 सो न जा विषे है सही, सम रस निर्मल तोय ॥६७४॥
 दुख को लेस न है जहां, निज सुख पूरण सोइ ।
 नाहि कलपना जालमय, कोई कलमय कोइ ॥६७५॥
 उज्जल निरमल भाव से, परम हंस नहि और ।
 केलि करें तामें सदा, जा सम और न और ॥६७६॥
 जहां सिद्धाण प्रमाण से, अप्रमाण अति रम्य ।
 अचल अखंड अनूपमा, नहि अजाण की गम्य ॥६७७॥
 जोर न इंद्री चोर को, सोर न कहूं सुनाव ।
 ठगनि सकैं परपंच ठग, शुद्ध राव परभाव ॥६७८॥
 भागें बंचक तसकरा, वापी को सुनि नाम ।
 रतन वापिका इह सही, गुण रतननि को धाम ॥६७९॥
 बटपारे न विकार से, काम लोभ से वीर ।
 तिनही न सूझै वापिका, रमैं महामुनि धीर ॥६८०॥
 फूलि रहे भावा कमल, अमल अलेप स्वभाव ।
 रमण भाव रूपी भसर, भमैं सदा निरदाव ॥६८१॥
 ताकैं तटि तरवर मुधा, भाव अछेदि अभेदि ।
 सीतल सधन सुवास अति, डारें दाह उछेदि ॥६८२॥
 समता रूप सुधा लता, धरै विमलता जोय ।
 फूलि रही अति फलि रही, सदा लहलहै सोय ॥६८३॥
 परम भाव अमृत फला, भाव प्रफुल्लित फूल ।
 पल्लव भाव प्रकासमय, पत्र तापहर मूल ॥६८४॥
 वेलि वृक्ष पोषणमय, वापी तीर विसाल ।
 माया वेलि न विषमइ, एकन विकल्प जाल ॥६८५॥

नाहि कुपक्षी कुसवदा, विष वृक्षन विषयादि ।
 नहि कंटिक क्रोधादिका, नहि निसिचर मदनदि ॥६८६॥
 हैं अंतता एकता, ए द्वय तट रमणीक ।
 भोग भुजंग नहीं जहां, आतम सुख लहकीक ॥६८७॥
 मलिन भाव मछली नहीं, भेक न आंति स्वरूप ।
 जहां कर्म कूरम नहीं, वस्तु न एक विरूप ॥६८८॥
 कालिम कीट नहीं जहां, नहीं काल कौ जोर ।
 अभै नगर कै निकट है, जहां न कबहु सोर ॥६८९॥
 नहि दुर्जनता भाव मय, डांसर मांछर मूर ।
 क्षुद्र भाव भींगर नहीं, बापी सब दुख दूर ॥६९०॥
 दंभ भाव नुर नहि जहां, नाहि विप्रोपी लोक ।
 सारिस दरसन ज्ञान जुग, केलि करें विनु सोक ॥६९१॥
 कागन भाव कलंक मय, राग रोग नहि होय ।
 शुद्ध स्वभाव मइ इहै, नाहि शुभाशुभ दोय ॥६९२॥
 इह अध्यातम बावरी, तामैं करै सनान ।
 सो भव दाह निवारिकैं, पावै पद निरवान ॥६९३॥

॥ इति संपूर्ण ॥

दोहा

विषय बापी वर्णन—

वसै वृद्धि कं पार जो, हरै कुवृद्धि कुभाव ।
 वीतराग सरवज जो, तीन भुवन कौ राव ॥६९४॥
 प्रणभूं ताहि प्रमोद करि, प्रणमैं जाहि सुरेस ।
 नमैं नाग नर सुर असुर, विद्याधर राजेस ॥६९५॥

बुधि बावरी जीव की, विषै कषाय स्वरूप ।
 तिसी न विष की बावरी, और महा दुख रूप ॥६९६॥
 विष नहि विषै विकार सौं, भव भव मरण प्रदाय ।
 इह विष वापी पाम है, पापी मोह रहाय ॥६९७॥
 विषै वासना सारिखी, नहि कुवासना जोय ।
 अति कुवासना सौं भरी, धर्म नासना होय ॥६९८॥
 कर्म कर्म कलंक सौं, कहै न कोविद कोय ।
 इह कर्म की वापिका, जहां न अमृत तोय ॥६९९॥
 मल नहि मिथ्या भाव सौं, ता करि पूरण सोय ।
 अहंकार ममकार के, धरै विकट तट दोय ॥७००॥
 मरी जाल जंवाल सौं, मरी समान विरूप ।
 खरी बुरी दोषाकरी, विष वापी विडरूप ॥७०१॥
 जहां सिवाण अपाण से, विषम महा दुखदाय ।
 क्रमि कुभाव अति कुलमल, जाहिलखें तरसाय ॥७०२॥
 नहि सिवाल संदेह सौं, भाषै संजम धार ।
 भरा सदा संदेह सौं, सुख नहि जहां लगार ॥७०३॥
 वाचाली वादी विकल, दुरबुधी दुरभाव ।
 ते दावर कुसवद करें, धरै कुकर्म कुभाव ॥७०४॥
 रसना लंपट चपल गति, हीन दीन अधलीन ।
 मीन तेहि विचरै तहां, काल कीर अधलीन ॥७०५॥
 कठिन कठोर सुभाव ही, कहे काछिवा जीव ।
 कीट कलंक भरी सदा, जामैं बहुत कुजीव ॥७०६॥
 नून भाव अति रंकता, तेहि भोंगरा जानि ।
 मांछर मछर भाव बहु, डासर खल ता मानि ॥७०७॥
 शांत भाव सौं विमल जल, और न जगत मझार ।
 सो वापी मै नाहि कहूं, तापहरण रसधार ॥७०८॥

विष बेलिन ममता समा, वापी तीर विसेस ।
 सुधा बेधि समता मर्या, ताकी तहां न लेस ॥७०६॥
 सघन भाव निज मगनता, तेहि सुधा तर वीर ।
 ते वापी कै तीर नहि, अघ विषतर अति तीर ॥७०७॥
 दोष दैत्य की धाम है, रहैं भूत भ्रमरूप ।
 छलें छलावा छलमइ, ठगै कामरति भूप ॥७०८॥
 मोह निसाचर नृष जहां, पापी वापी बीचि ।
 रागादिक रजनीवरा, अधिकारी अति नीच ॥७०९॥
 पाप पिसाच रहै जहां, जी धारे परद्रोह ।
 सारें चोर चहूँ दिसा, राजै राजा मोह ॥७१०॥
 घन तृष्णा परिणाम से, तसकर और न कोय ।
 तिन ही को यह थान है, कहां भलाइ होय ॥७११॥
 इह कीड़ा वापी नहीं, नहि मनोजता मूरि ।
 करें वास बंचक इहां, सदा अमंगल भूरि ॥७१२॥
 बंचक और न विस्व मैं, दंभ प्रपंच समान ।
 पाखंडादि अनेक खल, छल बल भरे गुमान ॥७१३॥
 ठगे जाहि इन्द्रादिका, ठगे जाहि चक्रेश ।
 ठगे जाहि नागिद्र सुर, ठगे जाहि अमुरेश ॥७१४॥
 लोभ लुटेरा जूटइ, धर्मरूप घनसार ।
 क्रोधादिक कंटिक घनें, वापी बहुत असार ॥७१५॥
 विषै वासना बितरी, धरै विकार अनेक ।
 रति ठगनी परपंच करि, खोसै रतन विवेक ॥७१६॥
 वापी भववन मैं इहै, पापी अंतक सांप ।
 बसै सदा सुर नर असुर, पसु निकरै संताप ॥७१७॥
 इहै गलकटा बावरी, जानै सब संसार ।
 रहै निरदयी दुर्जना, क्रूर कुभाव अपार ॥७१८॥

हिंसक पिसुन पसूचना, मिथ्याती मतिहीन ।
 परधन परदारा हरा, लोभी लंपट दीन ॥७२२॥
 तेह करें प्रवेश ह्यां, रहै सनमती दूर ।
 कबहु करै मति क्रीड़ तू, यहै कलपना पूर ॥७२३॥
 निर्मल भावन हंस ह्यां, वृग ठग भाव अनेक ।
 दरसन ज्ञान स्वभाव से, सारिस जुगल न एक ॥७२४॥
 रमै विषै अनुराग से, काग कालिमा रूप ।
 विकल विवेक वितीत खल, पापी पाप स्वरूप ॥७२५॥
 पापाचारी पारधी, धीवर अध परिणाम ।
 मारें तिर नर सुर असुर, धिर चर आठौं जाम ॥७२६॥
 निज पुर सौ दूरी इहै, वापी अति विकराल ।
 बहु बूडै बहु मरि पचें, दुख देखें असराल ॥७२७॥
 त्यागि कषाय कलंक सब, तजि विषयनि सौ प्रीति ।
 गही पंथ निजपुर तनों, दहौं दोष दुख रीति ॥७२८॥
 जीति काल कंटिक भया, मारि मोह रिपु राव ।
 रहौ मोक्षपुर मै सदा, प्रगट करौ निज भाव ॥७२९॥
 मिथ्यामति अति मूढ़ता, रूप वापिका तीर ।
 कदे रमै न विचक्षण, वरै विषै रस वीर ॥७३०॥
 लहि निज संपति सासती, ज्ञानानंद स्वरूप ।
 करै केलि निजपुर विषै, तजि भव वन भ्रम रूप ॥७३१॥
 अध्यात्म अमृत भरी, वापी निरव्रति जोय ।
 करै सनान तहा सुधी, लहै विमलता सोय ॥७३२॥
 इहै मूढ़ता वावरी, विषै प्रवृत्ति स्वरूप ।
 नहि सनान को जोय है, मलिन विकट विष रूप ॥७३३॥

विष बापी वर्णन यहै, पढ़ै सुनै जो कोइ ।
सो न परै बापी विषै, घट घट व्यापी होय ॥७३४॥

॥ इति विषय बापी वर्णन ॥

दोहा

रस कूप वर्णन—

ज्ञान कहै सब भाव कौ, सध सुख दायक देव ।
नायक है रस कूप कौ, करें सुरासुर सेव ॥७३५॥
रस न कूप न निज रूप सौ, परम सुधारस पूर ।
है अरूप अनि रूप जो, सकल दोष तैं दूर ॥७३६॥
नाहि सुधारस ज्ञान सौ, अमरण करण अनूप ।
हरै भ्रांति अति शांतिकर, ताप हरण गुण भूप ॥७३७॥
अवर नाम रस कूप कौ, रत्न कूपहू होय ।
रोर अवोध मिथ्यात हर, राग रोग सुर सोइ ॥७३८॥
अदभुत गुण मणि सौ भरचौ, इह मणि कूप महंत ।
रमवा जोगि निरंतरा, रमै मुनीसुर संत ॥७३९॥
अमृत कूपनि कूप इह, निज भावन की केलि ।
करै शुद्ध भवि जीव कौ, देय दोष कौ ठेलि ॥७४०॥
याके तटि अति सवन वन, चिदवन आनंद रूप ।
इहै कूप निजपुर निकट, जहां राव चिद्रूप ॥७४१॥
कपट कीच नहि या विषै, रहै न मोह पिसाच ।
इंद्री भूत न पाइए, मानि वारता सांच ॥७४२॥
जहां नाहि चितामयी, कृमि कीटादिक कोइ ।
भीन दीनता भावमय, तिनकौ नाम न जोय ॥७४३॥

नहि अविवेक स्वभाव मय, मीडक चपल विरूप ।
 नहीं विष की वासना, अति कुवासना रूप ॥७४४॥
 पर निदक परपूठि जे, निष्ठुर दुष्ट स्वभाव ।
 तेहि काछवा जानिये, तिनकी नाहि लखाव ॥७४५॥
 मिथ्या मारस पक्ष अरु, तेहि दुषणी कुर ।
 ते न करें संचार ह्यां, हिसक भाव न मूर ॥७४६॥
 दुर्जन भाव न दोष मय, दुख कौ नाम हु नाहि ।
 सुख की बात अपार है, रमण कूप कै माहि ॥७४७॥
 नहीं सर्प कंदर्प ह्यां, चोरन चाहि स्वभाव ।
 छल परपंच न वंचका, विपरीती न विभाव ॥७४८॥
 दृष्टि न पसरै देव्य की, दैत्य न काल समान ।
 एक न कंटिक पाइए, क्रोध न लोभ न मान ॥७४९॥
 रमै आतमा राम निज, सत्ता रमा समेत ।
 केलि कूप है इह महा, संतनि कौ सुख देत ॥७५०॥
 लखि बोलति अविनस्वरा, परम भाव फल वेलि ।
 निज बोलति लखियां विना, नही होय रस केलि ॥७५१॥
 इह वरान रस कूप कौ, पढ़ सुनै जो कोय ।
 सो निकसै भव कूप तैं, निज रस रसिया होय ॥७५२॥

॥ इति रस कूप वरानं ॥

दोहा

भव कूप वरानं —

प्रभु निकासि भव कूप तैं, पढ़ुं चावै निज थान ।
 प्रणमै जाहि पुरंदरा, चक्रेशुर निधिदान ॥७५३॥

विष कूपन भवकूप सौ, यह दुख कूप विरूप ।
 अंध कूप यासौ कहैं, महा मुनिनि के भूप ॥७५४॥
 जिसी अविद्या वासना, तिसी कुवास न कोय ।
 भरचौ महा दुरगंध सौ, विषम कूप है सोय ॥७५५॥
 विष नहि विषैं विनोद सौ, मरण अनंत प्रदाय ।
 यह विष पूरण दुखमइ, जाहि लखैं सुधि जाय ॥७५६॥
 नहि पियूष संसार मै, अनुभव सौ अविकार ।
 इहां न अमृत वारता, विकल्प जाल अपार ॥७५७॥
 कीचन कोइ कुभाव सौ, भरचौ कीच तैं कूप ।
 लोभ पिशाच रहैं जहां, मोहसुर है दूर ॥७५८॥
 विभ्रम भूत घनै तहां, दोष देख्य की थान ।
 रागादिक रजनीचरा, विचरैं पाप निधान ॥७५९॥
 नागन पिसुन सुभाव से, तिनकौ तहां निवास ।
 चोरन चित अभिलाष से, हरैं धरम घनरास ॥७६०॥
 ठग नहि छल परपंच से, तिन ही की ह्यां केलि ।
 फूलि रही अति विषमइ, विषै वासना वेलि ॥७६१॥
 याके तटि विष वृक्ष बहु, विषै विकार विरूप ।
 छाय रहे कंटिक मइ, माया जाल कुरूप ॥७६२॥
 ठगे जाहि सुर असुर नर, कोइक उवैर धीर ।
 ज्ञान विराग प्रसाद तैं, जा डिग संजम धीर ॥७६३॥
 पापी जन पाखंड से, और दूसरे नाहि ।
 ते लूटें परगट इहां, रंच न संक धराहि ॥७६४॥
 बटपारे क्रोधादि से, मारैं सुख पुर धाट ।
 ते डारैं दुख कूप मै, तिनकौ क्रूर कुठाठ ॥७६५॥
 नहि विसास घाती अवर, मदन सारिखी कोय ।
 रचक भोग दिखाय खल, दे अनंत दुख सोय ॥७६६॥

नहि सिवाल संसार मैं, संसय सोच समान ।
 भरधी आल जंजाल सी, मलिन कूप मलबांन ॥७६७॥
 चितवृत्ति चंचल अति मलिन, कृमि समूह है सोय ।
 भर पूरित कृमि तैं सदा, तिमर कूप यह होय ॥७६८॥
 नहि देशर वागाल से, उछलत फिरें कुभाव ।
 मीन जीभ लंपट जिसे, और न चपल सुभाव ॥७६९॥
 नहि कठोरता भाव से, कोइ काछिवा और ।
 अंधकूप भवकूप इह, सदा तिनौ की ठौर ॥७७०॥
 नहि सुधातरु या निकट, केवल बोध स्वरूप ।
 नहि ज्ञान अनुभूति है, अमृत बोल अनूप ॥७७१॥
 मायाचारी मन मलिन, तेहि काग टग जानि ।
 तिनही की कोड़ा इहां, नहि सुपक्षी मानि ॥७७२॥
 नही कोइ सुचि बात ह्यां, सकल अमुचि की बात ।
 काल समान न जालधर, करै जीव को घात ॥७७३॥
 परे जीव भवकूप मैं, को काढन समरत्थ ।
 काढे श्री भगवंत ही, दयावंत बड़ हर्ष ॥७७४॥
 छाएन नय परमाण सी, नहि निश्चै सी नेज ।
 निकसैं उद्यमवंत ही, जिनकै रत्न न जेज ॥७७५॥
 अंधकूप विडरूप यह, है पाताल जु कूप ।
 निकसि तहां तैं तुरत ही, होय अर्भपुर भूप ॥७७६॥
 फेरि न आवै भव विष, निज मैं करै निवास ।
 लोक सिखर राजै सदा धारै अतुल विलास ॥७७७॥
 निज बोलति निज गुणमड, सत्ता रूप विभूति ।
 सो बिलसैं अति सासती, अविनासी अनुभूति ॥७७८॥

अंध कूप वर्णन यहै, पढ़ै सुनै जो कोय ।
सो नर है भवकूप में, निज निधि नायक होय ॥७७६॥

॥ इति भव कूप वर्णन ॥

दोहा

अन्तरात्मा ज्ञान राज वर्णन—

अंतर गति ज्ञाता गुरु, अंतरजामी देव ।
अंतर आत्मा ध्यावही, करै सुरासुर सेव ॥७८०॥
ताके चरण सरोज नमि, पणमि महा मुनिराय ।
नमि परमागम गुण कहूँ, ज्ञानिनि के सुखदाय ॥७८१॥
अमल अमल भव वन विषै, कोइक चेतन राव ।
चेतै स्वतह स्वभाव ही, कै श्री गुरु परभाव ॥७८२॥
तजि अज्ञान अनादि कौ, अंधि अविद्या भेदि ।
अरि सरधा सरवज की, संसै भर्म उछेदि ॥७८३॥
छाँड़ि भूमि मिथ्यात की, कांध लोभ छलमान ।
मारि चौकरी प्रथम ही, ले सम्यक गुनधान ॥७८४॥
तथा देसव्रत देस ले, दोष चौकरी डारि ।
अप्रमत्त धानक तथा, तीन चौकरी मारि ॥७८५॥
सम्यकपुर कौ आदि ले, क्षीणकषाय प्रजंत ।
अन्तरात्मा राजई, राज करै मतिवंत ॥७८६॥
ता सम भूपन और को, समभवार रिभवार ।
गो निकसै भव कूप तें, पावै पद अविचार ॥७८७॥
पटरानी परवीन है, नाम सुबुद्धि अनूप ।
गढ़ सम्यक अति निश्चला, मंत्री ज्ञान स्वरूप ॥७८८॥

गुर विवेक प्रोहित धरम, दरसन चारित दोय ।
 सब उमरावनि कै सिरै, अति कोड़ीभड होय ॥७८६॥
 निज स्वभाव उमराव बहु, निज निधि है भंडार ।
 है बीरज सेनापती, भंडारी स्वविचार ॥७८७॥
 संजम तप आदिक सुभट, गुणसेना अति साथ ।
 द्वारपाल संवर महा, ध्यान खड्ग नृप हाथ ॥७८८॥
 व्रत बगतर सील सर, धीरज धनुष महीप ।
 धारै नगस्थ मार नै, भूखरी गजनी ॥७८९॥
 अणुचार हर नीतिधर, शुभाचार कुटवाल ।
 मूलोत्तर गुण है प्रजा, सावधान भूपाल ॥७९०॥
 पावन पुण्य स्वभाव से, पासवान परवीन ।
 टारै पाप सुभाव कौं, सदा स्वामि आधीन ॥७९१॥
 मित्र महा बैराग से, हितकारी नृप पासि ।
 मदति भगति भगवंत की, दे सब सुख अघ नासि ॥७९२॥
 नृप कै अदभुत अनुपमा, सामग्री समतादि ।
 हारै जातैं मोह रिपु, डरै राग दोषादि ॥७९३॥
 अवतपुर अर देसव्रत, इन माही गढ़ रारि ।
 परमत पुर आगें प्रगट, लेय मोह कौं मारि ॥७९४॥
 कैसें मारै मोह कौं, सो तुम सुनहु उपाय ।
 अप्रभाद पुर मैं हणौं, सुर नारक तिर आय ॥७९५॥
 भाव अपूरव करणपुर, तहां हतै हास्यादि ।
 अनिवर्त्तपुर मैं हणौं, वेद तीन खंडादि ॥७९६॥
 पाछैं सूषिम क्रोध अर, मान कषट रिपु काटि ।
 सांपराय सूषिम धरा, लेय मोह दल ठाठि ॥८००॥
 सूषिम क्रोध पछारि कैं, पुरी पारै मोह ।
 भंग हौंहि भूपाल पैं, राकिस रागर द्रोह ॥८०१॥

क्षीण कषाय जती यती, क्षीण मोह मुनिराज ।
 हर्त विघन कौं वेगिदे, सज्ज सिद्धि के साज ॥८०२॥
 दरसन ज्ञानावरण की, परकति सर्व विनासि ।
 साधक भाव समेटि ले, केवल भाव प्रकासि ॥८०३॥
 घाति कम कौं घाति कै, ह्वै कैवल्य स्वरूप ।
 अंतरात्मा यह यकी, ह्वै परमात्म रूप ॥८०४॥
 जैसे राजा नीति करि, महाराज ह्वै वीर ।
 तैसे अंतर आत्मा, ह्वै परमात्म धीर ॥८०५॥
 जानें लोक अलोक सह, एक समै मैं सोइ ।
 भातें संसैं भविन कै, केवल जानी होय ॥८०६॥
 ज्यों नरिन्द्र राजेंद्र ह्वै, धारि पराक्रम धीर ।
 त्यों जौगिन्द्र जिनेन्द्र ह्वै, आत्म बल करि वीर ॥८०७॥
 आयु प्रमाण सरीर मैं, तिष्ठे सर्वगि देव ।
 जीवन मुक्त दसा धरै, करें सुरासुर सेव ॥८०८॥
 करि दरसन मुनि सबद की, उत्तम कुल नर देह ।
 कैयक तप अत धारि कै, मुनिवर हौंहि विदेह ॥८०९॥
 कैयक मानव तिर तथा, धारि अणुव्रत सार ।
 स्वर्ग पाय नर होय फिरि, तप करि ह्वै भव पार ॥८१०॥
 कैयक सुर अथवा असुर, गहि करि सम्यक ज्ञान ।
 करि पूरण धिति होय नर, पावै पद निरवान ॥८११॥
 स्वर्ग निवासी देवजे, ले सुर नाम वस्त्रानि ।
 मध्यलोक पाताल के, देव असुर परवानि ॥८१२॥
 देव जीनि के भेद हैं, देव दैत्य द्वय रूप ।
 स्वर्ग निवासी बहुभुखी, दीरघ आयु सुरूप ॥८१३॥
 मंद कषायी हर्ष अति, अल्प विषाद विवाद ।
 सब वातनि मैं अति निपुन धारै अल्प प्रमाद ॥८१४॥

असु अलप सुख अलप धिति, तीव्र कषाय प्रचंड ।
 अति त्रिषाद अतिवाद हैं, अलप बुधि अति दंड ॥८१५॥
 सुर नर असुर विद्याधरा, पंचेन्द्री पसु जेहि ।
 मभचर वनचर ग्रामचर, निकट भव्य सुलटेहि ॥८१६॥
 होहि कृतारथ सबद मुनि, करि दरसन बहुजीव ।
 कैयक तदभव पार ह्वै, मनुज मुनिद सुजीव ॥८१७॥
 कैयक जनमांतर तिरै, पावैं निजपुर वाम ।
 सुखदाई संसार मैं, केवल ज्ञान प्रकास ॥८१८॥
 तारण तरण दयानिधि, जीवन मुक्त मुनिद ।
 आप मात्र ही गात्र मैं, त्रै देव जोगेन्द्र ॥८१९॥
 इन्द चन्द असुरिद अर, रवि तरिद नागिद ।
 हरिषिन्द अहमिद खग, रटैं जतिद गाँगिद ॥८२०॥
 आयु लार ही गोत्र कौं, नाम रूप को नासि ।
 वादर सूपिम गात्र हरि, वेदनि कर्म विनास ॥८२१॥
 कर्म भमं हरि शुद्ध ह्वै, वसैं भावपुर माहि ।
 सो विदेह मुक्तो प्रभू, कहिये संसे नाहि ॥८२२॥
 ज्ञान रूप चिद्रूप सो, ह्वै अनूप जग भूप ।
 फेरि न जनमैं जगत में, ह्वै अविनासी हा ॥८२३॥
 शूल देह अर सूपिमा, वहुरि न धारै धीर ।
 ह्वै अनंत स्वरूप निज, चितमूरति असरीर ॥८२४॥
 जगत सिरोमणि भावपति, लोक सिखरि सद्रूप ।
 निज सुरूप मैं नित्य ही, करैं निवास अरूप ॥८२५॥
 अंतर आत्म राम की, कथा प्रबोध प्रकास ।
 पढ़ै मुनै अर सरदहै, सो पावैं सिव वाम ॥८२६॥

निज दीलति अनुभूति है, ताहि विलसवे काज ।
छाड़ै राज विभूति सब, सो पंडित सिरताज ॥८२७॥

॥ इति अंतरात्मा ज्ञान राज वर्णन ॥

दोहा

बहिरात्मा दशा वर्णन—

बहिर मुख बहिरात्मा, लखै न जाकौ रूप ।
अंतरात्मा अति रहै, सो परमात्म भूत ॥८२८॥
करि बंदन ताके चरण, लेय सरग सिद्धांत ।
भाषौ बहिरात्म दसा, दोस रूप एकांत ॥८२९॥
भूढ़ महा बहिरात्मा, धरै द्रिष्टि बहिरंग ।
गनै आपने कर्म जड़, गनै आपनी अंग ॥८३०॥
ता सम सठ नृप और नहि, करै राज वेढंग ।
बारावाट कुठाट सब, सदा कुबुद्धी संग ॥८३१॥
पराधीन बरतै महा, नहीं राव कौ जोर ।
राव मोह के फंद मैं, परयो सहै दुख धोर ॥८३२॥
राजधान नहि निश्चला, भटकै भव वन मांहि ।
सुर नर नारक पसु पुरा, धोरे दिन रह बांहि ॥८३३॥
काढै कर्म महीष कौ, देह वेगते वेगि ।
सदा भोगवै भूष दुख, नही राज बल तेगि ॥८३४॥
ते गन ज्ञान ज्योतिसी, सो नहि नृप के हाथ ।
कायर कुटिल सुभाव सहु, ते भूपति के साथ ॥८३५॥
काची गढी न कायसी, बिना धवै बिनसाय ।
बसै तामहै भैमयो, अलप काल रहवाय ॥८३६॥

मोह वसाय अनादि कौ, भर्मे भूपाल अयाग ।
 इक छोड़ें इक पुर गहै, मोह आण परमाण ॥८३७॥
 कुबुद्धि सारिखी और नहि, जग में काइ कु नारि ।
 सो पटरानी राव कैं, बैठी राज बिगारि ॥८३८॥
 घर खोवा घरणी इहै, कलह कारणी जोय ।
 पापारंभ प्ररूपणी, कहां भलाई होय ॥८३९॥
 भयो कुमति कैं भूप वसि, नहीं बुद्धि को लाभ ।
 परचौ राव परमाद मैं, नहीं घरम सौं राग ॥८४०॥
 महा मोह निद्रा जिसी, निद्रा और न नीच ।
 सोवैं सठ भूपति सदा, मोह नींद कैं बीच ॥८४१॥
 धूमैं नृप बेसुधि भयो, मोह वारुणी पीय ।
 परचौ भर्मे की पासि मैं, पिरधीपति टुक जोय ॥८४२॥
 कुबुद्धि सुता है मोह की, जाइ ममता मात ।
 चाहै मोह प्रकास ही, अति अघ सौं न डरात ॥८४३॥
 नहि प्रताप पति को चहै, निहिपति की विस्वास ।
 डरैं भूप कुबुद्धि तैं, धरैं मोह की आस ॥८४४॥
 है कुभाव मंत्री कुटिल, मोह मिलाऊ जोइ ।
 नृप कोउ दौन बांछइ, स्वामि दरोही सोइ ॥८४५॥
 विषयनि के अनुराग मैं, राख्यो राय लगाय ।
 रमैं सदा सब कुमति वसि, सुधि बुधि विसराय ॥८४६॥
 नहि कुभाव सौं कलि विषै, और कुमन्त्री कोय ।
 चौर को पूठी रखा, कहां भलाई होय ॥८४७॥
 चोरन नहीं इंद्रीन से, है तिनही कौ जोर ।
 ते कुभाव कैं बलि सदा, करें कर्म अति घोर ॥८४८॥
 चौरैं अहि निसि नृपति घर, डर नहि राखैं मूलि ।
 रंच न दीखैं गुण रतन, देखी नृप की भूलि ॥८४९॥

भंडारन निरुद्धि सौ, तीन भुवन मैं जार ।
 कुबुद्धि कुभावनि दावियौ, दे भव भोग असार ॥८५०॥
 राव ह्वै रह्यौ रंक अति, गुन धन विन नहि चैन ।
 भौदू भूपति विपति में, परचौ वृथा बसि मैत ॥८५१॥
 भूलि रह्यौ नृप आपकौ, होय रह्यौ मतिहीन ।
 भाव सुभट सब बुद्धि डिग, बैठे बोध अधीन ॥८५२॥
 सुबुद्धि रहै जु विवेक धरि, बैठी परम उदास ।
 राव बात बूझै नहीं, करै कुबुद्धि विलास ॥८५३॥
 आतम भाव भटानि कौ, नहि नृप कै संचार ।
 मोहराव के राव तनि, दावि लीयौ दरवार ॥८५४॥
 मोह राव को है सही, सेवक सदा कुभाव ।
 कुबुद्धि पुत्रिका मोह की, चाहै मोह प्रभाव ॥८५५॥
 भेद न समझै मूलि ही, भौदू करै विसास ।
 मोह तिमर करि अंध नृप, भयौ कुबुद्धि कौ दास ॥८५६॥
 निज परराति पययि निज, नृप परजा सुखदाय ।
 तिनकौ दास न कुमति पै, वसै सुबुद्धि वसाय ॥८५७॥
 सर्व विभाव विवाद खल, सकल विपरजै भाव ।
 अखिल कुपर्याया सदा, वसै कुबुद्धि प्रभाव ॥८५८॥
 जीवश्रेष्ठ मैं जह मयी, रहै कुभाव अनेक ।
 कैसेँ आय सकै महा, सुबुद्धि सुभाव विवेक ॥८५९॥
 है मिथ्यात महीप गुर, मोह प्रकृति मति हीन ।
 पाप धरै प्रोहत पदा, जो जग माहि मलीन ॥८६०॥
 कुबुद्धि कुभाव प्रभाव करि, राव ह्वै रह्यौ रंक ।
 पटरानी राजै महा, राज विगार निसंक ॥८६१॥
 आवै असुभ महीप पै, शुभ कौ देय विडार ।
 शुद्ध भाव की बात हू, जहाँ कीयां ह्वै रारि ॥८६२॥

कायर कृपण कुञ्जील जो, भाव भूप के ताहि ।
 सेनापति पदवी धरणां, कैसें राज जमेहि ॥८६३॥
 द्वारपाल दरावर मै, परमादी परिणाम ।
 रोकै नहि अपराध के, रोकै विधि की नाम ॥८६४॥
 दुराचार कुटवाल है, सेठ महासठ भाव ।
 वहुरि महा अन्याय से, जहां भीर उमराव ॥८६५॥
 कुविसन सेना है जहां, वसती जहां विभाव ।
 है फैलाव कुभाव की, राख करै नहि न्याय ॥८६६॥
 भोग भावना भर्म मै, भूपही दोषो भमाय ।
 करै कामदारौ कुमन, सुमनहुं सकै न आय ॥८६७॥
 झल प्रपंच पाखण्ड अर, पिसुन धूर्त खल भाव ।
 पेसगार ए कुमनके, चाहै कुबुद्धि कुभाव ॥८६८॥
 फेलि रहे बढ फैल सहु, मैल भरे तहकीक ।
 खेल मच्चि रह्यो पुर विषै, बोलें वचन अलीक ॥८६९॥
 अपने अपने स्वारथी, नही स्वामि की पीर ।
 राज दावि लीयो अरथां, सुभटन नृप के तीर ॥८७०॥
 जानावर्ण जु कर्म खल, मित्र मोह को एह ।
 जाना शक्ति दावै सबै, दे दुख दोष अछेह ॥८७१॥
 दरसन आवरणी कर्म, दिन अवरोध करेय ।
 भाव भङ्गिनी को भूप की, दरसन होन न देय ॥८७२॥
 कर्म वेदनी बलबता, महा मोह के जोर ।
 करै असाता जीवकीं, करवावै अति सोर ॥८७३॥
 कबहुक साता देय के, तुरत खोसि ही लेय ।
 सुखन अतिद्री होन दे, भव भव कष्ट करेय ॥८७४॥
 लाभ्यौ काल अनादि की, नृप की मोह पिसाच ।
 आवर जंगम जोनि मै, करवावै बहु नाच ॥८७५॥

एक ठौर रहनें न दे, मोहासुर असुरेस ।
 कबहुक सुर नर पसु करै, कबहुक नारक भेस ॥८७६॥
 आयु नाम है कर्म इक, सहचर मोह नरेस ।
 जीव अमर सो अल्प धिति, करि राख्यो राजेस ॥८७७॥
 नाम कर्म नामा करम, नाना देह धराय ।
 भरमावें नरनाथ कौ, हुकम मोह कौ पाय ॥८७८॥
 गोत्र कर्म अति भर्म जो, जीवहि मोह बसाय ।
 ऊंच नीच गोत्रादि मैं, लघु दीरघ करवाय ॥८७९॥
 अंतराय दुखदाय अति, मोहराय परसाद ।
 जीवराय कौ जगत मैं, करै अनेक विषाद ॥८८०॥
 विघन करै आनंद मैं, मगन होन नहि देय ।
 विसतैं बुरे जु कर्म बसु, भव भव प्राण हरेय ॥८८१॥
 क्रोध मान माया मदन, लोभ हासि रति सोक ।
 अरति जुगपसा मोह के, सुभट रहे हैं रोक ॥८८२॥
 जान देहि निज धाम नहि, राखैं जगत मझार ।
 नरक निगोदादिक दुख, देहि अनंत अपार ॥८८३॥
 क्रमि कीटादिक जोनि मैं, जामण मरण कराय ।
 काराग्रह मैं नृप परचौ, दुख देखे अधिकाय ॥८८४॥
 छूटि सकै नहि बंधतैं, रहै वहीत बेहाल ।
 खैंच्यौ विषे कषाय कौ, भटकत फिरै भूपाल ॥८८५॥
 टिकन सकै गढ़ बांधिकें, लरि न सकै बलहीन ।
 चउरासी लज्ज जोनि मैं, अमण करै अति दीन ॥८८६॥
 निजपुर आतम भाव जे, नहा सकै नहि जाय ।
 भवकातार असार मैं, भरमैं भीदूराय ॥८८७॥
 काल अनंतानंत मैं, कबहुक सुर पद होय ।
 सुर भवतैं मानुष जनम, अति दुर्लभ है सोय ॥८८८॥

ऐकेंद्रीय विकलत्रय, पसु नारक दुख रूप ।
जन्म अन्तत निगोदि मैं, धरै मोह बसि भूप ॥८८६॥
कबहुक कोइक जीवकी, भ्रांति दूर ह्वै जाय ।
जानै निज विरतांत सो, ठानै मोख उपाय ॥८८७॥
पूरण भाग प्रभाव तें, सतगुर दरसन होय ।
करै बीनती तव यहै, सुनै दयाकरि सोय ॥८८८॥

जीवो वाचा—

स्वामिन इह संसार है, अति असार भ्रमजार ।
भरसूँ ताँहें मोह बसि, लहूँ न भवजल थार ॥८८९॥
कैसें पहुँचूँ निजपुरा, भ्रमण मिटै किम नाथ ।
मोह पासि तूटै कबै, अवलोकूँ निज साथ ॥८९०॥
सो उपाय भाषी प्रभु, तुम ही करुणा सिंधु ।
लूटि सकै नहि मोह खल, छूटि जाय सब बंध ॥८९१॥

॥ इति बहिरात्मा वशा वर्णनं ॥

॥ श्री गुरु वाचा ॥

बोहा

श्री गुरु वाचा—

तू अनादि बंध्यो भया, भ्रम करि भव कै साहि ।
निज स्वरूप निज भाव भड़, तें अवलोके नाहि ॥८९२॥
सुबुधि महाराणी शुभा, पतिवरता परवीन ।
ताकी तोहि न सुधि कछू, ता विन तू भ्रांति दीन ॥८९३॥
है प्रबोध मंत्री महा, ताकौ तोहि न भेद ।
यक छिन मैं सो साहसी, करै करम दल छेद ॥८९४॥

भाव अनंत महाभडा, मोह विदारण सूर ।
 कुबुधि कुभाव प्रभाव तैं, रहै तो थकी दूर ॥८६८॥
 बैठे सर्व विवेक पै, जहां सुबुधि प्रबोध ।
 तेरे पुर मैं सर्वही, वसै विभाव अबोध ॥८६९॥
 पटरानी तेरै बुरी, कुबुध कलंक निवास ।
 बुरी कुभाव प्रधान है, धरै मोह की आस ॥८७०॥
 बैठी सुबुधि अनादि की, घर विवेक कै वीर ।
 तेरे सुभ चितक सबै, है विवेक कै तीर ॥८७१॥
 करै राज बेढग तू, निजपुर की सुधि नाहि ।
 अविवेकी अज्ञान तू, होय रह्यौ भव माहि ॥८७२॥
 छाड़ि कुबुधि कौ संग अब, मेलिह मोह कै याहि ।
 निज बसि करि मन चपल कौ, ठाट कुभाव उठाहि ॥८७३॥
 बसती काढ़ि विभाव की, काम काध कौ ठेलि ।
 तोरि मोह की पासि अब, तज कुबुधि की केलि ॥८७४॥
 सम्यक गढ़ मैं वास करि, लेहु सुबुधि बुलाय ।
 करहु दूरि मंत्री कुमन, ज्ञान मंत्रि ठहराय ॥८७५॥
 करि विवेक कौ राजगुर, पापहि तुरंत उथापि ।
 प्रोहित पद दै धर्म कौ, शुद्ध स्वभाव सथापि ॥८७६॥
 सेनापति तप संजमा, भड़ करि अपने भाव ।
 निज प्रभाव उमराव करि, इह उपाय है राव ॥८७७॥
 शुभाचार कुटवाल करि, दुराचार सहु मेदि ।
 दरसन रूप उचारि हग, चारित सज्जन भेदि ॥८७८॥
 हरहु प्रभाव विभाव कौ, मोह राव की काणि ।
 मति राखी महिपाल तुम, गुर आज्ञा उर आणि ॥८७९॥

एक न राखौ मोह कौ, मन तन कौ परसंग ।
 निज स्वभाव संना करें, करहु करम दल भंग ॥६१०॥
 राज करहु निजपुर विषै, अटल अचल सुख रूप ।
 जहां न बस है मोह कौ, नही काल सौ भूप ॥६११॥
 राज विगारा दूर करि, राज सुधारा लेहु ।
 यह उपाय करि राय तू, समता भाव हरेहु ॥६१२॥
 काया काची है गढी, जहां काल कौ जोर ।
 रहनीं जामैं मोह बसि, बली काम से चोर ॥६१३॥
 तजि काया गढ़ सर्व ही, सूषिम और सखल ।
 करि निवास निजपुर विषै, यहै बात सुख मूल ॥६१४॥
 सुनी सुगुर की वारता, उर धारी भवि जीव ।
 बुद्धि प्रबोध प्रभाव करि, त्यागे भाव अजीव ॥६१५॥
 कियौ राज कंटिक रहित, फेरि न विनसै राज ।
 इहै बात जे उर धरै, करें निजातम काज ॥६१६॥
 गुर आज्ञा धारें नही, तजै न कुबुद्धि कुभाव ।
 ते अभव्य जन जानियें, तथा दूर भवि राव ॥६१७॥
 बहिरातमता त्यागि कै, अंतरातमा होय ।
 सो परमात्म पद लहै, इह निश्चै अवलोय ॥६१८॥
 बहिरातम कौ बरणा, जोहि सुने धरि कान ।
 सो बहिरातमता तजै, पावै आत्म ज्ञान ॥६१९॥
 निज लखिमीं लखियां विना, है बहिरातम वीर ।
 दोसति निज अनुभूति लखि, तिरै भवोदधि नीर ॥६२०॥
 त्याग जोगि पर वस्तु जे, हेय कहावै तेहि ।
 लेन जोगि निज भाव जे, उपादेय हैं एहि ॥६२१॥

हेय उपादेयनि कौ, जो विचार अविकार ।
 सो विवेक भासै बुधा, ता सम और न सार ॥६२२॥
 पढ़ै सुनै अर सन्दहै, इह जु विवेक विलास ।
 सो अविवेक निवारिकौ, पावै निजपुर वास ॥६२३॥
 निजपुर श्री तहि कोइ पुर, जहां काल भय नाहि ।
 कर्मन भर्मन कलपना, सुख अनंत जा माहि ॥६२४॥

इति श्री विवेक विलास संपूर्ण ॥ लिखी सदाइ जंपुर में मिली पोस
 सुदि ३ वीसपलवार संवत् १८२७ ॥ बाबू जीने श्री स्वद खंखना ॥ श्री ॥

अध्यात्म मारहस्ये

रचना काल :—सं० १७६८ फागुण सुदी २

रचना स्थान :—उदयपुर (राजस्थान)

ॐ नमः सिद्धेभ्यो नमः ॥ ॐ नमः परमात्मने ।

अथ भक्त्यक्षर मालिका वादनी स्तवन ।

“अध्यात्म बारहस्रदी” — लख्यते ॥

श्लोक

मंगलाचरण—

वन्दे मोक्षाधिपं देवं, मोक्षमार्गप्रकाशकं ।
 भुक्तिमुक्तिप्रदातारं, भेत्तारं कर्मभूभृतां ॥१॥
 गौतमादिमुनीन्वन्दे, वन्दे तत्त्वप्ररूपणां ।
 वन्दे समाधितंत्रं च, त्रयीमूलं तु नाटकं ॥२॥
 गुरुमानंदरूपं च, देवं देवेन्द्रकीर्तितं ।
 वन्दे सत्वात्मरक्षाढ्यं, ज्ञानब्रह्मैकरूपिणं ॥३॥
 भक्त्यक्षरमयीमाला, ज्ञानतंत्रेण ग्रंथिता ।
 प्रभोर्नामा गुणस्तोत्र, पूर्णं सौरभ्यशालिभिः ॥४॥
 मुनयो भ्रमरा यत्र, यांति तृप्तिं महाशया ।
 नत्वा जिनांश्चि पद्मे च, अर्पयामि शिवाप्तये ॥५॥

ब्रह्मा

वन्दौ आदि अनादिकौ, जो युगादि जगदीश ।
 कर्म दलन प्रभु जगपति, परमेश्वर चिदधीश ॥६॥
 वन्दौ केवलभाव कौं, केवल चिन्मय ज्योति ।
 जाके परसत परम सुख, ऋद्धि सिद्धि सब होति ॥७॥
 केवल रूप अनुप कौं, हरिहर विधि रविकंत ।
 कहिये श्रुति सिद्धांत में, सो श्रीपति अरहंत ॥८॥
 शक्ति व्यक्ति धर मुक्तिकर, सदा जप्तिधर संत ।
 बीतराग सरवज जो, सो गणपति भगवंत ॥९॥

और न दूजो देवता, और न दूजो पंथ ।
 शिव विरंचि जगनाथ है, जो जिनवर ग्रंथ ॥१०॥
 बंदी केवल राम की, नमि जु रह्यो सब माहि ।
 अंसी ठोर न देखिये, जहा देव वह नाहि ॥११॥
 व्यापि रह्यो सब लोक मैं, अर अलोक हू माहि ।
 लोक शिखर राजै प्रभू, साधु लखैं निज पाहि ॥१२॥
 सब वामें वह सबनि मैं, वह है सब ते भिन्न ।
 वानें सब ही भिन्न हैं, वह भिन्नोच अभिन्न ॥१३॥
 बंधनहर हर नाम धर, यम करि त्रासक मिह ।
 वह जु हरी नरहरि धुरी, भवनासक नरमिह ॥१४॥
 कल्याणात्म शिव जिको, विधिकारी विधि नाम ।
 द्वादशांग सूत्र जु रचै, सहि विरंचि मू राम ॥१५॥
 रचै तत्त्व स्मिष्टी सबें, विरचै अतत नितै जु ।
 वहै विरंचि न दूसरी, सही वसै शिवमैं जु ॥१६॥
 शिव जु मुक्ति कौ नाम है, शिव कल्याण जु होय ।
 शिव जंकर जिन देव है, और न दूजो कोय ॥१७॥
 कर्ता आत्म भाव कौ, कर्ता शिव को सोय ।
 हर्ता सर्व विभाव कौ, निवसे जो शिवलोय ॥१८॥
 रतनत्रय कौ जोग है, नातै जोगी जोय ।
 अतुल अनंते गुणनि कौ, भोगन हारी होय ॥१९॥
 जोगी भोगी हरि सही, और न जोगी जोग ।
 और न भोगी भोग हैं, करि जु न जिन संजोग ॥२०॥
 सर्वधाम मैं रमि रह्यो, रहै जु एकै ठाम ।
 रम्य सकल मैं रमण औ, रमै अखिल मैं राम ॥२१॥
 सर्वग व्यापक विष्णु जो, सर्वजो जिन ईश ।
 जयकारी जिन नाम है, जो महेश जगदीश ॥२२॥

गणनायक गणिनाथ जौ, शक्ति अनंत मुनिद ।
 शक्ति मूल शक्तीश जो, शक्ति रूप जिनचंद ॥२२॥
 ज्ञान शक्ति द्विग शक्ति जो, वीरज शक्ति अनंत ।
 सुख शक्ती युत जिन प्रभू, अमित शक्ति भगवंत ॥२३॥
 अंतर बाहिर तमहरन, भानुपती जिनदेव ।
 बुद्धि प्रदायक बुद्ध जो, सुगत सहित सुखदेव ॥२४॥
 सुमति सुगति दातार जौ, जिन गुरु देव दयाल ।
 नागर नित्य विसाल जो, धिर चर को प्रतिपाल ॥२५॥
 गणपति पति जु समूह की, गणधर पूज्य जिनिद ।
 नायक सबको है प्रभू, रहित जु नायक इंद ॥२६॥
 नाम विनायक और नहि, वहै विनायक देव ।
 सरसुति जाके मुख विषै, करीहीं ताकी सेव ॥२७॥
 क्षेत्र जु कहिये द्वै विधी, स्वपर क्षेत्र विनु भर्म ।
 असंख्यात परदेस जो, सो निज क्षेत्र सु मर्म ॥२८॥
 पर क्षेत्र जु पर द्रव्य है, लोकालोक अकास ।
 लोक जु कहिये पुंजधर, सकल द्रव्य परकास ॥२९॥
 है जु अलोक सु एकली, जा मैं अवर जु नाहि ।
 स्वपर क्षेत्र पालक प्रभू, क्षेत्रहु पालक हांहि ॥३०॥
 क्षेत्र जु कहिये देह की, ताकी पालक जीव ।
 जीव तणौ पति जिनवरा, क्षेत्रपाल पति पीव ॥३१॥
 क्षेत्रजो क्षेत्राधिपो, क्षेत्रपाल जिनदेव ।
 और न दूजो देव को, एक देव अति भेव ॥३२॥
 वंदौ वा गुणधाम को, जो ज्ञानामृत पूर ।
 प्रणति करौ सिर नायकें, करि मेरे अघ चूर ॥३३॥
 सेऊँ देव दयाल की, कर्म हनत अतिशूर ।
 द्रव्य कर्म नोकर्म अर, भाव कर्म तैं दूर ॥३४॥

तूही आत्म जेह की, करै जु आत्म सेव ।
 श्रेयात्म जगदेव जौ, देव देव जिन देव ॥३५॥
 अतुल गुणात्म गुणमई, परगुण रहति जु देव ।
 निरगुण कहिए जो प्रभू, गुण अनंत निज देव ॥३६॥
 करौ अराधन नाथ की, जो अनंत श्रुतिरूप ।
 अगणित शक्ति सूरिज विभा, नख सम नाहि अनूप ॥३७॥
 गुण पर्यय स्वाभाव जो, सर्व विभाव वितीत ।
 अनंत कला असम जु प्रभा, जगनाथो जगजीत ॥३८॥
 आप एकलौ सर्वधर, एकानेक स्वरूप ।
 अनेकांत आगम प्रगट, अनुभव रसकौ कूप ॥३९॥
 वहिरंगा कमला तजै, अमला कमला पासि ।
 सो कमलापति देव है, काटै जग की पासि ॥४०॥
 कमला नाम न ओर है, कमला निज अनुभूति ।
 हृदै कमल राजै सदा, आत्म सक्ति प्रभूति ॥४१॥
 कमला निज अनुभूति है, वसै जु जिनकै माहि ।
 चरण कमल तजि जाय नहि, रहै सदा प्रभु पाहि ॥४२॥
 नाहि प्रदेश जु भिन्न हैं, कमला अर प्रभूके जु ।
 द्रव्यर परगति भेद नहि, एक रूप अधिके जु ॥४३॥
 जल तरंग दुविधा नहीं, भानु रश्मि नहि भेद ।
 तैसें कमला हरि विष, श्रुति गावै जु अभेद ॥४४॥
 वह कमलाधर जिन प्रभू, वसै सदा मन माहि ।
 मैं मूर्ख अलगौ रहूँ सो सम मूरिष नाहि ॥४५॥
 बाही के परसाद तैं, खोलूँ मिथ्या अंधि ।
 तब वास्यौ विद्युरूप नही, ध्याऊँ ह्वँ निरग्रंधि ॥४६॥
 रहूँ सदा मैं हरि कनै, तजौ न हरि की संग ।
 जिन रंगे रत्ता रहूँ, तजिके द्विविधा संग ॥४७॥

नमो नमो वा देव काँ, द्रव्य भाव मन लाय ।
सबही तैं न्यारो रही, सेऊँ बाके पाय ॥४८॥

छंद नाराच

तू कर्मनाग केहरी, तुही जुहै नृ-केहरी ।
प्रकृत्य भाव दूरगो, तुही जु देव है हरी ॥
प्रभू जु केवलात्म को, सही जिनो हरो हरो ।
गुण अनंत नायकी, तू ही गणेश है धुरी ॥४९॥
तुही जिनेश संकरो, सुखकरो प्रजापती ।
तुही हिरण्यगर्भ को, अगर्भ को धरापती ॥
महा स्वशक्ति पूरको, तुही जिनो रमापती ।
रमाजु नाम भांग्य गर्हि, शक्ति रूप है तूही ॥५०॥
तुही विशेष चा विशेष, शक्ति ते अनंत है ।
सुचिद्विलास ज्ञानशक्ति, दृश्य शक्तिकंत है ॥
अवाप्त रोम महाजु सत्व, तू जुहै तमंहरो ।
विधिकरो दितंकरो, शिवंकरो रमावरो ॥५१॥
सुयोगिनाथ नायको, भवंहरो मुधाहरो ।
सुधातरो उमावरो, जपे जूता हिमाधरो ॥
सुनायको विनायको, सही स्वयोगदायको ।
अकाय को अमाय को, सदा सुबुद्ध नायको ॥५२॥
निजंधरो परंकरो, परंहरो यतीस्वरो ।
शिवोभ बोधवो सदा, शिवो सही रमाधरो ॥
तू ही जिनैददेव, और दूसरौ जु भेदनां ।
सही जु शक्ति व्यक्ति रूप, पाप पुण्य छेदनां ॥५३॥ ×

* छंद संख्या ५१ मूल प्रति में नहीं है ।

× छंद तो है, पर संख्या ५४ नहीं है ।

तु ही मुनीश वृद्धि दो, स्व ऋद्धि दो निरंतरो ।
अनंतभाव व्यक्ति दो, प्रबुद्ध है क्षमकरो ॥
अनादि ब्रह्मरूप को, अरूप को विबुद्ध जौ ।
महाधि लक्ष्मिभूल जो, निकृप को प्रसिद्ध जौ ॥५४॥

क्षमापरो परापरो, परंपरो वरंकरो ।
हितंकरो मितंकरो, दयाकरो कृपाकरो ॥
महातुदेव तू तही, तू इतने लोग हीसही ।
विभू प्रभू महाप्रभू, स्वभू अभू जगीसही ॥५५॥

तुही तुही तुही सही, न तो समोन्य दूजही ।
जिहां तिहां लखैं जु साधु, एक तोहि पूजही ॥
तु ही यती अनर्भ को, अगर्व को पवर्ग को ।
अवर्ग को सुसर्व को, मुनीश ध्येय सर्ग को ॥५६॥

नराधिपो सुराधिपो, फणाधिपो तुभैं भजैं ।
अनादि काल के जु कर्म, दासतैं परे भजैं ॥
तु ही जु नाहि बाल है, न वृद्ध है युवा न है ।
अनेक एक ज्ञान रूप, ईश तू निधान है ॥५७॥

जिनोत्तमो जिनोत्तमो, जनोत्तमो जगोत्तमो ।
वरोत्तमो बुधोत्तमो, नरोत्तमो निजोत्तमो ॥
परोत्तमो पुरोत्तमो, धुरोत्तमो गुरोत्तमो ।
सुरोत्तमो सतोत्तमो, शितोत्तमो हितोत्तमो ॥५८॥

सजोग को अजोग को, सवोध को अवोध को ।
अरोग को असोग को, स्वसोध को निरोध को ॥
अलोक को सलोक को, अथोक को सथोक को ।
अनोध को अमोध को, विवोध को अरोध को ॥५९॥

नही जु सून्य वादि को, जिनो अनादि आदि को ।
 तुही जु स्यादवादि को, अनंतभेद है इको ॥
 सदा जु सप्तभंग भास को, अनंत भास को ।
 अभास है अकास है, अनास है विभास को ॥६०॥

अणाथि को जु आधिकौ, जिनंद लंबहाथ को ।
 सदा जु सर्वसाथ को, त्रिलोकनाथ नाथ को ॥
 सही जु तीरथकरो, तिथकरो शिवकरो ।
 तुही सुबुद्धिदाय को, अपाय को अकिकरो ॥६१॥

अणाथि को कहता अणाथि जे निरगंय साधु त्यां की पति छे
 अथवा आपही बहिरंगा कमलास्यौ अलिप्त सर्व परिग्रह रहित नगन दिगंबर
 छे अथवा अणाथि जे गरीब लोक त्यांकी प्रतिपाल छे अथवा अणाथि जे
 निगोदावि यावर जीव ज्यांकी इंद्री प्राणादिक की आयि ओही त्यांकी
 दमाल छे अथवा अणाथि जो अलोकाकास जहां जीवावि पदार्थ नही शून्य रूप
 अनंतौ छे । तीहं की ज्ञायक अंतरजामी छे ॥ अर आधिको कहता आस्तिका
 धरणी जो ऋद्धिधारी मुनि त्यां की नाथ छे अथवा आप ही अनंत ऋद्धि
 सिद्धि समृद्धि की भरघों छे । अनंत लक्ष्मी की नाथ छे अथवा आयि का
 धरणी इंद्र चक्रवर्त्यादिक त्यांकी नाम छे । अथवा सभाग्या घनवंत
 लोक त्यांकी प्रभू छे अथवा इन्द्रियादिक की आयि जांके असा जेबे इंद्री
 प्रादिक जंगम जीव त्यांकी रक्षक दयापाल छे अथवा आयि जो लोकाकास
 जहां जीवादि पदार्थ पाजे तोकौ धनी छे लोक की स्वामी छे ।

प्रभू जु केवलीस जो, अनादिकाल ज्ञायको ।
 सुरेश यस्य नायको, तुही जिनो अमाय को ॥
 सही निजैक्य दायको, तुही अनंत ज्ञायको ।
 जु सादि औ अनादि रूप, तू जु तत्त्व नायको ॥६२॥

पुराण है, पुनीत है, सही सुयोगि गम्य है ।
 बीतीत है अतीत है, सही सुलोक रम्य है ॥
 चिदात्म है सुखात्म है, अनंतभाव स्वात्म है ।
 भवांत है अद्यांत है, तमांत है निजात्म है ॥६३॥

महा जु विष्णु व्यापको, अव्यापको अलिप्त जो ।
तु ही स्वयोग है समाधि, रूपदेव तृप्त जो ॥
निरीह को अनीहको, अतीह को अवीह को ।
निरीश्वरो अनीश्वरो, अतीश्वरो नृसीह को ॥६४॥

तु ही जु राम नाम है, सही विराम काम को ।
तु ही जु सर्वधाम है, सही सु एक धाम को ॥
तुही अनंत ग्राम है, सही सु एक ग्राम को ।
न ही जु काम क्रोध रूप, राम है अकाम को ॥६५॥

सुसिद्ध तू प्रसिद्ध तू, विरुद्ध की विनाश तू ।
सही जु अर्हदेव है, सदा स्वचक्षु भासतू ॥
सुसूरि तू प्रभूरि तू, सदाजु तू अध्यापको ।
सु साधु तू अबाध तू, अलोक लोक मापको ॥६६॥

असाध को असाध्य तू, सही जू योग साध्य है ।
अराध तू उपाधिनां, तूही मुनी अवाध्य है ॥
तुही जु नां अराधको, सबें तुझे अराधहीं ।
कभी जुनां विघातको, महा जु साधु साधहीं ॥६७॥

प्रजापती सुगोपती, सदा च गोरखोपती ।
तुही अनंतज्ञान दो, सुदत्त है धरत्पती ॥
सु पौरषो अपार तू, महास्व पौरवेश तू ।
सर्व प्रकृत्य चूर को, अरूप को जिनेश तू ॥६८॥

अमूरतो अधूरतो, असूरतो निरंतको ।
महा अनंत अमूरतो, सबें विभाव अंतको ॥
स्वरूपदो अरूपदो, स्वभावदो विभाश्वरो ।
अरंजको निरंशको, अनंतभा प्रभाश्वरो ॥६९॥

सदासुभाव कारको, विभावता विदूरगो ।
 महाअभाव भावको, अभाव भाव चूरगो ॥
 महा सभाग भाग्यदो, सुशांत भाव पोषको ।
 स्वभाव भुक्ति भोगको, सदा विमुक्त मोषको ॥७०॥
 अद्वैतभाव मुक्त जो, सद्द्वैत भाव मुक्त जो ।
 अनेक एक दैत्य रूप, है अरूप भुक्त जो ॥
 निराकृतो चसाकृतो, विशेष भेद देव जो ।
 रमापती जिनाधिपो, शिवाधिपो अभेद जो ॥७१॥
 रमाधवो उमाधवो, भजै जु जाहि साधवो ।
 णचीधवो घराधवो, जुपै जु जाहि राधवो ॥
 सदा सुबुद्धि राधिका, पती मुनीश ईश जो ।
 सबै कुबुद्धि खंडकी, महाव्रती अतीश जो ॥७२॥
 इव्याक वंशतारको, सु सोमवंश तारको ।
 महाकुरु जु वंशतार, नाथ उग्रपारको ॥
 सुविप्र वर्ण तारणो, मुक्षात्र वंश धारणो ।
 सुवैश्य वंश तारणो, त्रयी उधार कारणो ॥७३॥
 तुही जु शूद्र तारणो, न पुंस होर तारणो ।
 सुरा सुराच नारकी, जु नारि भी उधारणो ॥
 सही जु जन्म अतिरै, उधारि है विनात्रयी ।
 जिके सु सम्यका प्रभू, तुमै जु ध्याय ह्वै जयी ॥७४॥
 सुनाभि जो उधार को, सुचक्रनाथ तारको ।
 अनादि जोग धारको, सुकर्म भूमि कारको ॥
 अनंतसीखि नारको, जुगादि नाथ साथको ।
 सही जु आदिनाथ है, तुही अनादि नाथको ॥७५॥

महायती अजीत जो, असंभवो च शंभवो ।
सदाभिनन्दनो जिनो, मतीशनाथ त्रंभवो ॥
सुपद्मनाभ पद्म जो, निपद्मनाथ नाथसो ।
सही सुपास है प्रभु, रहै जु पासि साथ सो ॥७७॥

सुचंद्रनाथ चंद्रधार, चंद्रकोटि ज्योतिसो ।
अनंतज्योति धार जो, अनंतसूर द्योति सो ॥
सुपुष्प तुल्य दंत यस्य, पुष्पदंत कंत सो ।
सुशीतलो श्रियंकरो, श्रियांसनाथ संतसो ॥७८॥

सदा जु वास वैसुपूजि वासुपूज्य देव जो ।
सुनिर्मलो अनंत जो, सुधर्मनाथ सेव जो ॥
सही सु सांतिनाथ है, प्रशांत सर्वकारको ।
वही जु कुंथवादि जीव, रक्ष को उधारको ॥७९॥

जु कुंथवादि जीवनाथ, कुंथनाथ देव सो ।
अरो अजो रजोहरो, हमैं जु देऊ सेव सो ॥
सुमल्लनाथ मल्लिनाथ मोहमल्ल मार जो ।
अनंतजीत देव जो, सुव्रतनाथ सर जो ॥८०॥

मुनीशव्रत्तदायको, जिनो मुनीसुव्रत को ।
नमैं सुरासुरीतरा, नमीशनां अव्रत्त को ॥
नहीं च कृष्ण भाव सो, सदा जु कृष्णरूप सो ।
सही जु कृष्ण ध्येय है, सु नेमिनाथ भूप सो ॥८१॥

यदुकुलेशनाथ जो, सु यादवो उधारवो ।
शिवा जु देवि तार को, समुद्रजीत पार को ॥
प्रभो गीरीश नाथको, सुराज संविभार को ।
सु बालब्रह्मचारको, सुराजल उधार को ॥८२॥

सदा जु पासनाथ जो, रहै न जीक नाथ जो ।
 सही जु वीरनाथ जो, महासुवीरनाथ जो ॥
 सदा जु वर्द्धमान जो, सही सुवर्द्धमान सो ।
 मतिकरो गतिकरो, जु सन्मती अमान सो ॥८३॥
 अतीव वीर धीरवीर, है प्रभु सुनीर जो ।
 वसै सदा जु आप मैं, हरै जु सर्व वीर जो ॥
 जू पासि है अपासि है, प्रभु जु सर्वनाथ सो ।
 अनंत है जु एक रूप, तीर्थनाथ नाथ सो ॥८४॥
 इत्यादि है अनंत नाम, एक वीतराग जो ।
 अनादि है अनंतधाम, बाहिर्यो जु लाग जो ॥
 महाविदेह क्षेत्र आदि, एकसौ जु सत्तरी ।
 त्रिपंच कर्मभूमि माहि, जे विभू महत्तरी ॥८५॥
 जिके जु अर्द्ध सिद्ध साधु, केवली निरंजना ।
 मरणाधिपा श्रुताधिपा, जिनाधिपा अरंजना ॥
 सुरंजना सर्व जु लोक, भारती जिनोदभवा ।
 मुभै जु देऊ शुद्ध तत्व, ईश्वरी मुखोदभवा ॥८६॥

दोहा

सरस्वती स्तुति—

सरवग के मुखतै भई, सदा सारदा देवि ।
 वहै ईश्वरी भारती, सुर नर मुनिजन सेवि ॥८७॥
 अक्षर जो शरि है नही, अनिधन अवितप देव ।
 सोई अक्षर बावनी, प्रकट करे अभिलेख ॥८८॥
 तेतीसौ विजन जिके, सुर चौदा सब होय ।
 जिह्वा मूली पुलतजो, गज कुंभा कृति जाय ॥८९॥

अनुस्वारो जु विसर्ग है, ए सब वाचन अंक ।
 अ आ इ ई औ लगे, चौदा सुर जु निशंक ॥६०॥
 क का आदि हकारली, विजन है तेतीस ।
 अ अनुस्वारो जानिये, अः विसर्ग धर ईश ॥६१॥
 पुलतज कहिये उच्चसुर, वह जु त्रि मात्रा जानि ।
 गज कुंभा कृति गुरनिते, जिह्वा मूलि प्रव्रानि ॥६२॥
 द्वापंचाशत अक्षरा, बहुरि जिके बीजांक ।
 संयोगी द्वित अक्षरा, सबकी प्रगट शिवांक ॥६३॥
 सब अक्षर के आदि ही, राजे प्रणव स्वरूप ।
 ॐकार अपार प्रभु, आप आप अनूप ॥६४॥
 सो अक्षर नहीं और है, अक्षर रूप सु आप ।
 ताते ॐ आप है, हरे सकल संताप ॥६५॥
 देव शास्त्र गुरु की कृपा, ताते आनन्द पूत ।
 भाषे अक्षर बांननी, नभि जिन मुनि जिन मून ॥६६॥

× × × ×

आगे छउवह स्वर अनुसार विसर्ग । ए षोडसाक्षर स्यामैं मुख्य
 अकार, अकार बिना ककारादि सर्व अक्षर खोडा छै । क असो शब्द
 उच्चार कोजै । तब अइसी सुर-ककार में उचरे । सर्व अक्षरां की जीवजोग
 अकार छै । ताते प्रथम ही अकार को ध्याख्यान करे छै । सा एकाक्षरी
 नाममाला में अ नाम हरिहर को कह्यो सो हरिहर जिन भगवान् ही को
 नाम छै । पापां न हरे । तास्यो हर सारां का इन्द्र तीस्यो हरिधम कुंजर न
 भयकारी । सिंह समान तीस्यो । हरि सर्व कर्म न जोते । तिस्यो जिन सो
 ए नाम एक श्री जी का छै ॥

श्लोक

अनादिनिधनं वंदे, जिनं हरिहराभिधं ।

अलक्षं लक्षणोपेतं, अमरामरमीश्वरं ॥१॥

सोरठा

अकाराक्षर वर्णन—

अक्क कहिये श्रुति माहि,
हरिहर को इह नाम है ।
तो विनु अवर सुनाहि,
हरिहर जिनवर देव तू ॥१॥

छंद वेसरी

अणोरणीया महतो महिता,
तू अद्भुत आतम गुण सहिता ।
तू अनंत जिनदेव अभीता,
भव संतान अनंत विजीता ॥२॥
अर्द्ध मात्र तेरे नहि शत्रू,
अर्द्ध जु नारीश्वर जग मित्रू ।
तेरे कंटिक अर्द्धन पड़े,
तू अर्द्ध जु नारीश्वर कहिये ॥३॥
अमल चक्षु तू क्षायक दिष्टी,
अनत चक्षु तू ईश्वर सिष्टी ।
अमित पराक्रम धारी राया,
अतुल सुखातम रूप अकाया ॥४॥
अचल प्रकाश अनंत सुलोकी,
लोकालोक विलोकक ओकी ।
अतुल लब्धि को तूही ईशा,
तू जु अयोनी संभव धीशा ॥५॥

* अनत कहतां न्यारी सर्व प्रपंच सौ न्यारी छै, क्षायक द्रिष्टि जिहकी ॥
अमित कहतां जिह की मरजाव अनंतौ छै ॥

अनंत दानं अरु अनंत जु ज्ञान,

अनंत सुभोगुपभोग महाभा ।

तेरो समता तू ही सांमी,

तो सी और न अंतरजामी ॥६॥

अजड अतिद्रिय ज्ञान अनंता,

तू जु विकल्प प्रवाह हनंता ।

संकल्पा अरु सकल विकल्पा,

मेरे भेटि जु देव अकल्पा ॥७॥

अकषाई तू परम पुनीता,

तू जु अलेसी देव प्रतीता ।

सुख जु अतिद्रिय देहु जु मोकी,

घोकौं द्रव्य भाव करि तोकी ॥८॥

अमलातम तू विमल अरूपी,

अनहारी तू तृप्त स्वरूपी ।

तू जु अतेंद्री देव अजोगी,

तू जु अवेदी वेदक लोगी ॥९॥

अजरातम तू अजरण साई,

तू जु अमृत्यु अकाल गुसाई ।

तू जु असेष वितीत अशेषा,

तू अचलातम जन्मन भेषा ॥१०॥

तू जु अचित्यातम अति धामी,

चितऊं कैसें तो को स्वामी ।

अलं अलं पूरण अत्यर्था,

तेरे नांही एक अनर्था ॥११॥

तू हि अनर्थी अर्थ न एका,
 तू हि जु अर्थी अर्थ अनेका ।
 जड़ रूपी अर्थनि तैं न्यारा,
 चेतन अर्थ तु ही जग प्यारा ॥१२॥

सकल अर्थ ए जग के झूठे,
 तेरे अधियती जगरूठे ।
 अदभुत देव तुम्हारी प्रभुता,
 तुम अधियोगी भरित सु विभुता ॥

तू जु अन्नस्वर रूप जिनंदा,
 तू अजर्य अजीरणा इन्दा ।
 तू जु अनंत दीप्ति भगवंता,
 तू जु अग्रणी श्री अग्रहंता ॥१३॥

अहंन तू अरुजा अचल स्थिति,
 तू अक्षोभ विदारक भवधिति ।
 अव्युत भू पामोहु उधारी,
 दीनानाथ जु विरद उजारी ॥
 असंभूषनु है नाम जु तेरा,
 मेरा हू करि देव निवेरा ।
 तू अणिष्ट अति सूक्ष्म विमला,
 तू अति निर्मल चिदघन अमला ॥१४॥

अनुभव नाथ अधिक तू प्यारा,
 तू अशेष कलमष तैं न्यारा ।
 मोकों दै निज अनुभव स्वामी,
 निज अनुभूति निवास स्वधामी ॥१५॥

अतिसंगी तू है जु असंगा,
यतिसंगी तू है जु अरंगा ।
रंगनाथ तू है अती रंगी,
लोकनाथ तू कथक त्रिभंगी ॥१६॥

तू अधर्मधक अगनि स्वरूपा,
तू अति धर्मी त्रिभुवन भूपा ।
तू अमूरतातम अति जानी,
तू जु अनंतग अति गतिमानी ॥१७॥

अमृतोदभव अमृत आतम,
तू अशोक ध्वज अति जगदातम ।
तू अशोक घनशोक वितीता,
शोक संताप हरी मम जीता ॥

तू अगण्य गणती तुझ नाही,
तू अचित्य वैभव समाही ॥१८॥

अभिनंदन अभिनंदनक देवा,
तू जु अपरमेयातम भेवा ।

तू सु अरिजय फुनि जु अभीष्टा,
तू जु असंस्कृत सब जग द्रष्टा ॥१९॥

तू अप्राकृत अवधि जु वासी,
मेरी काटि देव जम पासी ।

तू जु अनाश्वा अशन वितीता,
तू जु अनल्पय अल्पय जीता ॥२०॥

तू जु अव्ययो नाश न तेरा,
व्यय अल्पय नाम जु मरणेरा ।

तू अधिकोधि गुरु जु मुनीशा,
तू न अधातम देव अभीशा ॥२१॥

अक्षय तू ख अनणु अग्राहक,
 अविज्ञेय अवितर्क अवाहक ।
 तू जु अगम्य अघ्यातम गम्या,
 अक्षप्तो तू परम जु रम्या ॥२२॥
 तू अमोघ शुभ वाच जु स्वामी,
 मोघन तू जु कदापि अकामी ।
 मोघ जु नाम कहै सु वृथा को,
 तू कबहुं न वृथा वितथा को ॥२३॥
 तू अमोघ शासन जगनाथा,
 तू अमोघ भाषक जिननाथा ।
 तू अमोघ आज्ञादायक है,
 तू जु जिनंदा सब लायक है ॥२४॥
 तू जु अतीव्रिक उपमाराया,
 तू अधिपति अर अधिप अछाया ।
 तू अचित्य चितक जगदीशा,
 तेरी आज्ञा सबक सीसा ॥२५॥
 अधिदेवत तू अप्रतिधाता,
 अप्रतिधो अति जगत विख्याता ।
 तू अमुग्ध अति मुग्ध जु लोका,
 तेरी सेव न जानहि वोका ॥२६॥
 अमित सुज्योति श्री भगवंता,
 तू जु अमोमुह ओज अनंता ।
 तू जु अधिष्टानं अप्रतिष्टा,
 तेरी सर्वग ख्यात प्रतिष्टा ॥२७॥

अभयंकर तू उद्यतद्योती,
अखिलातम तू अखिल प्रज्योती ।

तू अपरधौ अनत सु सक्ती,
कैसें करिहौ तेरी भक्ति ॥२८॥

तू जु अनिद्राजु जोसेसा,
तू जु अलंद्राजु अतिभेसा ।

तू जु अनामय आमय त्यक्ता,
व्यक्त अव्यक्त सुव्यक्ता व्यक्ता ॥२९॥

अनुभवगम्य मृगम्य अनूपा,
अलभ अकेद्य अदाच्छ अरूपा ।

अजर अछेद्य अभेद्य अतीसा,
अमर अलभ्य सुलब्ध घटीसा ॥३०॥

अक्षर अचिंतित तू जु अशब्दा,
अति भवदाह बुझावन अब्दा ।

तू जु अनिदित वंदित देवा,
परम अनंदी अकल अभेवा ॥३१॥

अतिदुल्लभ अतिवल्लभ स्वामी,
अतिपावन अतिभावन नांमी ।

अति सु दयाल अनुत्तर साई,
अति सु कृपाल अपात गुसाई ॥३२॥

अतिधर्मी अभिवंद्य जिनिदा,
अतिज्ञानी अजरामर इन्दा ।

अतिमर्मी अथकंद निकंदा,
अतिध्यानी अघचूर मुनिदा ॥३३॥

अतिदांनी अति सुंदरनाथा,
अत्युत्तर पर अतिपुण साथा ।

तू जु अलक्ष अक्ष अवर्णा,
तू जु अनक्ष अपक्ष अक्षणा ॥२४॥

अतिगति अपरस अतिपति तू ही,
तू अतिचक्षु अवाल प्रभू ही ।

तू जु अनंवर अंवर स्वामी,
अक्षजीत तू अति अभिरामी ॥२५॥

तू जु अजीत अभीत अकल्ला,
तू जु अतीत प्रतीत अदल्ला ।

तू जु अमूरित मूरति जैना,
तू अति सूरति अदभुत वैना ॥२६॥

अति धीरज तू अतुल अचल्ला,
अमरणा अमृत अवश अखिल्ला ।

अरज अजो अजरो ज अमल्ला,
तू जु अवस्थादेय असल्ला ॥२७॥

अरस अगंध जु रूप न तेरै,
अफरस तू हि जु शब्द न प्रेरै ।

अग अभयो जु अविक्त गुसाईं,
अक्रिय रूपी अमन असाईं ॥२८॥

अभिप्राय सु जाक नही कोऊ,
अभिप्राय जु जायक इक होऊ ।

अपर अपार अजड अरनाथा,
अकर अवक्त वि अतिवडहाथा ॥२९॥

तू अविकार अनंजन स्वामी,
 तू अनगार अरंजन सोमी ।
 अति अधिकार जु एक तुही है,
 गति गति जायक जायक तुहि मही है ॥४०॥

अवधिगम्य न साय हमारा,
 सर्वाधिक्य स्वरूप तुम्हारा ।
 अश्नातीत अक्षवित्तीत,
 अक्षरवीत परमप्रतीत ॥४१॥

अक्षर तू अक्षर तैं न्यारा,
 अक्षर भामत जगत उधारा ।
 अति दुषहर अधहर अभिनंदी,
 अति भरपूरण एन निकंदी ॥४२॥

तू जु कर्तृम देव अनादी,
 अतिभव कंदन एक अवादी ।
 अकलित अखिलित तू जु अनुत्तम, *
 तू अतिभार अमार जगुत्तम ॥४३॥

अत्युत्तर तू नाथ अत्युत्तम,
 सुखतर उत्तर तू जु जिनुत्तम ।
 अभयकरण अतिधरण अनंता,
 अजित जितेश्वर श्रीभगवंता ॥४४॥

अतनु विदार अनंगस्वरूपा,
 अतनु जु कहियै काम अरूपा ।
 अनघ प्रचार अहित हत तू है,
 अचर अचार अभंग प्रभू है ॥४५॥

* अनुत्तम कहवा महा उत्तम सारा उत्तम जिह पाछै छै ।

तू जु अतंग विवर्जित साई,
 ब्रह्म स्वरूपी देव गुसाई ।
 असत वितर्जित शील जु तूही,
 अदयावर्जित जगतप्रभूही ॥४६॥
 अनृतवर्जी अदितवितर्जी,
 तू जु अहिंसाप्रेर अगरजी ।
 अदतन लेवा तू जु अकिंचन,
 तू जु अलोक निवार निरंजन ॥४७॥
 तू जु अहिसाराय अमाया,
 हिंसावर्जित धम्म वताया ।
 अतत अमत ते सहित जु नाथा,
 अदत निकंदा तू बडहाया ॥४८॥
 अमरेश्वर पूजित जिनदेवा,
 अहपति गोपनि धारहि सेवा ।
 चतुर निकायक पायक तेरे,
 अर्कपती हरि तिमर जु मेरे ॥४९॥
 अहमिद्वनि करि तू जु पुजानां,
 तू अमरेंद्र इंद्र भगवानां ।
 अहिपति अधिपति सुरपति जेते,
 तव दासनि के दास जु तेते ॥५०॥

*अतिहित अघहत अहिपति तू,
 अभगत अतिगति अतिद्यति जति तू ॥५१॥

अधिपति तू हि जु ओर न कोई,
 अवितथ अविगत अवहित होई ।
 अखलित अचलित भाव जु तेरा,
 तू जिनवर जतिवर सब केरा ॥५२॥
 तू अरिहंता अहं जु मिता,
 तू जु अनंता ओअरहंता ।
 अहंत तू जु अविद्याहारी,
 अर्क अनंत समोद्युति धारी ॥५३॥
 तू जु अनंत सुदर्शी ईशा,
 तू असपर्शी एक अधीशा ।
 अहं सु चक्री बंद्य तुही है,
 तू जु त्रिखंडी नाथ सही है ॥५४॥
 अखिल जु चक्री बंदहि तोकौं,
 चक्रपती पति दै शिव मोकी ।
 अखिल सु मंडलिका नृप सेवै,
 अमगारा मुनि तोहि जु लेवै ॥५५॥
 अणुव्रत धर आवक जे स्वांसो,
 तोहि जु पूजहि तू गुणग्रामी ।
 अवरत समकित धर श्रुत तू ही,
 अमरासुर पूजित जगदूही ॥५६॥
 असुरसुरा सब तोहि जु ध्यावैं,
 अपछर गरसुर धरि गुण गावैं ।
 तू अभिव्येय विकासक देवा,
 तू अभिधान प्रकास अछेवा ॥५७॥

तू अभिधाता अतिगणपाता,

तू जु प्रमाता नाथ अधाता ।

अतिगुण-पूरा अतिसयधारी,

अतिभवदूरा निकट विहारी ॥५८॥

अमरांगी इक तोकों बंदै,

इक भव धरि वह कर्म निकंदे ।

अमरेस्वर अमरांगी दोऊ,

शची सुधर्मा तो मय होऊ ॥५९॥

अब्रह्मनिष्क अधिक जिन्दा,

ब्रह्मचर्य धर तू जू मुनिदा ।

अवला निदक तू जु प्रभूजी,

अवल विलोकइ तू जु विभूजी ॥६०॥

तू जु अगृद्ध सुगृद्धि न तेरै,

अति जु अकिंचन रंच न घेरें ।

परम अकिंचन प्रकट करेवा,

अदुरित रूप जु अदुरित देवा ॥६१॥

अवला-तजक अलंपट जानी,

अवला अधमपुरी परवांनी ।

अदयाव्रजित श्रीपति स्वांमी,

अदया तर्कपुरी पदगांमी ॥६२॥

अधम पुरुष अदया कीं लागें,

त्यागि अहिंसा पापहि पागें ।

ते सठ लहहि न शिवपुर वासा,

दुरगति भोग लहै अघदासा ॥६३॥

अदया अदतन अबला जाकै,
 अनृत अवह्य गद्धि न ताकै ।
 परम अकिंचन है भगवांतां,
 अवला संग न जसुधन धानां ॥६४॥
 तू जु अशील तणै अवह्याला,
 शील स्वरूप अरूप अहीला ।
 दु जति हीला एद न तेरै,
 शील निरूपक एनन प्रेरै ॥६५॥
 तू जु अकंला कर्मदहेता,
 तू जु अचेला एक अनंता ।
 तू जु अकिंचन मूल गुसाईं,
 तू जु अलंघ्य असंधि असाई ॥६६॥
 तू जु अजंघा वज्र सुजंघा,
 तू जु अलंघा किनहिन लंघा ।
 तू अभिलाष विवजित जानी,
 अंतरहित अंतरगति जानी ॥६७॥
 अतुल बली अतिभार धरैया,
 अनत सुखी अतिभोग करैया ।
 अन उपभोग प्रपूरण स्वांमी,
 तू जु अयोगी जोग अकासी ॥६८॥
 अति तिदाहर क्षम इक तूही,
 तू जु अमाना अजित प्रभूही ।
 तू जु अदंश्रि दंभ न जाकै,
 तू जु अचंती कपट न ताकै ॥६९॥

तू जु अमार्दव नासक एका,
 तू जु अनार्जव छंड अनेका ।
 तू जु अदूज दूजि न तेरै,
 अकपट अकपाट सु प्रभु तेरे ॥७०॥
 तू जु अनृष्ट अकंट गुसई,
 अनृतवर्जित धर्म कराई ।
 नाहि अलीक सुशाशन तेरी,
 अतितिक्षा जिनहित जु घरोरी ॥७१॥
 जपै अनार्जव नाश प्रवीनां,
 तोहिन पावहि मार्दव हीनां ।
 अनिधन भाव जुं तो तैं लहिये,
 असत अतत माया तैं रहिये ॥७२॥
 तू जु अशीच प्रहार सु सूचा,
 पूज अधातु अगात सु ऊचा ।
 तू जु अजात न जातक काको,
 तू जु अभूष प्रभु सुरमाकी ॥७३॥
 तू जु अनूप अनंद स्वरूपा,
 दूरि नही तू दूरि अरूपा ।
 तू जु असंयमहर यमघारी,
 यम हारी तू संयमहारी ॥७४॥
 संयम कारण तू अविकारी,
 अति संयमधरनाथ अपारी ।
 तू विभूयम भर निय स्वरूपा,
 अनियमहारी तप जु प्ररूपा ॥७५॥

अति तपकर अति तपभर स्वामी,
 अति तपभर अति तपहर नामी ।
 अति तप अनशन आदिक प्रगटा,
 अति तप-ज्वर-रोगादिक विषटा ॥७६॥
 अति तप विनिंदक अति तप भाया,
 अनशन रूप अभूष अकाया ।
 प्रदन नहीं तेरे कबहु जी,
 अनशन भास कहै जु विभूजी ॥७७॥
 अवमोदये प्रसंसक तू है,
 तप तेजस्वी तू जु प्रभू है ।
 अति वृत्तिपरिसंख्या क्षायक तू,
 अति रसनायक सब नायक तू ॥७८॥
 तू अतिरस अर रसपरित्यागी,
 अतिरित शय नाशन तप भागी ।
 तू विविक्त शय्यासन देवा,
 तू जु अकायक लेश अभेवा ॥७९॥
 अति हि कायकों क्लेश देनां,
 संकलेस भाव नविलेनां ।
 छह विध बाहिर तप तू भाषै,
 छह विधि अंतर तप हू राखै ॥८०॥
 तू अपवित्र जु भावन राखै,
 तू जु पावित्रा तम रस चाखै ।
 तेरे प्रायश्चित नहि होई,
 पाप लगै नहि तोहि जु कोई ॥८१॥

अभ्यन्तर तपों का वर्णन—

तू प्रायश्चित्त तप दायक है,

तू जु जिनिदा मुनिनायक है ।

अविनय रूप जु धर्म न तेरा,

विनयप्रकासी तू जु घरोरा ॥८२॥

तू अविनय सुनि कंदक ईशा,

विनयमूल जसु धर्म अधीशा ।

तेरो विनय जु सबको करई,

वे नयभासक तू भवहरई ॥८३॥

अतिथिनि की आदेशक तू ही,

अतिथिनि की पति एक प्रभू ही ।

तू जु अवैया व्रत्त करेवा,

अवरनि की इह तप जु कहेवा ॥८४॥

अतुलित संयमभर अतिरंगी,

अनघ अचंभी अकलितरंगी ।

अति श्रुति योज जु जे मुनिराया,

वहजु अपूजक तिन करि ध्याया ॥८५॥

अरति विहंडी रतिपति दंडी,

अवगुण छंडी अविनय खंडी ।

अति स्वाध्यायी जे मुनिराजा,

तिन करि ध्येय सदा जिनराजा ॥८६॥

अति पूरण वह आप जिनदा,

अति श्रुतधारक अति श्रुत इंद्रा ।

अति श्रुतपूरण श्रुति जु उलंघा,

केवल रूपी देव अलंघा ॥८७॥

अति व्युत्सर्ग उदेश कराई,
 अति व्युत्सर्गी मूल गुसाई ।
 अतिशय व्यांती अतिशय ज्ञानी,
 अनुपम शुक्ल प्रपूरण व्यांती ॥८८॥
 अध्ययनो ध्यानो इक तेरी,
 ध्यान रूप तू पति सब करी ।
 अतित्यागी अतिभागी देवा,
 अति त्यागोत्तम आप करेवा ॥८९॥
 अस्याकिचन मूलविभू है,
 धर्मराज तू एक प्रभू है ।
 आप अकिचन सर्वभु जापे,
 इह अदभुत गति देख कु तापे ॥९०॥
 अपवर्गा कहिये जो मुक्ती,
 तू मुक्तीश देहु मुक्त भक्ती ।
 सर्वसमूहा सर्वमई तू,
 सर्व रिद्धिधर कर्मजयी जू ॥९१॥
 अतिहि सधूला है जु निरंजन,
 सिद्धि वृद्धि भरवह जु अकिचन ।
 ब्रह्मचर्य तें लभ्य जु सोई,
 ब्रह्ममई मूरति जु सुहोई ॥९२॥
 अतनु विदार जु आपकारा,
 काम जु दाइक काम प्रहारा ।
 तू जु अध्यात्म सार अनादी,
 अध्यात्म देव कई अवादी ॥९३॥

अति भव चूरण अति जगनाथा,
 मयराजिती अजित जितहाथा ।
 तू जु अध्यातम मूल प्रसिद्धा,
 अविरोध अनिरोध अनुभव मिद्धा ॥६४॥
 अखिल मुनायक देव अनाथा,
 अखिल सुदायक आप असाथा ।
 अखिल सुसायक आप अलेखा,
 अखिल सुव्यापक आप अभेषा ॥६५॥
 अखिल सुकारक कारक नांही,
 अखिल सुधारक अखिल जु पांही ।
 अखिल सुतारक अखिलाचारा,
 असुचि विहारा अतिगति भारा ॥६६॥
 अनघ अधारा अतनु प्रहारा,
 अति जगसारा भुवन उजारा ।
 अकलक लो इक नाथ अभू है,
 अवधि जु कंद अनंद प्रभू है ॥६७॥
 अनत अपार करम गण हरिया,
 अखिलप्रकाश अतुल गुण भरिया ।
 तू जु अणक्य विवर्णन सांई,
 शक्ति नाहि को वर्ण करांई ॥६८॥
 अलख निरूपक एक तुही जो,
 तू जु अवाच्य अनिर्णय ही जो ।
 तू जु अकथ्य परुषण सांई,
 अलभ सुमहिमा जगत गुसांई ॥६९॥

अखिलाकारा अखिलाधारा,
 अखिल स्वरूपा अखिल सुभारा ।
 अगम प्रतिष्ठा नाथ अपारा,
 अखिल जु भूषा अखिल जु पारा ॥१००॥
 अति सुखकारा अमरकरा,
 अखिल सुसेवित स्वामि अधारा ।
 अनन्त सु ज्योतिस्वर मुनि प्यारा,
 अनन्त सुरश्मी तिमिर प्रहारा ॥१०१॥
 अनुभव मूरति तू जु कृपाला,
 निज अनुभूति स्वरूप दयाला ।
 तेरी परणति भुण अनुभूती,
 तेरी शक्ति जु व्यक्ति प्रसूती ॥१०२॥
 अनवरत जु निरन्तर तू ही,
 व्यापि रह्यी सरवत्र समूही ।
 अनिशं नाम तिहारी स्वामी,
 जपिहैं ते नर हौंहि अकामी ॥१०३॥
 अविरतिनाशक वृत्ति स्वरूपा,
 अविरत अवृत्त रहित अनूपा ।
 अव्रत स्थागि तोहि जँ ध्यावैं,
 ते जगजीवन तो मोहि आवैं ॥१०४॥
 असि आऊसा मंत्र सु तेरा,
 कर्मकलंक हरी सब मेरा ।
 असि आऊसा जिन जन जपिया,
 माया मोह महा तिन क्षपिया ॥१०५॥

अति गति देव अगति गाँत देवा,

अतिपति नाथ न जानूँ खेवा ।

अतिजुग ईस अतुल जग धेवा,

अतिजित जीत न सक्निहूँ सेवा ॥१०६॥

अति जति स्वामि अलंकृत रामां,

अक्षर रूप अनक्षर नामां ।

अति मुनिपाल अतुल सुखधामां,

अति अघटाल अनंदित कामां ॥१०७॥

अति रति त्यागक अति गुरानाथा,

अतिहित स्वामी अखिल सुख साथा ।

अति मतिधीश अनंत बड़हाथा,

अकरम अकरण रूप असाथा ॥१०८॥

अनुभव रूप अधिक सुखकारी,

अभय जु मूल परम रसधारी ।

अति दुखहरण सु नाम तिहारा,

अतिभव दूरि करो जु हमारा ॥१०९॥

अति सुखिया अति ओयुत राया,

अनुभव मात्र जु आगम गाया ।

अचल असंखि प्रदेश जु ईशा,

बोध प्रमाण सदा जु अधीशा ॥११०॥

अदभुत गति तेरी जु गुसाई,

तू जु अजान अकारक साई ।

तू जु अकर्ता कर्ता कर्मी,

तू जु अभुक्ता भोगक धर्मी ॥१११॥

अधिक सुखसुख रूप विराजा,
अति आनंदमई भव पाजा ।
अतिशीली अतिभाव जगीसा,
अतिशर्मी शिवमूल अनीशा ॥११२॥

अति धननाथ अनादि अनंता,
अच्युत अगणित श्रीभगवंता ।
अमित जगत दुखहरण दयाला,
अखिल दश परदेव कुशांत ॥११३॥

अतिशय सागर अखिल जु पीवा,
अनुपद्रित अति शिवसुख दीवा ।
अति पापिष्ट जु जे नर स्वामी,
तोहि न पूज हितु जु विरामी ॥११४॥

अवनीपति पूजित बडभागा,
अजस निवारक देव विरागा ।
तू हि अनंतमती सुजिनिदा,
तूहि अनंतगती सु मुनिदा ॥११५॥

अष्ट अंग समकित के तूही,
भाषे जिनवर गुण जु समूही ।
अष्ट अंग के धारक जे हैं,
ते सबतैं ही ख्यात किये हैं ॥११६॥

अंजन और अनंतमती जो,
रात्र उदायन कर्म हती जो ।
रेवती राखी जिनवर भक्ता,
फुनि जु जिनेंद्र भक्त जिन रक्ता ॥११७॥

वारिषेण औ विष्णुकुमारा,
 वज्र कुमार महामुनि प्यारा ।
 ए अष्टातम अंग स्वरूपा,
 तू सबकौ शिवदायक भूषा ॥११८॥
 इनमें कैयक तदभव तारे,
 कैयक जन्मांतर जु उधारे ।
 जब तारें जब तू ही तारै,
 तो विनु औरन कर्म निवारै ॥११९॥

अष्टाह्निका महात्म्य—

अष्टम दीप नाम नंदीश्वर,
 ता महि तोहि जु पूजहि सब सुर ।
 वर्ष एक में तीन जु वारा,
 कार्तिक फागुण सुचिव सुवारा ॥१२०॥
 अमल पक्ष में तीन अठाई,
 अंतिमु वसु दिन पूज कराई ।
 अष्टमि सौ ले पूनिम ताई,
 निति निति पूज करें अधिकाई ॥१२१॥
 अष्ट दिवस की व्रत तें भाख्यौ,
 अष्ट गुणनि परि द्विठकारि राख्यौ ।
 सिद्ध चक्र है नाम जु यांकौ,
 या करि पढ़ए पति कमला की ॥१२२॥
 सम्यक्त्वादि अष्ट महा जे,
 गुणी प्रभू तो मांहि लहाजै ।
 तिनकी इह व्रत अठ दिन करहीं,
 ते शिव गति अव सुरगति वरही ॥१२३॥

अष्टाह्निक तुव गुण व्रतस्वामी,

तू अष्टात्म ऊरध धामी ।

अष्टाह्निक व्रत करि जब ध्याये,

कोडीभड को कोढ़ गुमाये ॥१२४॥

अति ताकी पतिवरता बाला,

कोडीभड नरपति श्रीपाला ।

जलनिधि मैं कोडीभड तारे,

फेरि भवोदधि तैं जु उधारे ॥१२५॥

अखिल ऋद्धि भड की तुम दीनी,

इह तुम्हरी महिमा जग चीनी ।

अष्ट चक्रवर्ति तैं ही तारे,

अष्ट हली तैं ही जु उधारे ॥१२६॥

चौ चक्री इकबल तारंगो,

आप समान करी धारंगो ।

अष्ट भेद लौकांतिक देवा,

तुव जपि पावंगे भव छेवा ॥१२७॥

अठ विधि लौकांतिक की आयू,

अष्टहि सागरर्त हि बतायू ।

अठ विधि ऋद्धि लहैं तुव भक्ता,

तु जु अष्ट विवि कर्म विमुक्ता ॥१२८॥

अठ विधि योग प्रकाशक ईसा,

अठ विधि पूजा जोगि अधीशा ।

अष्ट प्रकारी पूज करै जे,

तेरी जिनवर अष्ट हरैं जे ।

अष्ट हरी हमरे हरि देवा,

अष्ट गुणादे हो जु अछेवा ॥१२९॥

अवगम भूपित देव अकाया,
 अष्ट'धरा कौ तू इक राया ।
 अष्ट सुसम्यक दर्शन ईशा,
 अष्ट जु सम्यक ज्ञान अधीशा ।
 तेरहि विधि चारित्र जु होई,
 सब कौ भासक तू जिन सोई ।
 त्रयी रूप है तू जु अभेदा,
 एक रूप तू सर्व सुवेदा ॥१३०॥
 अष्ट सिद्धि अर नव निधि द्वारे,
 तेरै कु भी अर जुगु द्वारे ।
 तू वसु ऋद्धि मूल जग स्वांमी,
 तू वसुधा महि अदभुत धामी ॥१३१॥
 अष्टविधि प्रवचन माता जे हैं,
 पंच समिति त्रय मुष्टि गने हैं ।
 अष्ट शुद्धि धारक मुनि भक्ता,
 तू जु अष्ट विधि कर्म विमुक्ता ॥१३२॥
 अष्टम गुण थातक तौ श्रेणी,
 उपशम क्षपक रूप सुख देनी ।
 उपशय वारे द्वै इक भवले,
 क्षपक विहारे तदुभव शिवले ॥१३३॥
 अष्टम गुण नीचें नहि शुक्ला,
 बह तेरौ उपदेश जु अकला ।
 शीथौ गुण सौ सस्तम ताई,
 धर्म ध्यान नहीं होइ जु साई ॥१३४॥

अष्टम सीलै चउदम लौ फुनि,
 शुक्ल ध्यान ही धारहि वर मुनि ।
 पहिली शुक्ल जु ग्यारम लीह्ये,
 द्विजो शुक्ल सु वारम को ह्वै ॥१३५॥
 तेरम चौदम भगवत रूपा,
 परम शुक्लमय त्रिभुवन भूषा ।
 तीजी शुक्ल सयोग अवस्था,
 चौथी शुक्ल अयोग व्यक्स्था ॥१३६॥
 सिद्धि दशा में ध्यान न कोई,
 धारण ध्येय ध्यान निज होई ।
 धरम शुक्ल ह्वै शिव के दायक,
 आरति रुद्र कुजन्म अमायक ॥१३७॥
 इह तुम्हनें उपदेश जु दीनी,
 सो सम्यक्ती जीवनि चीनी ।
 सोकीं देहु धर्म अरु शुक्ला,
 आरति रुद्र निवारो विकला ॥१३८॥
 अष्टम धरपति अंतरजामी,
 अष्टम धर दाय अभिरांभी ।
 अष्टापद है तेरै थांतां,
 तू अष्टकपति शिव ततिरानां ॥१३९॥
 अष्टापद तैं भूषित कीयो,
 अष्टापद तैं शिवपुर लीयो ।
 अष्टापद कैलास जु गिर है,
 ताकी पति तू ऋषभ सुधिर है ॥१४०॥

अष्टापद व्याघ्रादिक दुष्टा,
 तुझ दासनि परि ते नहि रुष्टा ।
 अष्टापद कंचन हू कहिये,
 कंचन त्यागि जु तोहि जु गहिये ॥१४१॥

अष्टमि चतुर्दशि की अत देवा,
 तू ही जग में मगर करेवा ।
 तू अष्टांग डंडवत बोझा,
 अष्टक स्वामि अठ्ठद अरोझा ॥१४२॥

अठमल सम्यक के तू नासे,
 तू अध्यात्म रूप विकासे ।
 नैकत सर्व स्वरूप तुम्हारा,
 अतिमित दोष हरी जु हमारा ॥१४३॥

अष्ट भेद हैं वितर देवा,
 तिन में इंद्रादिक वसु भेदा ।
 योतिष सुर जे पंच प्रकारा,
 एउ शक्रादिक अठ धारा ॥१४४॥

भवनपती दश भेद कुमारा,
 सुर्ग निवासी दोय प्रकारा ।
 सुर्गपती अर भवनपती जे,
 तिनमें इंद्रादिक दश लीजै ॥१४५॥

आयसत्रिसत लोक जू पाला,
 योतिष वितर तैं ए ठाला ।
 भव नर सुर्ग मांहि दश भेदा,
 तेईसी अहमिद अभेदा ॥१४६॥

सब देवनि को तू ही देवा,
सब करि पूजित एक अभेवा ।
अठ विधि तेरें एकन दीसे,
तू अठविधि अठविधि विधि पीसे ॥१४७॥

यम नियमाशन प्राणायामा,
प्रत्याहार सुधारण नामा ।
ध्यान समाधि जु अष्ट प्रकारा,
तू जु प्रकास रहित विकारा ॥१४८॥

सहस्र अठारह शील अधीशा,
मोक्ष शील रूप करि ईसा ।

तू जु अनंत गुणात्म जानी,
शैलेसी किरिया परवानी ॥१४९॥

अष्टादश जे कोटाकोटी,
सागर भोगधरा जव लोटी ।

तब प्रगटे श्री ऋषभ जु देवा,
कर्मभूमि विधि प्रगट करेवा ॥१५०॥

दश क्षेत्रनि में कल्प जु हौही,
ठारा दोय बीस इतनोंही ।

ठारा भोग दोय है कर्मा,
बसि जु कोडाकोडि स्वधर्मा ॥१५१॥

अवसपिणी उतसपिणी दस दस,
सागर बीस जु कोडा कोडिस ।

काल अनंत भये अर हूँगे,
लोक लोकपति यों जु रहेंगे ॥१५२॥

पंच भरत ऐरावत पंचा,
 इनमें ह्वै भू सुख दुख संचा ।
 दश क्षेत्रनि में रीति न एका,
 और ठौर है एक विवेका ॥१५३॥
 सर्व जु भेद कहै जिन तू ही,
 तू अमितातम कल्प समूही ।
 अष्टादस नहि दोष जु तेरें,
 ए बड दोष लगे सब केरै ॥१५४॥
 गुण रूपो तू परम प्रधानां,
 सर्व दोषहर मोख विधानां ।
 अष्टादश कोटी जु तुरंगा,
 त्यागहि चक्री होय इकंगा ॥१५५॥
 तेरह रंग रागि निज रंगा,
 भंग भूति तजि होहि अभंगा ।
 सहस्र अठाइह रांणी जाकै,
 देव विद्याधर अनुचर ताकै ॥१५६॥
 सो रावण विषयनि में पागौ,
 जगत भूति तजि तोहिन लागौ ।
 तदभव मुक्त भयो नहि तातें,
 अधमपुरी लहि पाई घातें ॥१५७॥
 तो महि पागि होयगी मुक्ता,
 जब ध्यावैगी ह्वै जु विरक्ता ।
 अष्टाविसति मूल जु सुगुणा,
 तिनके धारक मुनिवर निपुणा ॥१५८॥

सर्व मुनीश्वर तेरे दासा,
 दास उधारक तू जु उदासा ।
 अठवीसा है मोह प्रकारा,
 ते सब चूरि किये तैं भारा ॥१५६॥
 गुण यंत्र जु मैं ते सब पीसे,
 असो तू जु अधीस जगीसे ।
 लाव अठवीसा देवल तेरे,
 पूजै सुगं सुश्रद्धि घणोरे ॥१५७॥
 अष्टविसति हैं जु अपिडा,
 प्रकती भेद जु चउदह पिडा ।
 चौदह के ह्वै पैसठि भेदा,
 एवै मिलि ह्वै त्रिणवै वेदा ॥१५८॥
 नाम कर्म के ए जु विकारा,
 ज्ञानावरण सुपंच प्रकारा ।
 दर्शन आवरणी नव भेदा,
 अंतराय फुनि पंच त्रिवेदा ॥१५९॥
 द्वै मोहो ह्वै अष्टावासी,
 तीन मिथ्यात कषाय पचीसी ।
 वेदनि कर्म जु दोय गनेसी,
 आऊ चौविधि तू जु हनेसी ॥१६०॥
 गोत्र कर्म ह्वै नीचर ऊचा,
 दोय प्रकार जु सूच असूचा ।
 अष्ट कर्म ए दायक भैंहैं,
 कवहू तो महि नाथ न अैंहैं ॥१६१॥

अष्टनि के से अर अठताली,
 तें सब भेव हरे भ्रमजाली ।
 तू जिन कर्म हरो हर अवसा,
 वशकीये तें त्रिभुवन स्ववशा ॥१६५॥
 जीव समास जु हैं गुन्नीसा,
 पूर्णोत्तर गुनिये अठतीसा ।
 सबको रक्षक तू जु जिनेश्वर,
 सब भेदनि तें रहित शिवेश्वर ॥१६६॥
 अठतीसाँ परि एक अधिक हैं,
 कल परकल पातीत भेद द्वे ।
 सब ऊरध लोकहि कै ऊपरि,
 तेरो वास जु है सबके सिरि ॥१६७॥
 नाहि वासनाँ तो मै कोऊ,
 वासदेन हारी इक होऊ ।
 अठतालीसाँ काव्य जु तेरी,
 भक्तामर की ऋद्धि घनेरी ॥१६८॥
 ते निवसौ मेरे घटि देवा,
 मानतुंग दुख दूरि करेवा ।
 एक ऊन अठतालीसाजे,
 धातिका प्रति अति मलिन महाजे ॥१६९॥
 ते सब नासहि तेरे भक्ता,
 तू सौ अर अठताल विमुक्ता ।
 चौबीसाँ माता अरताता,
 ए अठताल लो थकी ख्याता ॥१७०॥

अठावन के आधे स्वामी,
गुणतीसों रतनत्रय नामी ।
ते सब भेद देहु किरपा करि,
फुनि अभेद रूपो करि भवहरि ॥१७०॥

एक घाटि करिये जु अठावन,
जीव समास जु ह्वै सत्तावन ।
जीव रक्षणा तेरी पंथा,
तू योगीश्वर रहित जु गंथा ॥१७१॥

* एक अधिक अठसठि सौ उपरि,
ए निश्चै पावै शिव भवतरि ।
कैयक तदभव कैयक जन्म,
पावै तुव पर ह्वैतो तन्मै ॥१७२॥

अठसठि वर्ष जु ऊपरि एका,
गुणहत्तरी जीवी जु विवेका ।
एकादशमों रुद्र जु स्वामी,
पारवती प्राणेश्वर नामी ॥१७३॥

तोहि ध्याय हासी तो सरिषा,
तू तीर्थकर पूरण पुरिषा ।
अठसठि के आधे चौतीसा,
येहैं अनिश्चय तो करि ईशा ॥१७४॥

* १६६ जीव-मोक्षका अधिकारी छै -- २४ तीर्थकर, २४ पिता
२४ माता, २४ कामदेव, ६ वासुदेव, ६ प्रतिवासुदेव, ६ नारद,
६ बलभद्र, ११ रुद्र, १४ कुलकर १२ चक्री—

अठसठि तीरथ भौतिक न्हांवें,
तो विनु शिव पुर पंथ न पावें ।
अठहत्तरि के आधे देवा,
ऊरध लोक सु प्रथम कहेवा ॥१७५॥

गुणतालीसौ नाहि जु जाचौं,
अैसी करतो मै हरि राचौं ।
अस्सी मंदिर तेरे स्वामी,
पंचमेरु मै हैं अभिरामी ॥१७६॥

षोडस षोडस एकक सुरगिर,
धारहि तेरे सौध सदाधिर ।
कै अस्सी कै द्वाक्यासी जो,
कै चउरासी पंच्यासी जो ॥१७७॥

प्रकति अघाती तेरम ठाणें,
तू सब भेद भाव परमाणें ।
असी करो मोसौं जिनराय,
नई नई नहि धारीं काय ॥१७८॥

तेरी निजदासा प्रभू ह्वैं कै,
आऊं तुंव पुरि जग जल दैकें ।
अठयासी के आधे देवा,
चउ चालीसा टारि विभेवा ॥१७९॥

मद मूढत्व अनायत नाजे,
संकादिक अर भय विसनाजे ।
पंच अतीचारा प्रभु टारे,
द्वीसी द्वे दू अधसारे ॥१८०॥

ए समकित के शत्रु जु पापा,
मोर्ते सकल निवारि सु आपा ।

अठचासी तैं तीन घटै जब,
प्रकति पच्चासी निवल महासब ॥१८१॥

त्रेसठि नासि जु केवल पावै,
पच्चासी तजि तो महि आवै ।

जीव समास अठचाणाव सेती,
छुटि करि सीझै प्रकति सुरेती ॥१८२॥

है अठचाणाव जीव समासा,
जग वासिनि के भेद निरासा ।

तू ही व्याप्त करै जिन स्वांमी,
सबकौ पालक अंतरजांमी ॥१८३॥

पंच जु थावर चउदह भेदा,
तिन मै चारि सु अष्ट विवेदा ।

पृथ्वी जल अर अग्नि जु वायू,
सूक्ष्म वादर अष्ट गिनायू ॥१८४॥

नित्येतर सूक्ष्म अर वादर,
द्वै प्रत्येक मिले षट थावर ।

अष्ट सुषट मिलि चउदश भेदा,
पूरण इतर अलब्ध जु वेदा ॥१८५॥

चउदह कौ तिगुणों जब करंही,
द्वै बीसी द्वै अधिके घरहीं ।

द्वै सुर द्वै नारक गनियैं,
पूरण इतर गनें चउ भनियैं ॥१८६॥

विकलत्रय पूरण अर इतरा,
 फूनि जु अलवध मिलें नव चितरा ।
 मनुज तगें नव भेद सुनीं अब,
 षट अर तीन मिले ह्वै नव सब ॥१८७॥
 श्रीग कुभांग भलेछ जु खंडा,
 पर्यापित ओ इतर जु मंडा ।
 अरिजखंड मांहि द्वै भेदा,
 गर्भज सन्मूर्छन जिन वेदा ॥१८८॥
 गर्भज होय सुदोष प्रकारा,
 पूरण इतर सही निरवारा ।
 सन्मूर्छन अलवधही होई,
 षट द्वै इक मिलि तव विधि सोई ॥१८९॥
 पंचेंद्री पसु हैं चउतीसा,
 तिनके भेद कहे जु जतीसा ।
 कर्मभूमि के समनां अमनां,
 गर्भज जलचर थलचर गगनां ॥१९०॥
 पर्यापित ओ इतर गनौ ए,
 द्वादश सूत्र प्रमाण मुनीं ए ।
 फूनि सन्मूर्छन समनां अमनां,
 जलचर थलचर नभचर गमनां ॥१९१॥
 पूरण इतर अनद्य मिलें जक,
 ह्वै दश आठ गिनै जु भेद सब ।
 भोगहु भोगभूमि के समनां,
 नभचर थलचर द्वै द्वै गमनां ॥१९२॥

अलवध गर्भज मैं ह्वे नांही,
जलचर नांही जु भोग घरांही ।
चार ठारा द्वे द्वे सब ए,
चउतीसा पसुहे हैं अब ए ॥१६३॥

वैयालीसा नव चौतीसा,
पच्चासी तिरयंच गतीसा ।
नव मनुजा द्वे मुर द्वे नारक,
इन सब भेदनि तैं तू फारक ॥१६४॥

अठ अधिका निवे तू भाषे,
सर्व समासा तू ही राखे ।
पच्चासी नव चउ जव मिलहीं,
द्वे कम इकशत जव सब रहहीं ॥१६५॥

ए अस थावर भेद सबैं ह्ये,
भये हींहिगें हैं जु अवैही ।
जिनचर तू सब की प्रतिपालक,
श्री भगवंत सकल दुख टालक ॥१६६॥

इन भेदनि तैं मोहि निकासै,
शुद्ध रूप कर प्रभु अविनासै ।
इनकी रक्षक करि हरि मीकों,
इनतैं रहित करहु तुभ ओकों ॥१६७॥

सोरठा

ठाग वारा क्यार ए, चउतीस जु भेद पशु ।
जी विकलत्रय धार, वैयालीस जु आवरा ॥१६८॥

नौ मनुजा हूँ देव, हूँ नारक ए ठगारावै ।
 इन में तेरी सेव, करहि तिके ही प्रलाध्य जी ॥१६६॥
 ए सब ही अति खेद, जगत निवासी अति दुखी ।
 जो जन हूँ निरवेद, खेद रहित हूँ शिव लहै ॥२००॥
 जीव रषिक जो साध, सो पावै जगदीस कौं ।
 करही जीव जु वाध, वह रुलिहै संसार मैं^१ ॥२०१॥

छंद बेंसरी

अष्टोत्तर शत हैं मणि काजै,
 माला के तुव गुण गणि काजै ।
 तिरण करि तोहि जपे जे जीवा,
 ते ताकौं पावैं जग पीवा ॥२०२॥
 पण तीसाक्षर षोडश अंका,
 षट अर पंचाक्षर चतुरंका ।
 द्वै अर इक अक्षर के नामा,
 तेरे जाप जपे सुख धामा ॥२०३॥
 अष्टोत्तर शत पाप निवारैं,
 तोहि भजैं ते आप उधारैं ।
 ते अष्टोत्तर अघ हैं कैसे,
 जीव बिषै कदम हैं जैसे ॥२०४॥
 संरंभो च समारंभो जी,
 आरंभो है अघ खंभोजी ।
 ए त्रय पापा मन बच कायै,
 नव भेदा हूँ गुरु समझायें ॥२०५॥

१ इसका नाम बेंसरी में दिया है ।

नव कौं कृत कारित अनुमति,
 करिति गुन करें सत्तबोस ठोक धरि ।
 चउ कषाय तैं गुणिये ते सब,
 अष्टोत्तर शत ह्वैं अघ ए तब ॥२०६॥
 ए सब पापा दूरि पुलावैं,
 जब गुण मणिका कोय फिरावैं ।
 अघहारी तूँ अमृतधारी,
 अमृत रूपो पतित उधारी ॥२०७॥
 हरिसौं अर अठतार जु मेरे,
 केवलदै बंदौ पद तेरे ।
 अष्ट तणों सौ अर अठताला,
 हमरे घातक टारि विशाला ॥२०८॥
 पंच शरीर गनें ए तेही,
 पंद्रह गनें अधिक दश एही ।
 टारि जु हमरे सौ अरठावन,
 अपनी वास देहु मन भावन ॥२०९॥
 वरप अढाईसं जब बीते,
 पारसनाथ पछें जु अतीते ।
 तब प्रगटे श्री जिनवर बीरा,
 बद्धमान अति गुणह मंभीरा ॥२१०॥
 तिन सब रीति वसी ही भाषी,
 जैसी तेवीसनि नैराखी ।
 चौबीसम अंतिम जिनस्वामी,
 सनमति नाथ जु अंतरजामी ॥२११॥

अर्क दिमांन जु योजन अठसै,
 मनुज लोकथी उपरि निवसै ।
 सति मंडल है अरु प्रसूरी,
 ससि सूरिज सब तोहि नमसी ॥२१२॥
 ससि अर अर्क जु तेरै बसि है,
 तू त्रिभुवन पति सब कौ समि है ।
 तारागृह नक्षत्रादिक जे,
 तेरे दास जु शक्रादिक जे ॥२१३॥
 योतिगकों इंद्र जु है चंदा,
 अर्क प्रतिदौ अह्नि करंदा ।
 सातसैकरे अर निबैगनि,
 योजनतारा मंडल जो फुनि ॥२१४॥
 मनुज लोक थी इह जु विचारा,
 नव सत योजन योतिष धारा ।
 योतिष कौ मंडल दससौ परि,
 योजन तारागण तें ऊपरि ॥२१५॥
 सर्व ज्योतिसी तेरे दासा,
 ज्योतिरूप तूं परम उदासा ।
 अष्टाधिक दश सत शुभलक्षण,
 तेरे कहियँ तू जु अलक्षण ॥२१६॥
 अष्टोत्तर शत लक्षण स्वामी,
 नवसै विजन जे अभिरामी ।
 ते सब धारहि तेरी वपु जो,
 तू परमात्म शिवपद पथजो ॥२१७॥

अयुत लक्ष कोट्यादिक गिनती

असंख गट्ट भासक तू सुजती ।

अमित अनंत असंख जु एका,

संख्या नाहि सुत्तू जु अनेका ॥२१८॥

उदधि असंख असंखि जु दीपा,

तिन को दीपक तू अखनीषा ।

अस्सी चउ अधिका लख जौनी,

मेरी मेदि जु पकरन मौनी ॥२१९॥

अगणित जीवा तें जु उधारे,

अगणित कर्मा तें जु पछारे ।

अहिकौ अहिपति की पद दीयो,

अग्नि जरत जिह नाम सुनीयो ॥२२०॥

अहि-पतनी पदमावति कीनी,

दोऊनैं अति भक्ति जु चीनी ।

अहितारे अजहं सुरकारे,

तोसी तू ही अमर अधारे ॥२२१॥

चारुदत्त दीयो तुव नामी,

अज पायो सुरलोक सुधामी ।

जीवक सेठ सुनायो मंत्रा,

नमोकार नामा शिवतत्रा ॥२२२॥

मरन सुन्यौ स्वानैं चितधारी,

अघतैं रहित भयो शुभकारी ।

अति पापात्म सार जु मेया,

तोतैं सुर पद सुख बहुलेया ॥२२३॥

अति असपरस जु चंडालादिक,

तो तें शिव पायो धरि भव इक ।

अरणि निवासी जे मुनिराया,

अवनी तज तें मुक्ति पठाया ॥२२४॥

अभयातम तू देव अभेवा,

अभय कुमार कियो जु अछेवा ।

अचितनाथ जु अर्चा तुम्हारी,

अर्चें ते न्य पावैं दमरी ॥२२५॥

अमरपुरी सुख भोगि बहुत जुग,

नर ह्वैं अमरण होंहि रहित रग ।

अष्ट जित्ती ध्वनि तुम्हरी जिनपति,

जे ध्यावैं निजि मनि तजि सब छति ॥२२६॥

ते निज निश्चय पाय स्वरसरति,

पहुचैं लोक शिखर तजि जगतति ।

अब्जोपमक्रम देव तुम्हारे,

अलि सम सुर नर मुनिवर कारे ॥२२७॥

तजि अभिमान जपें जे जस जन,

ते अवनीघर पावहि पद जिन ।

अनुचर होय जु सेवहि तोही,

त्यागि अहंकृत भाव विमोही ॥२२८॥

अनुचर तारक एक तुही है,

तू अपवर्ग जु दायक ही है ।

एक अनुभित भाव सु भू है,

तु जु अहंकृत रहित प्रभू है ॥२२९॥

अर्जन पांडव तैं जु उधारची,
द्रुपद सुता की सब दुख टारयो ।
धर्मपूत अर भीम उधारे,
नकुल सु सहदेवा निजकारे ॥२३०॥

अनिरुध कुमर प्रद्युम्न पूता,
पूत पिता तैं कीने पूता ।
अवधिनाथ तू अनवधि स्वामी,
अनरन भूप सूआरका नामी ॥२३१॥

अनरन रावसु रघुपति दादा,
तुव भजि भुक्त भयो तजि कादा ।
अतिबल खगपति महबल ताता,
तुव भजि सिद्ध भयो अति पाता ॥२३२॥

अपर अकंपन राव उधारा,
मेघेस्वर कीतूइक तारा ।
राव अकंपन कासीराया,
श्रीसुलोचना तात कहाया ॥२३३॥

मेघेस्वर हृथनापुर की पति,
पति सुलोचना कौ शिव सुखतति ।
नाथ वंस अर सोम जु बंसा,
तैं जु उधारे तू जु निरंशा ॥२३४॥

तव परसाद भये वै राजा,
तव परभाव किये निज काजा ।
अकंपति तू अर्क उधारा,
तू अर्केंद्र अर्क गण तारा ॥२३५॥

अकंकीर्ति कौ मुक्ति जु दीनी,
 अर भरतेस थकी भलकानी ।
 दिवा लेत जु भरथ उधारघौ,
 अग्रज चक्री पार उतारघो ॥२३६॥
 अग्रेश्वर तू सबकै आगै,
 सुर नर मुनिजन तुव पद लागै ।
 अग्रधान तू आप प्रधाना,
 सकल सुज्ञायक श्री भगवाना ॥२३७॥
 अ कहियै जग मैं हरिहर कौ,
 ते ध्यावै केवल पदचरकौ ।
 हरि नारायण हर जो रुद्रा,
 इनको भेद न जानहि क्षुद्रा ॥२३८॥
 हरि हर मुनिवर जिनकौ ध्यावै,
 जिन विनु जग जन जन्म गुमावै ।
 अन्य नारि सम मिथ्या परणति,
 जो मै धारी सठमति दुखतति ॥२३९॥
 सो मेही मेटी जग नाथा,
 निज परणति कौ देहु जु साथा ।
 पर परणति तैं मै दुख पायौ,
 आप विसारि सु जन्म समायौ ॥२४०॥
 अमित अपार जीव तैं तारे,
 ते मोषैं किम जाहि सम्हारे ।
 पै गुर की सुनि वांणी स्वामी,
 कैयक भाषे भाषौ नामी ॥२४१॥

* भावार्थ—हरि कहतां वासुदेव अथवा हरि कहता इंद्र अर हर कहतां रुद्र सो ए सारा केवल अवस्था मैं ध्यावै छै । [मूल प्रति की टीका]

अग्निभूति अर वायु जु भूति,
 सालिग्राम ग्राम मैं सोती ।
 पहिली मृनि सौं वाद ज कीनीं,
 पाछें तेरो धर्म जु चीनीं ॥२४२॥

ते दोऊ तें स्वर्ग पठाये,
 वनके अशुभ समस्त उठाये ।
 अग्निभूति तैं सप्तम भव मैं,
 कृष्ण पुत्र ह्वै आये तुव मैं ॥२४३॥

अग्निभूति कौ जीव जु मदनां,
 भयो प्रद्युम्न मदन जु कदनां ।
 वायुभूति भौ शंबु कुमारा,
 दोऊ तुव भजि उत्तरे पारा ॥२४४॥

अवर विप्र ह्वै ते द्वैं भैया,
 कौसांबी नगरी जु बसैया ।
 जेठी वन मैं अगनि जु भूती,
 लहुरी सठमति वायु जु भूति ॥२४५॥

पहले तोकीं तन मति ध्यायो,
 जिन मारग कौ गुण बहु गायो ।
 तातें तेरै जिवपुर आयौ,
 सूरमित्र गुर कौ मन भायो ॥२४६॥

दूजैं तोकीं ध्यायो नाही,
 भयो गुरद्रोही जग मांही ।
 कोढ़ी ह्वै मूवो सो पापी,
 भयो गदहरी अति संतापी ॥२४७॥

सूरी हूँ फुनि कुकरी हूँ,

महादुखी हूँ वह जन भूवो ।

भयो अंध चिडाली देहा,

जिन तूमसों कीनों नहि नेहा ॥२४८॥

हूँ चिडाली तुव गुन भायो,

अगनिभूति कीं सबद सुहायो ।

नागश्री नामा द्विज पुत्री,

भई धर्म रुचि अति हि पवित्री ॥२४९॥

सूरमित्र के सुनि जिन बैना,

तुम ध्याये त्रिभुवन पति जेना ।

तुम परसाद षोडशम सुर्गा,

तिन पायो प्रभु बहु सुख दुर्गा ॥२५०॥

फुनि सुकुमारी सेठ हूँ स्वांमी,

तुमकोँ ध्याय भयो बहु नामी ।

अति उपसर्ग जीति वह ध्यानी,

गयो जु सरवारथसिद्धि जानी ॥२५१॥

इक भव धरि वह तो मैं मिलिहूँ,

तेरो दास न जग मैं रुलि है ।

तेरे दास अनंतहु उधरे,

तोकोँ पाय बहुत जन उवरे ॥२५२॥

अमरपती है तेरी दासा,

इक भव धरि पावै शिव वासा ।

वसु विधि लौकांतिक सुर ऋषि जे,

इक भव धरि पावै ऋषि गति जे ॥२५३॥

अहमिद्वनि तूही धारेगौ,
नव पचानुत्तर तारंगी ।
अमरांगी जु शक्ती है देवा,
भव अंतरि पार्व भव छेवा ॥२५४॥

दाहिरा शक्रा लोक जु पाला,
तुव जपि पार्व पद जु विशाला ।
असन पांन खादिमनहि तेरे,
धुधा त्रिषा नहि तोहि जु घेरै ॥२५५॥

अस्त्रादिक अर भूषन कोई,
वस्त्रादिक तेरे नहि होई ।
अदन भक्ष को नाम जु कहिये,
तेरे असन वसन नहि चाहिये ॥२५६॥

अहमेवादिक तो मैं नांही,
तू जु अहंकृत रहित महांही ।
अहंकार अरमान न तेरे,
दूरि करौ लागे प्रभु मेरै ॥२५७॥

दोहा

अहंकार मय इह जगत, याको त्याग मुमोष ।
इह तुम्हरी उपदेश है, उत्तम गुणगण कोष ॥२५८॥

त्यागि अहंकृति जिन तुझै, ध्यायो दीन दयाल ।
तिनि पायो तू गुणमई, निर्गुण परम कृपाल ॥२५९॥

कुमर अशोक रु रोहणी, तेरे भक्त अनन्य ।
ते अशोक धरतैं कियै, अति सुखिया अति धन्य ॥२६०॥

अरजन पूत जु अधमनां, नाव अभिमनां जास ।
 सो तेरे परसाद तौ, पायो अमर विलास ॥२६१॥
 अकलंक को निकलंक द्वै, भाई जिनमत दास ।
 तिनकी तुम राखी कला, कियो बोधमत नास ॥२६२॥
 कुमर अभैरुचि अभमती, भाई बहन सुजान ।
 ते तुम कीनं आपुनै, धरे पंथ निरवान ॥२६३॥
 अद्भुत तोसी को नहीं, जग दातार जगैस ।
 मोहू दीजे मोख मग, मुनि विनती सुजिनेस ॥२६४॥
 तू अनादि अनिधन प्रभु, तू अविक्त अतिविक्त ।
 अहमिद्रनि कर अच्यं तू, तू अतिद्र जग तिक्त ॥२६५॥^{*}
 तू अमूर्त दर्शी प्रभू, अर अगश्च भवपार ।
 अतिगाहन तू गहन हर, मोहू पार उतार ॥२६६॥
 तू अलक्ष लखिया विभू, तू अगम्य गम को जु ।
 जे अगम्य गम काज ना, अव होलक तिन कौ जु ॥२६७॥
 जे अभक्ष भक्षक जना, तिनकी निदाकार ।
 जे अतत्त्व रोचक नरा, तिनकी नाहि उधार ॥२६८॥
 अहो अहिंस्य स्वरूप जी, परम अहिंसा कार ।
 सदा अहिसक देव जौ, करै सकल उपगार ॥२६९॥
 अहो रात्रि मुनिवर जपै, जाकीं ते निज रूप ।
 पावै अल्प जु काल में, वह मुनि पति जग भूष ॥२७०॥
 अह्नि विषै भोजन करै, पिवहि नरजनी नीर ।
 अहित विषै मैथुन तजै, तुव मत रत गृहि धीर ॥२७१॥

^{*} प्रति में २६६ संख्या नहीं है, पर हमने कमशः संख्या दी है । इसी कारण आगे २०० की संख्या में एक छंद कम रह गया है ।

अह्नि दिवस कौ नाम है, तू ही जिनवर अह्नि ।
कर्म काठ जाल न परो, जो इक दीसै बह्नि ॥२७२॥

छंद वेसरी

१ तत्त्व अनेहा अविहित स्वामी,
अचल अखंडित अखलित धामी ।
अगणित द्रव्य अरूपी जोई,
अचर अमूरति अमर जु होई ॥२७३॥

अतुल अदेशी एक प्रदेशी,
प्रचुरातम जड रूप अलेशी ।
अणु भरिताखिल लोक निवासी,
काल द्रव्य जो अकल अभासी ॥२७४॥

समवरती जो है जु असंखा,
वर्तन लक्षण अलख अकंखा ।
द्रव्य सुगुण पर्याय समूहा,
वह जु अनामी सर्व जु ब्रहा ॥२७५॥

काल चक्र २ परगति है ताकी,
पर्याय रूप कदापि न थाकी ।
तामैं ही भरमत हौं नाथा,
दीनानाथ गही मुक्त हाथा ॥२७६॥

१ अनेहा कहता काल [मूल प्रति की टीका]

२ व्यवहार परगति काल की समय घड़ी प्रहर दिन रात्रि इत्यादि छे अर निषर्च परगति षटगुणी हानि वृद्धि छे [मूल प्रति की टीका]

कालचक्र तैं मोहि उवारे,
अपनी वासदेहु गुण भारे ।
तो दिनु काल न किहिन जीते,
कालनाथ तू काल अतीते ॥२७७॥

१ अणु खंधा नहि तो मैं कोऊ,
चेतन तू जु अमूरति होऊ ॥२७८॥

अणु द्रव्यं खंधा पर्याया,
फरसादिक गुण बीस बताया ।
ते गुण मो तैं टारि जु स्वांमो,
निज गुण दैं व्यारचीं अभिरामी ॥२७९॥

केवलदर्शन केवलज्ञाना,
केवलवीरज सौख्य प्रधाना ।

२ इनहि आदि दैं अमित जुदै हौ,
अपनी करि अपुनै पुर लैंहो ॥२८०॥

अणु कालाणुं अर पुगलाणुं,
दुहुं कौ शायक तू जु प्रमाणुं ।

मितन शक्ति तैं रहित जु एका,
दूजो मिलत जु शक्ति अनेका ॥२८१॥

अमर नहि शिव तोतैं होवैं,
अमरासुर नर तुव मुख जोवैं ।

देव सकल कहिवे के अमरा,
अमर सही तू कवहुं न मरा ॥२८२॥

१ इस छन्द की संख्या का चरण १ पंक्ति का ही है ।

२ प्रति में पुनः संख्या १ से शुरू की गई है; पर हमने इन छन्दों की संख्या लगानार क्रमशः ही रखी है, जबकि कई स्थलों पर संख्या में ऐसा अक्षरोन्व पाया है गया । लगता है प्रतिलिपिकार ने पुनः इनको सुधारा नहीं है ।

अनत सु अधिकाधिक्य तुही जो,
 अनत सुदिन करते जसही जो ।
 अनत निशाकर जीत नियंता,
 अनत होकर रस्मि जयंता ॥२८३॥
 अतत विवजित ईश अकेला,
 असुधि वितजित धीश अकेला ।
 वस्तु अशुद्ध न तों मैं पड़ए,
 केवल शुद्ध रूप तू गइए ॥२८४॥
 नांहि अनात्म भाव जु तोमैं,
 हरहु अनात्म भाव जु मोमैं ।
 तो विनु आत्म भाव न लहिये,
 तजें अनात्म तोहि जु रहिये ॥२८५॥
 अस्ति करंता अस्ति धरंता,
 तू अस्तित्व स्वरूप अनंता ।
 तू अनाप्त भावनि तैं न्यारा,
 तोहि अनाप्त न पावहि प्यारा ॥२८६॥
 अस्ति जु काय पंच हैं स्वामी,
 तिनकी भासक तू जु अनामी ॥
 अस्ति निरुपा अस्ति अधारा,
 अस्तिर नास्ति स्वरूप अपारा ॥२८७॥
 अस्ति नास्तिकौ प्रगट जु ईशा,
 अस्ति नास्ति धर है जगदीशा ।
 अमित प्रवेशी गुण जु अनंता,
 गुण पर्याय स्वभाव धरंता ॥२८८॥

अखिल प्रदेशी सिद्धि स्वरूपा,
 अतिसय शूल असाध्य अनूपा ।
 तू अप्राकृत देह जु स्वांमी,
 तू जु अवाध्य अराध्य अरांमी ॥२८६॥
 तू जु अभक्त सुभक्त न काकौ,
 तू सु प्रभु तारक भगता कौ ।
 तू जु अनाकृति आकृति रहिता,
 अकृत ^१ अकृति बोध जु सहिता ॥२८७॥
 तू जु अरुंधा अचर अचंपा,
 बोहथ भवकी तू जु अभंषा ।
 अखिलातम अकुलातम स्वामी,
 अकलातम अमलातम नांमी ॥२८८॥
 अचलातम अजडातम भूषा,
 अमितातम अमितीस अनूपा ।
 अगती ^२ गती दायक तू ईशा,
 असित भाव वर्जित जगदीसा ॥२८९॥
 अन्न औषधी शास्त्र जु अभया,
 ए चउ दान कहै तू विभया ।
 अन्न पान निरदूषण लैकै,
 तोहि जु ध्यावै निज मन दैकै ॥२९०॥
 ते संता पावे तत तेरा,
 तू निरदूषण भूषण मेरा ।
 अन्न वीण अर जलहि जु छाराण,
 इह तेरी मत है जु प्रवाराण ॥२९१॥

१ अकर्तृम छै १ अकपट छै १ [मूल टीका]

२ अगति गति मोक्ष कौ नाम छै जहां सी केरि गति नहीं ।

अन्न जला विनु और जिकेही,
जिह्वा स्वाद जु होइ तिकेही ।
ते नही स्वादें तेरे भक्ता,
अन्न वारि ले तो महि रक्ता ॥२६५॥
अणु भोजन ले तोहि जु ध्यावैं,
सर्व स्वाद जै दूरि वहांवैं ।
ते निज स्वाद लहैं निज भक्ता,
जिन रस चाखि जु विषय विरक्ता ॥२६६॥

छंद पाधरी

अरिविद चक्षु अरिविद पाय,
अरिविद हस्त अति रंघ काय ।
अरिविद वदन जगजीत देव,
मधुकर मुनि सुर नर असुर भेव ॥२६७॥
अतिनंदानंद अनंद देव,
अति अकथ अपूरव असम टेव ।
अतिनाथ जु देव अनंत नाम,
अतिसाथ जु एक अनंत धाम ॥२६८॥
अतिहाथ अछेव अवेव वेव,
अगुमति अमती किम योज सेव ।
अतिहित जु अनंत अनंत ज्ञान,
अतिमित जु अनंतानंत मान ॥२६९॥ X

X ६०० पद्य पूर्ण होने में हमारे क्रम में १ संख्या कम पड़ती है । वह पद्य संख्या मूल प्रति में २६६ सं. वाली नहीं है । इस प्रकार हमने अपने क्रम में अवगोच नहीं किया है ।

अति अतुल अनंतानंत रूप,
 अति अमल अलिप्त जु लोक भूप ।
 मति श्रुति अवधी अर तुरिय ज्ञान,
 धारी भुनिहू नहि सकहि गान ॥३००॥
 अनुमति की कौन जु वात देव,
 इक नांम अधार जु देव देव ।
 इह विनति जु धारहु दीनबंधु,
 लेहो निज पुरि अर हरहु बंध ॥३०१॥

छंद भुजंग प्रयात

अनंतद्धि सिद्धि तुही देव देवा,
 अचितद्धि वृद्धि तुही नंत भेवा ।
 अमेयद्धि पूरं असंख्येय स्वामी,
 अनंदित्व भाव तुही सर्वजांमी ॥३०२॥
 सर्वस्य अग्रो तुही अग्रनाथा,
 तुही अग्रिमो अग्रजाता असाथा ।
 तुही अग्र अग्रेस्वरो ईशराया,
 तुही परम तत्त्वं अरूपी अकाया ॥३०३॥
 अलेषो अभेषो अलेशो अशेशो,
 अहेयो अमेयो अदेहो अदेसी ।
 अडंको अटंको अनंको अबंको,
 असंको अरंको अकंपो अपंको ॥३०४॥
 अगाधो अबाधो अनंगो अमंगो,
 अनामो अकामो अरंगो असंगो ।
 अपापो अपुन्यो अनेको अछेपो,
 अनाथो अजोगो अभोगो अलेपो ॥३०५॥

अरोगो असोगो अगंधो अवंधो,
 अमोघो अचित्त्यो अकोपो अनंद्यो ।
 अदीनो ^१ अनीनो अच्छीनो अहीनो,
 अरीसो अनीशो अलीनो निलीनो ॥३०६॥

अलिगो अवंधो अमोहो अदोही,
 अधीशो अतीशो अच्छोहो अकोहो ।
 अखंडो अडंडो अफंदो अछंदो,
 अरुढो अमूढो अनंदो अमंदो ॥३०७॥

अनादी अनंतो अवेदो अभेदो,
 अबादी असंतो अरामो अखेदो ।
 अदोषो असोषो विमोषो अकोषो,
 अतोषो जु तोषो अरोषो अघोषो ॥३०८॥

सोरठा

तू जु अफरसो देव, अरसो अरजो विरज तू ।
 तू जु अद्वंद अछेव, अतिलीनो अतिधम्म तू ॥३०९॥

छप्पय छंद

अतिरामो अभिराम तू जु अतिदान अनंता ।
 अतिधामो अतिशुद्ध तु जु अतिबुद्ध प्रसंता ॥
 अतिशांतो अतिनाम तू जु अतिगूढ सुख्खा ।
 अतिरुढो अवदात तू जु अतिरंग अगूढा ॥
 अत्युदार अनगार तू अत्युधार जगदेव है ।
 अत्युदात अतिचंग तू जु अनंत अछेव है ॥३१०॥

१ अनीनो कहतां जिह्को कोइ धनी नहीं, आप ही धनी छै ।

अतितातो अतित्रात तू जु अतिवीर प्रवीरा ।
 अतिपातो अतिसार तू जु अतिचार अनीरा ॥
 अतिधीरो अतिमित्र तू जु अतिस्वामि अनादी ।
 अतिरूपो अतिभूष तू जु अतिपूत अवादी ॥
 अधिकारी अतिरम्य तू अति सु पुन्य अवधूत है ।
 अभिचारो अतिशूर तू अति चूर जु अतिभूत है ॥३११॥

अतिपति तू अति ऊँच तू जु अतिसौच अनंदा ।
 अतिपूरण अतिबुद्धि तू जु अतिदूर अफंदा ॥
 तू अमरामर देव ज्योति मय तेरो रूपा ।
 सर्वज्योति जितदेव तू जु अतिछति जिनभूपा ॥
 तो सौ तू ही देव है और न देव कदापि को ।
 तू पूरण परमात्मा भगवानो जु उदापि को ॥३१२॥

तू जु अहिंसा शक्त त्यक्त अदया सब तूही ।
 तू अनृत परिहार करण सब गुण जु समूही ॥
 सब परि तू जु दयाल नाहि कर मनि परि जैनां ।
 अमृत तुल्य महान नाथ तुव अदभुत वैनां ॥
 अदत प्रत्यक्त जु तू सही अग्रह्य तित्त सुग्रह्य तू ।
 अबध अदाध अकिचनो परमेश्वर पर ग्रह्य तू ॥३१३॥

अपरद्रव्य को त्याग वस्तु तैं तेरे स्वांभी ।
 अनृतमाया जाल तासुं को लेशन कांभी ॥
 अमला कमला पासि पासि रूपा नहि कमला ।
 बहिरंगा ने दूर तू जु अंतर लट्ठि विमला ॥
 तू श्री व्यक्त अभीत है, अलभ अभाव अगृद्धि तू ।
 अबध निरूपो गुण मई, ऋद्धि वृद्धि धर सिद्धि तू ॥३१४॥

तू जु अरोर अरोग तू जु श्रीयुक्त अनंता ।
 तू श्रीवान जिनेस रहित अबला अरहंता ॥

अनुभूती जो लछि ओर को लछि जु नाही ।
तू अनुभूति स्वरूप वह जु तोही के मांही ।
अतरूपो समधार तू अक्रिय भाव वितीत है ।
क्रिया रहित तू अक्रियी कूटस्था जगजीत है ॥३१५॥

तू अघ छेदक देव तू जु है अतत विहंडी ।
असत विहंडक तू जु पूज अभिनंद अखंडी ॥
अति ब्रह्मेश्वर ईश धीश तू है जु अरूपी ।
परगट रूप दयाल एक तू ही जु अनूपी ॥
अति यतिभूपो अतिशयी अतिशय रूप अनूप है ।
अतिगति रूपो अतिधृती अतिचंद्र जु अतिभूष है ॥३१६॥

अरति वितीते तू जु पूज भू अनय वितीता ।
तू जु अपुण्य बितोत पुण्य पापनि तैं बीता ॥
रहित अनीति मुनीति तत्त्वनि नीत जु तूही ।
तू अपराध वितीत जीत तू कर्म समूही ॥
सदा जु अरीति अनीति ते अधरम ते न्यारी तू ही ।
तू जु अनाशामय जित्ती अमतविजीत कहै सही ॥३१७॥

अमति कुमति नहि संगि, संगि तेरें निज बोधा ।
अगति उधारक देव तू जु निजरत अति सोधा ॥
अतिक्रम वितिक्रम नाहि नाहि तेरें अति चारा ।
अगाचार को लेश नाहि तेरें जु लगाया ॥
तू अति चाह मनोज है अनुचरमण तेरें नही ।
अनुक्रम कम नहि पाइए, नाहि अनारज तो मही ॥३१८॥

अशुभ वितीतसु तू जु पूज तू असुधि विजीता ।
मोहतणी जु अनीक एक तैं ही सब जीता ॥
तेरें नाहि अनीकनंत गुण ते जु अनीका ।
नीका ते जु दयाल नाहि को तिन समनीका ॥

कहैं अनीक जु फोज की नीक अनीक जु गरानिकी ।
तू अनीकधर गुणमई आशा पूरहि मुनिनि की ॥३१६॥

सप्त अनीक जु धार इंद्र है तेरो दासा ।
पट् सेनाधर चक्रिदास की होय जु दासा ॥
अवर सकल नृप चारि धारंही सेना स्वामी ।
तू सबको पति ईश एक बड भूप अनामी ॥
तो समसेना तो कनै, अवर ठोर दीखै नहीं ।
तू अनीकपति एकलौ अमित अनीक जु तोमहीं ॥३२०॥

तू जु अलीक न होय तोहि नहि लहहि अलीका ।
अत्रत त्यक्त दयाल तू जु है नाथ सुनीका ॥
अतिशयवंत अनंत तू जु जिन अति मुनिनाथ ।
अनुन्नित कीत अभीत एक तू अमित जु साथी ॥
अतिरित भूपो अतिअती अतिविरतो अवनीप तू ।
अकरम देव अतिहितू एक एव जगदीप तू ॥३२१॥

अतिसय सागरनाथ सकल अन्वाय अतीता ।
तू जु अमंजि अमंज मंजमय तू जु अजीता ॥
नाहि अमात्य^१ जु कोह होय तेरे दरबारा ।
दुर्गकोट को नाहि आप दीर्घ इक भारा ॥
तो सौ रावल तू सही अजड अकर चिनमय प्रभू ।
एक रावली रावरी और नाहि रावलक भू ॥३२२॥

अभिजित जतिपति तू जु पूज अति नगन स्वरूपा ।
अतिशम्भतिम देव तू जु अतिशय बडभूपा ॥
अतिशय तंत्र जु एक अवर नहि तो बिनु अतिशय ।
तू अतिभूति विशालनाथ तू रहित सकल भय ॥

१ अमात्य कहता परधान । मूल प्रति की टीका ।

अविहित मिथ्यामत सबे विहित शिवात्म सार तू ।
जिन आगम भासक बिभो अस्ति नास्ति नयधार तू ॥३२३॥

तू अतिभूमि क्षमा जु क्षांतिधर एक तुही जो ।
तू अप तुल्य^१ दयाल पापमल नाशक ही जो ॥
तपति हरण अति अमल जीव सम तू जग जीवन ।
अनल^२ समो भगवान दहन कर कर्म महावन ॥
अनिल^३ समो विनु संग तू महावली हुत भुज सखा ।
वात बलय आधार जो लोक सकल दायक सुखा ॥३२४॥

तू अभतुल्य^४ अलिप्त तू जु अभमान अमानो ।
नभ है तेरे मांहि तू जु नभ मांहि वषांतो ॥
अनुपम मानो तू जु पूज तू अचलपती जित ।
अकल समानो नाथ अकुल सम तू जु जगत हित ॥
नांहिकिसी सी पूज तू, अखिल सरीसौ हे प्रभू ।
ज्ञेयाकार अनंत जो जान भाव तेरे विभू ॥३२५॥

अर्कसमो अतिभास मोह तिमर जु कौ हंता ।
ममता रजनी मेदि बोध दिवस सु प्रगटता ॥
भव्य कमल प्रतिफल करण जो पथ चलाव ।
विषे विनोद मिटाय नादि सूते जु जगावै ॥
जीव जु चकवो मति प्रिया विषम विरह तिनकी हरै ।
अभवि उलूका नहि लखै, अर्क अमित छुति तू धरै ॥३२६॥

अति जु अनंत प्रताप ताप नहि तेरे सबही ।
मिथ्या भवजु राहु तोहि बेठे नहि कवही ॥

-
- १ जल तुल्य निर्मल शीतल छै । १ अप कहजे जीव कहजे जल का नाम छै
२ अनल अग्नि की नाम छै । [मूल प्रति की टीका]
३ अनिल पौन की नाम छै । "
४ अभ कहता आकाश । "

वाकौ नांव जु भित्र तू जु है साचौ मित्रा ।
 अकं नही तो तुल्य तू जु अति रश्मि विचित्रा ॥
 अह्नि करण अवगम मई, अहो अहोकर अरुण तू ।
 अजह भाव कर देव है, सेत न स्याम न अरुण तू ॥३२७॥

असु प्राणनि कौ नाम तू जु^१ असुभृत् गणनाथा ।
 अतुल प्रमाण जु ईश, असम सम तू जु अनाथा ॥
 अगणित चंदर सूर नाहि नख द्युति सम तेरे ।
 अममानो अभिमान तू जु हरि साहिव मेरे ॥
 अवधिन अबिधिन तो विषै, अतिविधि मूल जु तू जिना ।
 अतिगति ध्यान निदान तू, अतुलित शमकर तू दिना ॥३२८॥

सोरठा

अति अविगति तू देव, गति गति कौ ज्ञायक प्रभू ।
 मुखदायक है सेव, अन्य न चाहै अनत प्रभू ॥३२९॥

छप्पय

जो जु अविद्या कंद तासु कौ है जु निकंदा ।
 अन्पम काय सु तू जु पूजि तू अखिल अनंदा ॥
 अति सुगम कहै तू जु देव तू अभय बिहारी ।
 अभख भषक जे जीव तोहि पावैं न उधारी ॥
 अगम गमक जे पापिया तोहि न पामै नाथ जी ।
 अगम गमक फुनि जोगिया तजहि न तेरौ साथ जी ॥३३०॥

१ असुभृत् कहतां प्राणी जीव त्यांका गण समूह त्यांकी नाथ छै ।

तू अविज्ञेय अद्वेय नाहि परमादसु तो मैं ।
 तू अप्रमत्त जिनिद नित्य निवसैं प्रभु मोमें ॥
 मैं परमादी मूढ़ नाहि लखीयो पद तेरी ।
 अविषय अतिशय रूप तू जु हरि तिमिर जु मेरी ॥
 जा करि तोहि लखों प्रभू, वहै दृष्टि दै साइयां ।
 नाम अपार जु जासु के सो तू जगत गुंसाइयां ॥३३१॥

अतिठामो अतिआम तू जु अतिधाम अनामा ।
 अतिहित मंत सु संत नाहि तेरै धन धामा ॥
 अस्वादिक अतुरंग सेन ताज सोहि नृपाजै ।
 ध्यावैं तन मन लाय होहि प्रभु पति विटपाजे ॥
 अष्टम धर लहि सामती सिद्ध भाव पांवहि तिके ।
 सर्व त्याग तोहि जु भजैं, ह्वै तो सम जिन बन जिके ॥३३२॥

तू जू अगोचर नाथ एक गोचर केवल मैं ।
 तू जू अनालस भाव नित्य निवसैं देवल मैं ॥
 अलंकार नहि कोय होय तेरै न अभूषन ।
 भूषन व्यास न कोय नाहि को वसन न दूषन ॥
 तू देवलमें सिद्धलोक मैं है सही ।
 घटि घटि अंतर साइयां वसै अनाशक्तो तुही ॥३३३॥

सोरठा

अज्ञानवदिक भाव नाहि जुतु तो मैं पाइए ।
 ज्ञानमूल जगराव, तू अनंत भाव जु धरें ॥३३४॥
 तू जू अदर्शन नाहि, सदा सुदर्शन है प्रभू ।
 दर्शन तेरे मांहि, केवल एक अनंत धी ॥३३५॥

छंद वेसरी

अति तू भूषण अति निरदूषण,
 अतिहि तृप्त प्रभु प्यास न भूषण ।
 अति नीरै प्रभु मानहु दूरन,
 अति जड चरन अति सूख पूरन ॥३३६॥

+ अति जग पारग अति शिव मारग,
 अति सु उधारक धर जिन मारग* ॥३३७॥

अति भू मोचक अतिगुण रोचक,
 अति दुखरोधक अतनु असोचक ।
 अति भू दायक, अतिगुण लायक,
 अतिमुनि नाथक अतिरस भायक ॥३३८॥

अतिश्रम क्षमकर अतियम यमघर,
 अतिशम दमकर अतिजप तपघर ।
 अति भू क्षमपर अति यतनाकर,
 अति × उपरमकर अति समताघर ॥३३९॥

अति भू पोषक अतनु विसोषक,
 अतिजन मोषक अतिहित घोषक ।

अवगुण टारक समकित कारक,
 अतनु प्रभारक अमन प्रचारक ॥३४०॥

अतिनर अतिभर अतिकर,
 अतिवर अतिपर अतिचर अतितर ।

अतिचिर अतिथिर अतिगिर, अतिगुर,
 अतिधर अतिहर अतिहरि जितवर ॥३४१॥

+ शिव मारग कहतां-मोक्ष मारग, कल्याण मारग, [भूल प्रति की टीका]

* यह पद्य दो पक्तियों का है । × उपरम कहतां वैराग्य ।

अतिमुख सागर अतिगुण आगर,
 अतिनर नागर अतिजग जागर ।
 अति सु उजागर प्रभुरतनाकर,
 सुर नर चाकर तू जिन ठाकुर ॥३४२॥
 अतिभव ज्ञायक अनुभव दायक,
 अतियुग चायक अतिसुर पायक ।
 अतिभव नाशक अभय प्रकाशक,
 अतिगति भासक अभव बिकासक ॥३४३॥
 अतिमुनि कारक अतिमुनि तारक,
 अतिमृनि धारक अतिमुनि पारक ।
 अति आर्याकर अति श्रावकधर,
 अति समकित धर समकित धरकर ॥३४४॥
 अतिभव भयहर अतिशिव सुखकर,
 अति परमेश्वर अति भूतेश्वर ।
 अति मुग हर गति अति जु त्रिजगपति,
 अतिछति अतिजति अतिमिति अतिगति ॥३४५॥

सोरठा

तू अनुकूल सदैव, प्रतिकूलो नहि क्वापि ।
 दुजे ह्वै तोसीं देव, अनुकूला ते भव तिरें ॥३४६॥
 अवग्रह ईहा आदि, भेद जिके मतिज्ञान के ।
 तू भावै जु अनादि, तीन सतक अर तोस छह ॥३४७॥
 अमन अतिद्वी तू जु, इंद्री और अनिद्रिया ।
 तो सहि नाही पूज, नाम अनिद्री मन तराँ ॥३४८॥

अजर अजन्मा देव, तू जु अकर्म राजई ।
 दै भव भव निज सेव, तू सु अभर्मा है प्रभु ॥३४९॥
 तू जु अकर्म देव कर्म ठौर तेरे नही ।
 तू सब मर्म सुवेव, तू जु अचर्मा चर्म विनु ॥३५०॥
 तू जु अशर्मा नाथ, अम खेद जू तौ मैं नही ।
 अमहर सुख तुव साथ, तू जु अवर्मा वर्म विनु ॥३५१॥
 वर्म जु वगतर नाम, मर्म विना वगतर कैसे ।
 तेरे आवै काम, तू जु स्वशर्मा राम है ॥३५२॥
 सबको रक्षक नाथ, ताते सबको वर्म तू ।
 मरमी तू बड़हाथ, मर्म न छेदै कोय को ॥३५३॥

सवैया तेईसा

तू जु अमातृ अपितृक देव सदा जु अपुत्रक है जु अलौकिक ।
 तू जु अबंधु अवंधननाथ अबाधक एक महाजु अचीकिक ॥
 तू जु असाधक साध्य स्वरूप अदंभिक ईश जिनेश अरौपिक ।
 तू जु अराधक तार अराध्य अनंध अखंध असंध अगौपिक ॥३५४॥
 तू जु अबंधक अदंक नाहि, अनिदित नंदित है जु अरंजित ।
 तू जु अनिगित इंगित नाहि, अनंकित नाथ सदाजु अनंजित ॥
 तू जु असंकित है जु अवंकित, देव अलंकित नित्य अगंजित ।
 तू जु अचंभिक है जु अमंदित, ईस अखंडित सर्व अचंजित ॥३५५॥
 तू जु अनिदक पूज अवंदक, नित्य अफंदक है जु अबंदक ।
 तू जु अखंडक बोध अमंदक, पाप निकंदक है जु अछंदक ॥
 तू जु अहंडक है जु अदंडक नाथ अछंडक नित्य अकंडक ।
 पुंस न नारि सुरो नवि मानव, ढोर न नारक तू जु अषंडक ॥३५६॥

तू जु अडंकित है जु अचंपित देव अभंपित नित्य अजंपित ।
 तू जु अदंडित है जु अकिंचित नाथ अचंचित बोध विज्जंभित ॥
 तू जु अकंपित है जु असंखित ईश अविंचित राय अकंपित ।
 तू जु अभैवृत स्वामि अखैहित एक अजंवित धीश निशंकित ॥३५७॥

तू जु अलुटक तात अबंचक है जु अभंडक नित्य अभंजक ।
 देव अचितक ईश अनंतक नाथ अरंजक भूप अषंडक ॥
 पूज अभंजित स्वामि असंगित है जु महांधिप एक असंधक ।
 संघ उधारक आप अकारक पार उतारक सूत्र अलंधक ॥३५८॥

दोष अमंडित है गुण मंजित नित्य असंचित ईश अरंजन ।
 नाथ अटंकित तात अरंगित स्वामि अजंजित आप निरंजन ॥
 नांहि विकार विभाव जु जामहि एक अनेक स्वरूप अकिंचन ।
 नांहि नाशे कछु नाश अनूषम है न अडैत स्वभा ॥ अरंजन ॥३५९॥

छंद अरिल्ल

लप्पो जाय नहि नाथ, तू जु अलपित सही ।
 अलप बहुत नहि तू जु तू जु दै है वही ॥
 अत्युज्जल तू देव, अभिधामी है विभी ।
 अत्युत्कर जगदीस, अतीयमी है प्रभो ॥३६०॥

अतितेजस अतिसीत अतिदमी अतिगुरु ।
 अति ठाकुर अतिजीत, अतिसमी अति धुरु ॥
 अतिसाहिव अधिकार, उपरमी तू सही ।
 अति सागर विधि रूप, अति जती है तुही ॥३६१॥

अतिलायक अणगार, अणगारौ तू नही ।
 तुही आगरी देव, गुणनिकी है सही ॥
 अतिनागर निज रूप, गुणागर सांईयां ।
 अतिजोगी जगजीत, अलेष मुसांइयां ॥३६२॥

अति जागर तू देव, उजागर ज्ञान को ।
 सोवै नाहि कदापि प्रभू है ध्यान को ॥
 अटल भाव धर एक अचल भाव जु सदा ।
 अमल भाव जगदीस, मलिन नाही कदा ॥३६३॥
 तू जु अनंग विभाव, टार कोई सहै ।
 तु जु असंग स्वभाव सुधारक धीश है ॥
 तू जु अचिन्त्य एभाव एभू है सासना ।
 तू जु अहिस स्वरूप नाहि को नासिता ॥३६४॥
 तू जु अशुद्ध विभाव नाशनो ईश है ।
 सदा अभेद स्वभाव भासनो धीस है ।
 नाहि अभव्य स्वभाव, भव्य भाव जु नही ।
 तू शुद्धत स्वभाव परिणामिक सही ॥३६५॥

चौपई

तू हि अलंघि भाव भूषो जु, तू हि अपावन जन दूषो जु ।
 तू जु अमूरत भाव सुपषो, तू जु अधूरत भावा सषो ॥३६६॥
 तू जु अगोध भाव दंडोजु, तू जु अनित्य भाव धंडोजु ।
 तू अजडत्व विकासी देव, तू अचलत्व प्रकास अभेद ॥३६७॥
 तू जु अचिन्त्य भाव करि भरो, तू जु अलक्ष भाव हैं वरो ।
 तू जु अलोक भाव को जान, तू अवलोकन कर गुणवान ॥३६८॥
 अखिल भाव भावक तू नाथ लोकाकास प्रमाण अनाथ ।
 तू जु अमोहत्वादि प्रधान, अस्तित्वादिक गुणह निधान ॥३६९॥
 तू जु अलोभत्वादि अक्षर, तू जु अवमगति तारनहार ।
 तू जु अधोगति हारी हरो, तू अरिचक्र विदारी अरो ॥३७०॥
 तू जु अशुभ गणहारक ईश, तू जु अशील हीलक धीश ।
 तू अदयत्व विधाटक देव, अकर रोग वज्रित अतिभेद ॥३७१॥
 अखिल भोग डारक जोगीस, अखिल जोग टारक भोगीस ।
 मन वच काय तएँ जे जोग, तिन तैं रहित अमित सुख भोग ॥३७२॥

अखिल व्रत उपदेशक गुरो, अणुव्रत उपदेशकहू धुरो ।
 अखिल भूति दर्शक भगवानं, निखिल भूतित्यागिक धनवानं ॥३७३॥
 अतुल भाव फरसी मुनि भेस, अचल भाव दरसी जगनेश ।
 अमल भाव सरसीरुह सूर, सदा जु अविचल भाव सुपूर ॥३७४॥
 अटल सु देवो अमल जु काय, अकल स्वज्योती अतुल जु राय ।
 अजड स्वरूपी विमल प्रभाव, अकर अकारक अकरण राव ॥३७५॥
 अकरम और असंपर दान, परदर विनु कौले सनमान ।
 तू निज अपादान जगदीस, अधिकरणो भगवत अधीश ॥३७६॥
 पर षट्कारक ती मैं नाहि, निज षट्कारक तेरे माहि ।
 तू कर्त्ता कर्म्मो निज क्रिया, संप्रदान तू है विनु त्रिया ॥३७७॥
 तू निज शक्ति अपादानो जु, तू आधारो अधिकरणो जु ।
 अकरदाय तू अपर जु नाथ, अमलनाथ तू श्री जगनाथ ॥३७८॥
 अमर छाये तू नहि मुरभाय, अमित छाये तू है जु अछाय ।
 अमर व्येय तू अमित प्रभाव, असमकाय तू रहित विभाव ॥३७९॥
 अतुल देव देविनि के देव, तेरी तुलना कोई न देव ।
 अखिल भाय तू अनत जु नाथ, जगत राय तू मुनिगण साथ ॥३८०॥
 अखिल मात तू अखिल जु आत, अखिल तात जू अखिल जु पात ।
 असम धीर तू अखिल जु गात, तू जु अरूपी देव अजात ॥३८१॥

छंद लोटक

तू ही जु अनुद्धत देव अरं,
 तू हि जु अनुज्झित भावचिरं ।
 तू ही अनया सो ईश परं,
 तू ही अद्वितीयो धीरधुरं ॥३८२॥
 तू ही सु अनाकाशो जु वरं,
 तू ही जु अवैर करो विचर ।

तू ही जु अनावासो विहरं,
 आवाम विलोतो नाथ पुरं ॥३८३॥
 तू ही जु अनुत्कण्ठो विधरं,
 तू ही जु अनाभासो अजरं ।
 ईशो जु अनाविल है अपरं
 धीशो जु अनाद्रित है अकरं ॥३८४॥
 देवो जु अनाकुल भाव धिरं,
 कर्ममय भैषज रूपसुरं ।
 नाथो जु अनाशक्तात्म गुरं,
 पूज्यो सु अनातम विभावहरं ॥३८५॥
 तू ही जु अवाधित सूत्रकरं,
 तू ही जु असाधितसाध्यतरं ।
 तू ही जु अनुद्वेगो अजुरं,
 तू ही जु अनौपम्यो अदुरं ॥३८६॥
 अक्षय गुणरासी पति नगरं,
 अत्ययनासो जिनपति सुगरं ।
 तेरी अवधारण योजगिरा,
 तू ही जु अपूरव रूप धिरा ॥
 सर्वे जु अगोचर भाव जिके,
 तू ही गोचर कर नाथ तिके ॥३८७॥
 पावै जु अनालस साध तुमं,
 गाँवै जु अनागस संव तुमं ।
 तू ही जु अदूषित देवप्रभू,
 तू ही जु अशोभित लोकविभू ॥
 तू ही अतिभारी धीश जिना,
 तू ही अतिभारी ईश दिना ।
 तू ही अतिभारी मान जयो,
 तू ही जु अचूको ज्ञान मयो ॥३८८॥
 तू ही जु अविभचारी सुमुनी,
 तू ही अधिचारी नाथ दुनी ।
 स्वामी जु अभूलो एक तुही,
 भूलो सब जग जन औठ सही ॥३८९॥

छंद त्रिभंगी

जव लगि अतिद्विय बोध निरिद्विय,

इंद्रिय निद्रिय रहित जिना ।

जीवो नहि पावत तोहि सुतावत,

अखिलन पावत रूप दिना ॥

तू ही जु अवाच्यो मुनिहि जु जाच्यो,

कितहु न राच्यो सर्वगुरु ।

तू अखिल सुवाच्यो नाथ अजाच्यो,

निजरस राच्यो देवधुरु ॥३६१॥

जो साधु अतंद्रा बसहिजु कंद्रा,

मत जिनचंद्रा दिदुधु धरें ।

ते जपहि जु तोही,

ह्वै निरमोही छांडि सवोही ध्यान करें ॥

तू है अनुभूती रूप विभूती,

नाहि प्रसूती कबि धरें ।

अतिरिक्त विभावो शुद्ध स्वभावो,

अमित प्रभावो कालहरे ॥३६२॥

तू है अकलंक को ईशचिदं,

को नित्य अपंको देवहरी ।

तू असमजु नाथो है अति साथो,

अति बडहाथो रहित अरो ॥

तू ही अपरा पर है जु मुधाहर,

पूज सुधाकर लोकपती ।

अभुजी अतिपात्रो है अति छात्रो,

ज्ञानहि मात्रो शुद्ध जतो ॥३६३॥

तू अति भूतेस्वर है जु महेश्वर,

देव जिनेश्वर अतुल मुणो ।

तू अनत विधानो नाथ जगानो,

अतिगति दानो तत्व मुणो ॥

तू ही जु अरूपी अनत जु रूपी,

परम अनूपी बौधकरो ।

तू पात्र जु रहितो पात्र विमहितो,

निजरस सहितो कर्महरो ॥३६४॥

तू है अतिचारी जिन अविचारी,

अतिगति भारी धर्मपरो ।

है जू अदिलीनो नाथ अदीनो,

नाहि अधीनो सिद्ध करो ॥

देवो अति चेता मुक्ति सुनेता,

है जु प्रणेता चित्तहरो ।

अति ही मदहारी साधु सुधारी,

अमृतधारी मृत्यु हरो ॥३६५॥

तू अति शम धारी अगरबतारी,

अति भवहारी शिव जु बरो ।

तू है अतिपारी अति अविकारी,

भव्य उधारी जिन विधरो ॥

तू अतिरित माया अतिरित काया,

अतिरित जाया क्षेत्र धरो ।

तू है अतिक्षेत्री सर्व सुवेत्री,

मोह विजेत्री जगत गुरो ॥३६६॥

तू प्रभु अवधूती अतिहि जु पूतो,

है अभूतो भूत महा ।

तू है अतिकामो पुनि जु अकामो,
 राम विरामो नाम लहा ॥
 अतिकर्म जु नाशा अति जु अनाशा,
 रहित जु आमा संतधरो ।
 जीवनि कौ पालक दोष जु टालक,
 काम पहारक सर्व सुरो ॥३६७॥

दोहा

तू जु अनातको प्रभू, है जु अनावे सोहु ।
 पूजि अनादेशो तुही, व्यापि रह्यो जगि जोहु ॥३६८॥
 तेरी निर्माता नहीं, रचिता जग मैं कोय ।
 अनिमांतु भगवान तू, अनिर्वाच्य को होय ॥३६९॥
 अति भूतीश्वर असम तू, कर पात्रा जु महंत ।
 तोहि जपै निज मात्र तू, विनु गायो भगवंत ॥३७०॥
 अतिजेता अतिभूष तू, अतिधर्मी अतिधर्म ।
 अति जु भर्ष रहितो-तुही, अति शर्मी विनु कर्म ॥३७१॥

कवित्त

तू अतिकर्म जु टारक स्वामी,
 शुभकर्मा नहि अशुभ जु कोय ।
 अतिपुण्यो शुद्धत्व मात्र है,
 तोमो देव जु तूही होय ॥

तू अनघेशनाथ अतिछात्रो,
अतिरिक्तो छात्रनितै सोय ।

तू अलघेशनाथ अति गात्रो,
अत्यंतो अत्यर्थ न दोष ॥४०२॥

तू अतिनाथ अतित जु पात्रो,
अति रहित अत्यंत जु भात ।

अतिभृत्ता तेरे नितस्वामी,
अतिचेतन तू अमित सुतात ॥

अति जु नंत भेदघर तू ही,
आप अभेदो है अनिपात ।

तू सामान्य विशेषातम है,
एकानेक जु रूढ़ अजात ॥४०३॥

जो अतिक्रान्ति विश्रान्ति दयाला,
अरिहंता अतिशान्त मुनीश ।

सुरनर मुनिवर खग तिरकौ मन,
हरै न चीरो अति जगदीश ॥

सांच भूठ जे जगत प्रपंचा,
जानैं सब अररहित जु रीस ।

जीव रसिक जो नासक कर्मा,
निरग्रंथो अति कमलाधोश ॥४०४॥

इह अदभूत गति देखहु तापैं,
सो अध्यात्म धारसु सार ।

अध्यात्मि कौ तारक देव,
असुधारिनि कौ है प्रतिपार ॥

अश्व जु स्पर्दन हस्ति सुपाय,

करेन हार नवनवी दातार ।

सब सेना ते रहित जु स्वामी,

सेनाधर सेवै दरबार ॥४०५॥

अतिसै जगके दासन मांगै,

दै अतिशय चउतीस जु मोहि ।

अष्ट जु प्रातिहारहू दंहो,

केवल दै विनऊं कहा तोहि ॥

देहु अनंतचतुष्टय निश्चै,

तू अतिशय तन चिदधन होहि ।

अतिशय प्रातिहार नहि देतो,

अनंत चतुष्टय दै प्रभु सोहि ॥४०६॥

हूं जु अजाण जान तू करई,

निज संपति दै श्री भगवान ।

अभ विन पावै तेरी पुर जो,

तू भवितार कहै अति जान ॥

तू जु अभीरू भीरू न पावै,

अभिध्येयो तू है अभिधान ।

अहमेवादिक तो मैं नांही,

तू अभिधाता अनुपम भान ॥४०७॥

तू अतिध्येय सु तू अतिज्ञेयो,

अप्रमेय तू है अतिभेय ।

अदभुत सार जु तू शिव सारो,

अतिशय सागर है जु अहेय ॥

तो सौ अतिशय धरणा जु तूही,
 और न दीसै जग मैं जेय ।
 मेरी इह विनती सुनि देवा,
 देहु अभै पद निज मैं लेय ॥४०८॥१

दोहा

अति धारौ आधारतू, अनंत वसै जगदेव ।
 अदभुत अश्यातम विमल, तु हो प्रकास अछेव ॥४०९॥२

त्रिभंगी छंद

अथ अतिप्यास की छाल—

अतिमतिकारा अतिश्रुतिसारा,
 अवधि अधारा अतिधारा *
 है अतिसुखसारा अमन प्रचारा,
 अवगम*-वारा धर प्यारा ॥
 है अति विचरइया अति बिहरइया,
 अति विथरइया अतिसारा ।
 है लखरा मारा अतिशय कारा,
 अतिसमवारा अतिप्यारा ॥४१०॥३
 अति ही वित भरिया अतिचित धरिया,
 अतिगति हरिया अतिहारा ।
 है अत्युत्चंडा अति सुखपिंडा,
 अगति विहंडा अतिप्यारा ॥

* अवगम कहतां ज्ञान

प्रभु अतिगति कहिया अतिरति रहिया,

अति गणधरिया अतिसारा ।

है अतिगुण धुरिया अतिभव तरिया,

अतियम हरिया अतिप्यारा ॥४११॥

अरति जु हरिया रंग सुकरिया,

संघ उधरिया अतिकारा ।

गुण संग न तजिया संग जु तजिया,

मुनिगण भजिया क्षम बारा ॥

जिन अतिगति पिडा आप अपिडा,

अवतल्लडा अतिफारा ।

है अतनु सु दंडा ब्रत नहि खंडा,

उपर मयंडा जन्प्यारा ॥४१२॥

है अनध अधारा अमग प्रहारा,

अगम अपारा अधटारा ।

है तथ्य सु धारा अबितथ धारा,

अविधि विडारा अतिप्यारा ॥

अति परगुण रहिता अति निज सहिता,

सुरतर महिता अतिपारा ।

है अतिरस रसिया, अतिगुण लसिया,

अवगम वसिया अतिप्यारा ॥४१३॥

अति अतिथि अधारा बितथ विडारा,

पथ्य सुधारा अतिमारा ।

है अतत विडारा अतत डारा,

अतिव्रत वारा अतिप्यारा ॥

अकलित अविरूपा अचलित भूपा,
 अतुल अनूपा अतिवारा ।
 है अनुभव कारा अतिभव हारा,
 अकथ अपारा जिन प्यारा ॥४१४॥

अति अतिशय मंडा अनुशय छंडा,
 सौख्य करंडा अविकारा ।
 है अनुभव पिंडा अतिशय खंडा,
 अतिगति खंडा अतिप्यारा ॥

है अगति खंडा अविगत पिंडा,
 अतिहित मंडा अविधारा ।
 है अति अधदंडा अति जु प्रचंडा,
 कर्मविहंडा अतिप्यारा ॥४१५॥

है अविरति हारा विरति विहारा,
 अतनु प्रहारा अरागारा ।
 है भूति विधारा अखलित धारा,
 अप्रमत्तवारा अतिप्यारा ॥

है अमित विधारा सार सुसारा,
 अति जगपारा अतिचारा ।
 है अतिक्रम टारा मल जु विडारा,
 अदरस हारा अतिप्यारा ॥४१६॥

है अकर अकारा अजर जरारा,
 अमर करारा अविचारा ।
 है अतिगुण गारा अठमद डारा,
 अविनयशारा अति प्यारा ॥

है अतिमुख वारा अकुलित डारा,
 अतिशम धारा अतिगारा ।

अठदश जु हजार शील प्रकारा,
अनतीचारा धर प्यारा ॥४१७॥

है अति तिहारी अतिक्षिम धारी,
अलख जगारी अतिभारी ।

है क्षण क्षण धारा आप सम्हारा,
जान अपारा कर प्यारा ॥

है अतिमद मारा अमद सुधारा,
अतिसै दारा जगतारा ।

है अतिसंवेगों नाथ अवेगों,
आपुन एगी अतिभारा ॥४१८॥

है गति अति धारा रहित जु भारा,
अति निज लारा परहारा ।

है अति जस भारा अति गति प्यारा,
कृपण विडारा जगभारा ॥

है अकृपण धारा त्याग सुधारा,
शक्ति अपारा तप धारा ॥४१९॥

है अतितप धारा अतप पसारा,
अतितप कारा अणगारा ॥

है तप ज्वर हारा तप जप प्यारा,
अति तप चारा अतिप्यारा ।

है अतितप चंडा अतप सुदंडा,
शक्ति अखंडा अति धारा ॥

है नहि असमाधा साधु समाधा,
नित्य अवाधा हर प्यारा ॥४२०॥

है त्याग अखंडा तप जु प्रचंडा,
आप प्रचंडा अतकारा ।

दस भेद जु धारा साधु उधारा,
 वह अविकारा उरहारा ॥
 अति वैयावत्ता कहइ सुवत्ता,
 रहइ निरत्ता हरिहारा ।
 है अकपट गारा कपट प्रहारा,
 विश्व विहारा अग्रहारा ॥४२१॥
 है अतिभव हंता अति अरिहंता,
 प्रभु अरहंताक्षर धारा ।
 अति अनुभवकारा परिगह डारा,
 सर्व अधारा गुण गारा ।
 है आरिज तारा भगत उधारा,
 अति आचारा जग प्यारा ॥
 है अनुभव वारा वह अति प्यारा,
 अगमि प्रचारा अभिचारा ॥४२२॥
 है अतिश्रुति धारा बहुश्रुत प्यारा,
 अति आधारा गणतारा ।
 है अवितथ कारा अतत विडारा,
 अमत जुहारा अतिधारा ॥
 है प्रवचनसारा अवचन वारा,
 अति श्रुतिपारा धर तारा ।
 ए अवसि जु करणा निति प्रति चरणा,
 कहइ अवरणा मुनि प्यारा ॥४२३॥
 है वह अति प्यारा मुनि जु उधारा,
 अवसि प्रचारा धरतारा ।
 है अवह्य धूका सीलनि कूपा,
 रत्न प्ररूपा रजहारा ॥

है अपथ विकारा भारण सारा,
 अप्रतिहारा हरि प्यारा ।
 है अमद सुकरिया शक्ति सुभरिया,
 अतिक्षम धरिया व्रतधारा ॥४२४॥
 है वरसल भावा रहित विभावा,
 वह जिन रखा हर प्यारा ।
 प्रभु अनुभव दाया अतिशय काया,
 अतिशमि भाया अतिवारा ॥
 है अतिहित भारा अतिधृति धारा,
 अनुभव वारा अति प्यारा ।
 है आत सति पारा असत प्रहारा,
 अतिमल टारा अतिसारा ॥४२५॥
 है भवजल तारा अतिमल कारा,
 अनुभव वारा अति प्यारा ।
 है अति सुविचारा अशुचि निवारा,
 अधरम हारा भव-डारा ॥
 है अमत प्रहारा अमति प्रहारा,
 अनुभव वारा अति प्यारा ।
 है अभियम धारा संयम पारा,
 इंद्रिय टारा व्रत गारा ॥४२६॥
 है रक्ति प्रहारा भोगत जारा,
 अनुभव वारा अति प्यारा ।
 है अगम अगारा अकरम चारा,
 अकरण कारा अगिवारा ॥
 है अवरण धारा अमरण कारा,
 धर्म अधारा धन धारा ।

है धर्म अकिंचन पाप निकंचन,
दोष न रंचन धृति धारा ॥४२७॥

है अतिछति वारा धति अधिकारा,
ब्रह्म विहारा अविकारा ।
है विश्व विशारा विश्व अधारा,
अनुभव वारा अति प्यारा ॥
है अति भवकूला अति रस झूला,
अनुभव मूला अजरारा ।
है अतिशय भूपा अनुभव रूपा,
अति गुणवारा अति प्यारा ॥४२८॥

है अतिधन नामा अति धनधामा,
अति अभिरामा अतिकारा ।
है मुनिमन हारा अति दुखटारा,
अनुभव वारा अति प्यारा ॥
है अतिहित धारा अहित ग्रहारा,
दोऊ टारा जिन प्यारा ।
है देव अरागा वीतसुरागा,
अतिबड भागा जग प्यारा ॥४२९॥

सवैया ३१

असि मसि कृषि और वानिज की लेस कोऊ,
नाहि तेरे पुर में न शिल्पि पशु पालनां ।
पठन न पाठन है शिष्य गुर भेद नाहि
स्वामि और सेवक की भेद न निहालनां ॥

तू तो जिन एक रूप दोय रूप भाव तेरी ।
तेरी पुर शुद्ध रूप जहां बस कालना ।
मोह नाहि द्रोह नाहि नांह जु विभाव कोऊ ।
जहां तू विराजै देव सबै भ्रम जालना ॥४३०॥

असि धारी तू जु नाहि, खग नाहि तेरै हाथ
खग धारा सम जिन, मारग प्रकाश तू ।
शस्त्र वस्त्र नाहि तेरै, अस्त्रकी न नाम कोऊ
दूषन न भूषन, जो भूख को विनाश तू ।
अस्पादिक भेद जे सु जीविका उपाय नाथ
कर्म भूमि, लागत जो आदि ही विभास तू ।
असुधारी प्राणिगण पावैं मोष तोहि जपि
मौक्ष को जु दाता एक दीखै स्व विलास तू ॥४३१॥

अरुण प्रकास होय ताकें पहली जु नाथ,
उठि भव्य जीव तेरी नाम उर-मैं धरै ।
मध्यकाल सार्यकाल अरध निसाजु मांहि,
तोही सौं लगाय चित्त काम क्रोध कीं हरे ।
अनडन वांवरतू, अनडन तोसौं और,
सुर नर मुनिजन तो ही क्यों जप्यौ करै ।
तूही एक ज्ञान रूप चेतना निधान देव ।
तो हीं को जु ध्याय साधु वेगि भौ-दधी तरै ॥४३२॥

सोरठा

मेरे टारि जु देव, अनिरक्षा अनिगुप्तमय ।
अकस्मात दै सेव, अमरण अमृत देहु मुझ ॥४३३॥
तू जु अकार स्वरूप, सर्वाक्षर मय देव तू ।
ब्रह्मरूप जग भूप, बोलति करण जु तू सही ॥४३४॥

अस्मिन् भवदधि मांहि, रागादिक जे क्षार जल ।
 तो विनु दूजो नांहि, अमी देन हारै प्रभु ॥४३५॥
 अमी जु अमृत नाम, तू जु अमी और सु नही ।
 अमी सांभदो राम, तोहि त्यागि ओर न जपै ॥४३६॥
 अर्थ अमी को एह, विद्यमान को नाम है ॥
 अमी मुधा हु कहैह, तो सौ नांहि अमी जु को ॥४३७॥
 अवग्रह ईहा और, फुनि अवाय जु धारणा ।
 मतिज्ञान के दौर, तीन शतक छतीस जे ॥४३८॥
 तिनको भाषक एक, केवल रूप। देव तू ।
 तेरो इह जु विवेक, जड चेतन न्यारे करै ॥४३९॥
 तू हि अनुत्सेको जु, उत्सेको गर्व जु सही ।
 तू गर्वारि जिनो जु, मानी तोहि न पांवही ॥४४०॥
 नाम रहित को ठीक, कहैं अपेत जु ग्रंथ मैं ।
 तू जु अपेत विलोक, सत्य उमेतो तू सही ॥४४१॥

भौपाल चरित

रचनाकाल :—सं० १८२२ फागुण सुदी ११

रचना स्थान :—जयपुर (राजस्थान)

अथ श्रीपाल चरित्र भाषा लिख्यते

बोहा

तीर्थङ्कर चोबीस जिन, धर्म राज के ईस ।
गुण अनन्त मंडित प्रभु, नमत सक सत सीस ॥१॥
सकल विधन हर सम कर, सिद्धचक्र अतिसार ।
ताकूँ बंदु भाव सूँ, छोड़ि जगत भ्रमजाल ॥२॥

चौपई

बंदु त्रिविध गुरु गुण खान, राग रहित जानी अधिकान ।
सप्तम गुण ठारो मुनि गये, नटि के खिपक श्रेणी सिध भये ॥३॥
श्री जिन कमल धकी धुनि खिरी, गरुधर देव प्रसद विसतरी ।
तीन जगत कूँ अति सुखकार, सारद बंदु भवदधि तार ॥४॥
श्री जिन श्रुत गुरु नमि पांय, सिद्धचक्र नमिहूँ हित लाय ।
जा परसाद श्रीपाल नरेस, कहूँ चरित्र महासुभ भेष ॥५॥
जंबू भरत आरज उर आन, मगध देस स्वरथल सम जान ।
राजग्रही तामें पुर सही, श्रेणीक भूप सम्यकधर कहौ ॥६॥
नारि चेलणा ता घर सती, सम्यक आदि गुणांकर जुती ।
ताके अभयकुंवर सुत नाम, सो अतिरूप बुद्धि को धाम ॥७॥
ऐसे राज करे नरराय, इक दिन सभा ठये सुख पाय ।
एते आयो इक वनपाल, करी वीनती अति गुणमाल ॥८॥
भो नृप भाग तिहारे सही, वर्धमान जिन आये कहौ ।
समोसरण विपुलाचल आय, तिच्छे हरि मुर जै जै लाय ॥९॥
इम सुणि राय महासुख लेय, सिधपीठ ते उतरयो जाय ।
झात पैड ता ओड़ी जाय, अपनो सीस नमायो राय ॥१०॥

पट भूषण माली कूँ दीये, अष्ट द्रव्य अपने कर लीये ।
 पुर में आनन्द भेरी दिवाय, नगर लोक अरु बंधु मिलवाय ॥११॥
 बहु सबद उछाह जय लाय, पहुँचे समोसरन में आय ।
 तीन प्रदक्षणा दे नर ईस, गये माँहि निज नाथो सीस ॥१२॥
 अष्ट दरब ते पूजे राय, फिर बहु भक्ति करी अधिकाय ।
 भोतमादि गणधर कूँ नयो, मनख थान फिर बैठत भयो ॥१३॥
 तब जिनवर की वाणी खिरी, दिव्य ध्वनि अतिसँ करि भरी ।
 पुन्य पाप मुनि भावक धर्म, तरवादिक के भाखे मर्म ॥१४॥
 देव मनख तिर्यच बहु जान, देस देस नर की भी वानि ।
 दिव्य ध्वनि अतिसँ करि खिरी, भिन भिन जीव समाभि चित धरी ॥१५॥
 जो संसँ ता जीव उर होय, ताको ज्वाब परनमे सोय ।
 अधभुत रचना जिन की वानि, श्रेणिक देखि हरष अति मानि ॥१६॥
 फिरि श्रेणिक जिनकूँ सीस नाथ, ऐसे बिनती करी सुभाय ।
 सौधचक्र पूजा करि सोय, को फल किन भवि पायो जोय ॥१७॥
 ताकी कथा सुनन को चाद, भाखो देव दया रस भाव ।
 तब जिन ध्वनि दिन अक्षर खिरी, अर्थ गंभीर सकल रस भरी ॥१८॥
 सुणि गोतम गणधर मुनि ईस, भाखे कथन नवों निज सीस ।
 उर धिर आन निसुनो सब कथा, भाखत गणी भई विधि यथा ॥१९॥
 जंबू दीप नाभि सम मेर, ताकी दक्षणा दिसा अतहेर ।
 तामें षट खंड पंच अनार्ज, आरज एक तहां सुख कार्य ॥२०॥
 मालव देस उजेणी ग्राम, तहां जिनवर के अति सुभ घाम ।
 भोजन तहां मुनी नित करे, धर्म ध्यान जुत जन अनुसरे ॥२१॥
 सब जिन भक्त वाणी जिन भने, खान पान धन आदिक घने ।
 परस परे सब ही जिन हिते, पुर कटुंब सुखी गुण किते ॥२२॥
 पुर में दीन नरा नहि कोय, सब ही जीव पुन्याधिप सोय ।
 सब जन कोमल सज्जन भाय, मानों भोग भूमि जन आय ॥२३॥

इत्यादिः परका नन गुली, को निध कोय जीव नहीं दुखी ।
 ऐसो नय उजेली धाम, प्रजापाल राय को नाम ॥२४॥
 नारी सौभागसुन्दरि जान, कन्या दोय भई गुणखान ।
 स्वरसुन्दरि जेठी को नाम, मेरासुन्दरी गुण की धाम ॥२५॥
 रूप जेसो सुर कन्या एव, साहस बुद्धी धर्म नित सेव ।
 दोऊ सुता बु.....सुखकार, तब भरणे कू मेली सार ॥२६॥
 जोसी सिवसर्म इक दुज जानि, कन्या भरी बड़ी इस धान ।
 स्व प्रतिवेद भरी बहु सही, मिथ्या आगम पढि मद भई ॥२७॥
 मेरासुन्दरि छोटी सुता, महा बडभागीरु गुणजुता ।
 येक दिन जिन वंदन कू गई, त्रिभवन तिलक चैताले सई ॥२८॥
 तहा जिन पूजे हरष वढाय, फिरि बंदे जिन धर्म मुनिराय ।
 नय निज सीस ठई मुनि पास, धर्म सुण्यो सब सुख की रास ॥२९॥
 लये अणुव्रत कन्या सही, फिरि मुनि ते इम वीनती ठई ।
 भौ प्रसु धर्म जिनेस्वर सार, मोहि पढावो सुख करतार ॥३०॥
 मुनि षडिग कन्या पढे सुभाय, जिन मन रहसि जतीवत वाय ।
 प्रथमानु आदिक चव जोग, कन्या भरी महा सुख भोग ॥३१॥
 धर्म अधर्म रूप लखि लियो, जान्यो तत्व भेद जिन चयो ।
 देव धर्म गुह दिठता लाय, सम्यक् जुत अणुव्रत धराय ॥३२॥
 या जग संग उच्च ते सही, क्या क्या गुण उपजे नहीं कही ।
 नीच संगतें दूषण कोय, कोन कोन उपजे नहीं सोय ॥३३॥
 या विधि कन्या दोऊ सार, नाना कला पढी सुखकार ।
 इक दिन बड़ी सुता कू सही, वंछित वर जांचो नृप कही ॥३४॥
 कन्या तब भाखो मुनि तात, अहिच्छत नश राय सुभ गात ।
 वैरदामन नाम है सही तासूँ व्याह करूँ इम कही ॥३५॥
 तब राजा बहु ठानि उछाह, कियो बड़ी कन्या को व्याह ।
 मेरासुन्दरी इक दिन सही, पूजे जिन गंदोदक लही ॥३६॥

तात पास लाई तब सुता, मंधोदक सिर लायो पिता ।
 धारी सनेह सुता सु कही, मांगो वर मनबंधित कही ॥३७॥
 तब यह कन्या सील की खानि, तात थकी इम वचन जु ठानि ।
 अहो तात गारी किम देय, मन बंधित वर वेश्या लेय ॥३८॥
 अथवा नारि कुसीली होय, सो बंधित वर मांगे जोय ।
 अत शील कुल ऊंची नार, सो वर कवहु न जाचे धार ॥३९॥
 मात पिता ताकूं परणाय, सोही वर यह नीति कहाय ।
 पीछे मुभ अरु असुभ सु जोय, कर्म उदैसाहै सो होय ॥४०॥
 सुख दुख होय भाग तें सही, ताकू भेट सके नही कोइ ।
 ताते पिता सला तुम होय, ताही कूं परणावो जोय ॥४१॥
 तात वचन सुन मन कोपियो, मेरो वचन सुता खंडियो ।
 थाप्यो कर्म आपनो जानि, सो अब देहु महा दुख थान ॥४२॥
 महानिद कोढी धनहीन, जानि दलिद्री सुगती दीन ।
 ऐसो वर लखि ब्याहू सही, राखी मन काहु नहि कही ॥४३॥
 इक दिन राय गयो वन थान, कीडा करत फिरत हित मान ।
 ताही वन श्रीपाल नरेस, आ निकसे पलटयो तन भेष ॥४४॥
 महा कोढ तीके तन मांहि, लार सात सैं सेवक थाहि ।
 सोभी सर्व कोढ करि सही, वास दुरगंध धार तन कही ॥४५॥
 छत्र चमर सिंघासण लार, राज ब्रजु ज वन्यो सव सार ।
 ये तन वास दुरगंध अपार (महान), फैल रही सब वन के थान ॥४६॥
 ऐसे श्रीपाल लखे राय, प्रजापाल जु हरप उपाय ।
 मंत्रिन सूं राजा इम कही, यह मेणामुन्दरि वर सही ॥४७॥
 याकूं राखो जागा बनाय, तब मंत्री बहु मनै कराय ।
 राय न मानी काहु बात, कीमो हठ मूरख हरषान ॥४८॥
 राय हुकम तो वन में जानि, जागां बग्याई लखि मुभ थानि ।
 राय जाय कन्या सूं कही, तो वर कोढी आन्यो मही ॥४९॥

कन्या कही सुनो मो पिता, सुभ अरु असुभ कर्म ते हुता ।
 जो जो सुख होनो सो होय, ताकूं भेट सकैं नहिं कोय ॥५०॥
 ऐसे धीर वीर वचन दियो, सब जन सुनि के अचरज लयो ।
 सब जन कन्या की धुति करे, कन्या धन्य धन्य सब उचरे ॥५१॥
 कोढी पति पायो है सही, तो भी मन चिता न लही
 अंतेपुर सब ही नर नारि, हा हा मुख ते वचन उचारि ॥५२॥
 मत्र मिलि बिनती करवाहि, भो नृप कोढी कूं न विवाहि ।
 मैणासुन्दरि रूप जिहाज, कोढी कूं न देहि महाराज ॥५३॥
 राय हठी मानी नहिं कोय, भंत्री फिर वचन भाखी सोय ।
 कोढी कूं न कन्या दे राय, तू बुधिवान देखि मन लाय ॥५४॥
 मूरख राय तबै इम कही, भो भंत्री यह नृप है सही ।
 छत्र चमर सिंघासन जोय, राज चहन देखत है सोय ॥५५॥
 यह वर जोग्या सुता कूं सही, मैं परणाऊं निश्चै कही ।
 वरज्यो सति कछु समझ्यो नाहि, इम कहि सब के वचन नसाय ॥५६॥
 आय विवाह तरणी विधि करी, कन्या रूप दसा अति धरी ।
 वर जुत आय पिता के पास, नमस्कार कीनो गुण रास ॥५७॥
 तब नृप मैणासुन्दरी जोय, रूप थकी रति सी अब लोय ।
 देख्यो वर कोढि तनहीन, मन पछतावो पति लखि कीन ॥५८॥
 आप निच्यो आपन कु सही, मैं मति हीण यहु कहा बही ।
 ओध थकी मन नाहि विचार, कोढी कहा कहा वर नार ॥५९॥
 जानि पूछि मैं कूप मभार, डारि दई कन्या गुण सार ।
 मो सो हठी नहीं सठ कोय, फिरि मन राजा निश्चै जोय ॥६०॥
 कन्या कही सत्य सो बात, कर्म करे सो होय विख्यात ।
 मै तो निमत मात्र करतार, कारज होय कर्म अनुसार ॥६१॥
 पुन्य पाप मो जीव के होय, ताकूं भेट सके नहिं कोय ।
 यह अब मो मन निश्चै भयो, इम लखि राय सोच तजि दियो ॥६२॥

प्रजापाल धारि मन तोष, निज उर को छाँड़्यो सब दोष ।
 बनथालि महल उत्तंग बनाय, मँडित कनक रतन जडवाय ॥६३॥
 तहाँ रहै श्रीपाल नरेश, मैणासुन्दरि नारि सुभेस ।
 दासी दास नगर बहु दये, ढोल्यो महल और घर दये ॥६४॥
 तिन में सब कोढी थिति करे, पूरव कर्म किये फल भरे ।
 अब वह मैणासुन्दरि नारि, भक्ति करे पति की चित धारि ॥६५॥

अंतिम पाठः—

मैणा सुन्दरि अजिका, तजी समाधि ले काय ।
 छेदि नारि के लिंग कूँ, सुक स्वर्ग हरियाय ॥७४५॥
 तीन ज्ञान राजत सदा, महा रिद्ध जुन धान ।
 आयु पर्यंत सुख भोगि के, चय नर ह्वै सिव जान ॥७४६॥

चोपई

और अजिका थी बहु सोय, जे सब स्वर्गधान में जोय ।
 कोउ छेदि लिंग स्वर जान, देवी कूँष उपजी आन ॥७४७॥
 प्रथम स्वर्ग षोडषलों सही, देवी देव अजिका भई ।
 या विधि श्रीपाल नर राय, धर्म प्रभाव थकी सुखपाय ॥७४८॥
 सुर नर गति सुख भोगि अपार, फेरि सकल दुख कीने छारि ।
 सुर नर खग पूजित पद होय, सिद्ध सधान पहुँचे सोय ॥७४९॥

सोरठा

ऐसो जानि हित मान, भानि प्रमाद दसा सही ।
 अष्टानिक विधि जानि, शक्ति सधा करनो सही ॥७५०॥
 जो सम दृष्टी होय नंदीश्वर दत्त कूँ फरे ।
 सो सुरनर खग होय, शिव धानक सुख सूँ लहै ॥७५१॥

दोहा

यह चरित्र श्रीपाल को, पूरन भयो सुजान ।
 पाकूँ लखि धरम उर विषै, निश दिन राखि सधान ॥७५२॥
 धर्म सकल सुखदाय है, ताते भवि उर आन ।
 पाप बुद्धि दुखदां सही, छाड़न की बुद्धि ठान ॥७५३॥
 संवत् अष्टादश शत जान, ऊपर बीस दोय फिर आन ।
 कागुण सुदि इग्यार निस मांहि, कियो समापत उर हुलसाहि ॥७५४॥

दोहा

सोमसेन अनुसार ले दौलतराम सुखदाय ।
 यह भाषा पूरण करी सकल संघ सुखदाय ॥७५५॥

इति श्रीपाल चरित्र संपूर्णः । लिखता पंडित पन्नालालजी की परतभनय परतापगढ़ मध्ये । धान संहो में श्री ऋषभदेवजी के मंदिर श्री रिखभनाय चैताले श्रीरस्तु कल्याणमस्तु संभवतु । वार दोतवार ने संवत् १९२१ पोस सुवी पंचमी ॥

पद्म-पुराण भाषा

रचनाकाल :—सं० १८२३ माघ सुदी ६

रचना स्थान :—जयपुर (राजस्थान)

संगलाचरणा :—

दोहा

चिदानंद चैतन्य के, गुण अनन्त उरधार ।
 भाषा पद्मपुराण की, भाषूँ श्रुति अनुसार ॥१॥
 पंच परमपद पद प्रणमि, प्रणमि जिनेश्वर वानि ।
 नमि जिन प्रतिमा जिनभवन, जिन मारग उर आनि ॥२॥
 ऋषभ अजित संभव प्रणमि, नामे अभिनन्दनदेव ।
 सुमति जु पद्म सुपाश्वर नमि, करि चन्दाप्रभु सेव ॥३॥
 पुष्पदंत शीलप्र प्रणमि, श्रीश्रेयांस को ध्याय ।
 वासुपूज्य विमलेश नमि, नमि अनंतके पाय ॥४॥
 धर्म शांति जिन कुन्थु नमि, श्रीर मल्लि यश गाय ।
 मुनिसुव्रत नमि नेमि नमि, नमि धारसके पाय ॥५॥
 बद्धमान वरवीर नमि, सुरगुरुवर मुनि वंद ।
 सकल जिनंद मुनिंद नमि, जैनधर्म अभिनन्द ॥६॥
 निर्वाणादि अतीत जिन, नमों नाथ चौबीस ।
 महापद्म परमुख प्रभू, चौबीसों जगदीश ॥७॥
 होंगे तिनको वंदिकर, द्वादशांग उरलाय ॥
 सीमंधर आदिक नमूँ, दश दूने जिनराय ॥८॥
 विरहमान भगवान ये, क्षेत्र विदेह मभारि ।
 पूजें जिनको सुरपती, नगपती निरधार ॥९॥
 द्वीप अढाईके विषे, भयें जिनेन्द्र अनंत ।
 होंगे केवलज्ञानमय, नाथ अनन्तानन्त ॥१०॥
 सबको वंदन कर सदा, गरुधर मुनिवर धाय ।
 केवल श्रुतिकेवल नमूँ, आचारज उवभाय ॥११॥

चंदू शुद्ध स्वभावको, धर सिद्धनको ध्याय ।
 संतनको परणामकर, नमि हग व्रत निज ज्ञान ॥१२॥
 शिवपुर दायक सुगुरु नमि, सिद्धलोक यश गाय ।
 केवलदर्शन ज्ञानको, पूजूं मन बच काय ॥१३॥
 यथाख्यात चारित्र अरु, क्षपकथेण गुरा ध्याय ।
 धर्म शुक्ल निज ध्यान को, वंछु भाव लगाय ॥१४॥
 उपशम वेदक धार्मिका, सम्यग्दर्शन सार ।
 कर वंदन समभावको, पूजूं पंचाचार ॥१५॥
 मूलोत्तर गुरा मुनिनके, पंच महाव्रत आदि ।
 पंच समिति और गुणत्रय, ये शिवमूल अनादि ॥१६॥
 अनित्य आदिक भावना, सेऊं चित्त लगाय ।
 अध्यात्म आगम नमूँ, जाति भाव उरलाय ॥१७॥
 अनुप्रेषा द्वादश महा, चित्तवै श्रीजिनराय ।
 तिनकी स्तुति करि भावसों, षोडशकारण ध्याय ॥१८॥
 दण्डलक्षणमय धर्मकी, धर सरधा मनमाहि ।
 जीवदया सत शील तप, जिनकर पाप नसाहि ॥१९॥
 तीर्थकर भगवान के, पूजूं पंच कल्याण ।
 और केवलनिकी नमूँ, केवल अरु निर्वर्ण ॥२०॥
 श्रीजिन तीरथ क्षेत्र नमि, प्रणमि उभय विधि धर्म ।
 श्रुतिकर चहुँ विधि संघकी, तजकर मिथ्या भर्म ॥२१॥
 चंदू गौतम स्वामिके, चरण कमल सुखदाय ।
 चंदू धर्म मुनीन्द्रको, जम्बूकेवलि ध्याय ॥२२॥
 भद्रवाहुको कर प्रणमि, भद्रभाव उरलाय ।
 चंदि समाधि भुवंधको, ज्ञानतने गुरा गाय ॥२३॥

ग्रंथों का स्मरण

महा धवल अरु जयधवल, तथा धवल जिनग्रन्थ ।
 बंदू तन मन बचन कर, जे शिवपुरको पंथ ॥२४॥
 पट्पाहुड नाटक जु त्रय, तत्त्वार्थ सूत्रादि ।
 तिनको बंदू भाव कर, हरें दोष रागादि ॥२५॥
 गोमटसार अगाधि श्रुत, लब्धिसार जगसार ।
 क्षणसार भवतार है, योगसार रसधार ॥२६॥
 ज्ञानार्णव है ज्ञानमय, नमूँ ध्यान का मूल ।
 पद्मनंदि पञ्चीसिका, करे कर्म उन्मूल ॥२७॥
 यत्नाचार विचार नमि, नमूँ श्रावकाचार ।
 द्रव्यसंग्रह नयचक्र कुनि, नमूँ शांति रसधार ॥२८॥
 आदिपुराणादिक सबै, जैन पुराण बखान ।
 बंदू मन बच काय कर, दायक पद निर्वारण ॥२९॥
 तत्त्वसार आराधना, सार महारस धार ।
 परमात्म परकाणको, पूजूँ बारम्बार ॥३०॥

पूर्वाचार्यों का स्मरण :—

बंदू विज्ञाखाचार्यवर, अनुभव के गुण गाय ।
 कुन्दकुन्द पद धोक दे, कहूँ कथा सुखदाय ॥३१॥
 कुमुदचंद्र अकलंक नमि, नेमिचंद्र गुण ध्याय ।
 पात्रकेशरी को प्रणमि, समंतभद्र यशगाय ॥३२॥
 अमृतचंद्र यतिचंद्र को, उमास्वामि को वंद ।
 पूज्यपाद को कर प्रणमि, पूजादिक अभिनंद ॥३३॥
 ब्रह्मचर्यव्रत बंदिके, दानादिक उर लाय ।
 श्रीयोगीन्द्र मुनीन्द्रको, बंदू मन बच काय ॥३४॥
 बंदू मुनि शुभचंद्रको, देवसेनको पूज ।
 करि वंदन जिनसेन को, जिनके सम नहि दूज ॥३५॥

पद्मपुराण निधान को, हाथ जोड़ि सिरनाय ।
 ताकी भाषा बचनिका, भाषूँ सब मुखदाय ॥३६॥
 पद्म नाम बलभद्रका, रामचन्द्र बलभद्र ।
 भये आठवें धार नर, धारक श्री जिनमुद्र ॥३७॥
 ता पीछे मुनिसुव्रतके, प्रगटे अति गुणधाम ।
 सुरनरवंदित धर्ममय, दशरथ के सुत राम ॥३८॥
 शिवगामी नामी महा, जानी करुणावंत ।
 न्यामवंत बलवंत अति, कर्म हरण जयवंत ॥३९॥
 जिनके लक्ष्मण वीर हरि, महाबली गुणवंत ।
 भ्रातभक्त अनुरक्त अति, जैनधर्म यशवंत ॥४०॥
 चन्द्र सूर्य से वीर ये, हरें सदा परपीर ।
 कथा तिनोकी शुभ महा, भाषी गौतम धीर ॥४१॥
 सुनो सबै श्रेणिक नृपति, धर सरधा मन माहि ।
 सो भाषी रविवेणने, यामें संशय नाहि ॥४२॥
 महासती सीता शुभा, रामचंद्र की नारि ।
 भरत शत्रुघ्न अनुज हैं, यही बान उर धारि ॥४३॥
 तदभव शिवगामी भरत, अरु लव-अंकुश पुत ।
 मुक्त भये मुनिवरत धरि, नमैं तिने पुरहुत ॥४४॥
 रामचन्द्रको करि प्रणामि, नमि रविवेण ऋषीश ।
 रामकथा भाषूँ यथा, नमि जिन श्रुति मुनिईज ॥४५॥

[भ्रंजना और पवनंजय कुमार का मिलाप]

अध्यानंतर^१ पवनंजयकुमार ने भ्रंजनागुन्दरी को परण कर ऐसी तजी जो
 कबहूँ बात न बूझै, सो वह सुन्दरी पति के असंभाषणतें भर कृपादृष्टि कर न

देखते-परम दुःख करती भई । रात्रि में भी निद्रा न लेय, निरंतर अश्रुपात ही भरा करै, शरीर मलिन होय गया, पतिसों अति स्नेह, धनी का नाम अति सुहावै, पवन जावै सो भी अति प्रिय लागै, पति का रूप तो विवाह की भेदी में अवलोकन किया हुता ताका मन में ध्यान करबो करै भर निश्चल लोचन सर्व चेष्टा रहित बैठी रहै । अंतरंग ध्यान में पति का रूप निरूपण करि बाह्य भी दर्शन किया चाहै सो न होय । तबि शोककरि बैठी रहै, चित्रपटविषै पति का चित्राभूति स्नाने का उद्यम करै, तबि हाथ जोड़ करि कनक शिर पहै, दुर्बल होय गया है समस्त अंग जाका, ढोले होय कर गिर पड़े हैं आश्रुपात जाके, दीर्घ उषा जे उच्छ्वासनिकरि मुरझाय गए है कपोल जाके, अंग में वस्त्र के भी भार करि श्लेढ कों धरती संती, अपने अशुभ कर्मों को निदती, माता-पितानि को बारंबार याद करती संती, शून्य भया है हृदय जाका, दुःख कर क्षीण शरीर, मूर्च्छा आय जाय, चेष्टा रहित होय जाय, अश्रुपात करि रुक गया है कठ जाका, दुःख कर निकसै हैं वचन जाके, विह्वल भई संती देव कहिए पूर्वोपाजित कर्म ताहि उलाहना देय चन्द्रमा को किरण हू करि जाकों अति दाह उपजै अर मंदिर बिधिं गमन करती मूर्च्छा छाव गिर पड़ै अर विकल्प की मारी ऐसा विचार करि अपने मन ही में पति सों बतलावै कि हे नाथ ! तिहारे मनोज्ञ अंग मेरे हृदय में निरंतर तिष्ठै हैं, मोहि आताप क्यों करे हैं अर मैं आपका कछु अपराध नहीं किया, निःकारण मेरे पर कोप क्यों करो, अब प्रसन्न होबो, मैं तिहारी भक्त हूँ, मेरे चित्त के विषाद को हरो । जैसे अंतरंग दर्शन देवो हो, तैसे बहिरंग देवो । यह मैं हाथ जोड़ विनती करूँ हूँ । जैसे सूर्य बिना दिन की शोभा नाही अर चन्द्रमा बिना रात्रि की शोभा नाही अर दया क्षमा शील संतोषादि गुण बिना विद्या शोभै नाही, तैसे तिहारी कृपा बिना मेरी शोभा नाही, या भांति चित्तविषै बसै जो पतिततिहि उलाहना देय । अर बड़े मोतियों समान नेत्रनिर्गुण आसुवनि की बूंद भरै, महा कोमल सेज पर अनेक सामग्री सखीजन करै परन्तु याहि कछु न सुहावै, चक्रारूढ समान मन में उपज्या है वियोग में भ्रम जाकों, स्नानादि संस्कार रहित कभी भी केष समारं गूँथै नाही, केष भी रुखे पड़ गये, सर्व क्रिया में जड़ भावों पृथ्वी का ही रूप होय रही है । अर निरंतर आसुवनि के प्रवाहतै मानों जलरूप ही होय रही है । हृदय के दाह के योगतै मानों अग्निरूप ही होय रही है । अर निश्चलचित्त के योगतै मानों वायुरूप ही होय रही है अर शून्यता के योगतै मानों गगनरूप ही होय रही है । मोह के योगतै आच्छादित होय रह्या है जान जाका, भूमि पर डाल दिए हैं सब अंग जानें, बैठ न सकै अर तिष्ठै तो उठ न सकै अर उठै तो देही कों धाम न सकै सो सखीजन का हाथ पकड़ि बिहार करै सो पग डिग

जाय अर चतुर जे सखीजन तिनसों बोलने की इच्छा करै परंतु बोल न सकै
अर हंसनी कबूतरी आदि गृह पक्षी तिनसों कोड़ा किया चाहै पर कर न सकै ।
यह विचारी सबों से न्यारी बँधी रहै, पति में लग रहा है मन अर नेत्र जाका,
निःकारण पतितें अपमान पाया सो एक दिन एक बरस बराबर जाय । यह
याकी अवस्था देखि सकल परिवार व्याकुल भया सब ही चितवते भए कि ऐता
दुःख याहि बिना कारण क्यों भया है । यह कोई पूर्वोपाजित पाप कर्म का
उदय है । पिछले जन्म में यानि काहूँके सुख दिवें अंतराय किया है, सो याकं भी
सुख का अंतराय भया । वायुकुमार सो निमित्तमात्र है । यह बरी भोरी निर्दोष
याहि परणकरि क्यों तजी, ऐसी दुलहन सहित देवनि समान भोग क्यों न
करै । यानि पिता के घर कभी रंचमात्र हूं दुःख न देख्या सो यह कर्मनुभव
कर दुःख के भारकों प्राप्त भई । याकी सखीजन विचारै हैं कि क्या उपाय करै,
हम गान्धारिज हमारे गान्ध-साव्य नाहूँ कायें नाहीं, कोई न युद्ध-कर्म की चाल है,
अब ऐसा दिन कब होयगा, वह शुभ मुहूर्त शुभ वेला कब होयगी जो वह प्रीतम
या प्रिया को समीप लेय बैठेगा अर कृपा दृष्टि कर देखेगा, भिष्ट वचन
बोलेगा, यह सब के अभिलाषा लग रही है ।

अथानंतर राजा वरुण तार्क रावणसों विरोध पड़या, बरुण महा
गर्भवान रावण की सेवा न करै, सो रावण ने दूत भेज्या । दूत जाय वरुणसों
कहता भया । दूत घनी की शक्ति कर महाकांति को धरै है । अहो
विद्याधराधिपते वरुण ! सर्व का स्वामी जो रावण ताने यह आज्ञा
करी है जो आप मोहि प्रणाम करो अथवा युद्ध की तैयारी करो । तब
वरुण ने हँसकर कही, हो दूत ! कौन है रावण, कहाँ रहै है जो मोहि
इशार्क है । भो मैं इन्द्र नाहीं हूँ जो वृथा गवित लोकनिन्द्य हुता, मैं वैश्रवण
नाहीं, यम नाहीं, मैं सहस्ररश्मि नाहीं, मैं ममत् नाहीं रावण के देवाधिष्ठित
रत्नोंकरि महा गर्व उपज्या है, याकी सामर्थ्य है तो आवो, मैं बाहि
गर्वरहित करूँगा अर तेरी मृत्यु नजीक है जो हमसों ऐसी बात कहै
है । तब दूत जायकर रावणसों सर्व वृत्तांत कहता भया । रावण ने
कोप कर समुद्र-तुल्य सेना सहित जाय वरुण का नगर घेरवा अर
यह प्रतिज्ञा करी जो मैं याहि देवाधिष्ठित रत्न बिना ही वश करूँगा,
मारूँ अथवा बांधू ।

तब वरुण के पुत्र राजीव पुण्डरीकादिक क्रोधयमान होय रावण के
कटकपर आए । रावणकी सेना के अर इनके बड़ा युद्ध भया, परस्पर
शस्त्रनि के समूह छेद डारे । हाथी हाथियों से, घोड़े घोड़ों से, भट

भटोंसे महागुद्ध करते भए । बड़े-बड़े सामंत डमि डसिकरि नाल
नेत्र हैं जिनके वे महाभयानक शब्द करने भए । बड़ी देर तक संग्राम
भया । सो वरुण की सेना रावण की सेनासों कटुइक गिछे हटी ।
तब अपनी सेना को हटी देख वरुण राक्षसनीकी सेनापर आप चले
करि आया, कालगिन-समान भयानक । तब रावण दुनिवार वरुण को
रणभूमि विषै सन्मुख आवता देखकर आप युद्ध करने को उद्यमी भया ।
वरुणकै अर रावणकै आपस विषै युद्ध होने लगा अर वरुणके पुत्र
खरदूषणसों युद्ध करते भए । कैसे है वरुणके पुत्र ? महाभटोंके प्रलय
करनहारे अर अनेक माते हाथियों के कुंभस्थल विदारनहारे । सो रावण,
क्रोधकरि दीप्त है मन जाका, महाक्रूर जो भृश्रुति तिनकरि भयानक है
मुख जाका, कुटिल हैं केश जाके, जब लमि धनुष के बरण तान वरुणपर
चलावै तब लग वरुणके पुत्रों ने रावण के बहनेऊ खरदूषण को पकड़ लिया ।

तब रावण मन में विचारी जो हम वरुणसों युद्ध करें अर
खरदूषण का मरण होय तो उचित नाही, तातैं सग्राम मन किया ।
जे बुद्धिमान हैं ते मंत्रविषै चूकैं नाही । तब मंत्रियोने मंत्रकर सब
देशोंके राजा बुलाए । शीघ्रगामी पुरुष भेजे । सबनिकों लिखा, बड़ी सेना-
सहित शीघ्र ही आकों । अर राजा प्रह्लाद पर भी पत्र लेय मनुष्य
आया सो राजा प्रह्लाद ने स्वामीकी भक्तिकरि रावणके सेवकनिका बहुत
सन्मान किया अर उठकर बहुत आदरसों पत्र माथे चढ़ाया अर दांभ्या ।
सो पत्रविषै या भाति लिखा था कि पातालपुर के समीप कल्याण
रूप स्थानक में तिष्ठता महाक्षेमरूप विद्याधरोंके अधिपतियोंका पति मुमालीका
पुत्र जो रत्नश्रवा, ताका पुत्र राक्षसवंशरूप आकाशविषै चद्रमा ऐसा जो
रावण सो आदित्यनगर के राजा प्रह्लादको आज्ञा करै है । कैसे है
प्रह्लाद ? कल्याणरूप है, न्यायका देता है, देश-काल-विधान का ज्ञायक
है, हमारा बहुत बल्लभ है । प्रथम तो तिहारे शरीरकी कुशल पूछै है,
बहुरि यह समाचार है कि हम कों सर्व खेवर भूखर प्रणाम करै हैं,
हाथोंकी अंगुली तिनके नखकी ज्योतिकर ज्योतिरूप किए हैं निज शिरके
केश जिनने, अर एक अति दुर्बुद्धि वरुण पाताल नगरमें निवास करै
है सो आज्ञातैं परामुख होय लड़नेको उद्यमी भया है । हृदयको व्यथाकारी
विद्याधरों के समूहकरि युक्त है । समुद्र के मध्य द्वीपको पायकर वह
दुरात्मा गर्वको प्राप्त भया है, सो हम ताके ऊपर चढ़कर आए हैं,
बड़ा युद्ध भया । वरुण के पुत्रों ने खरदूषण को जीवता पकड़्या है

सो मंत्रियों ने मंत्र करि खरदूषणके मरणकी शंकातैं युद्ध रोक दिया, तातैं खरदूषण को गुंदावना अरु बरुण को जीतना सो तुम अवश्य शीघ्र आइयो, दील मत करियो । तुम सरिखे पुरुष कर्तव्यमें न चूकौ, अब सब विचार तिहारै आयत्ते पर है । यद्यपि सूर्य तेजके पुंज है तथापि अरुण सखिया सारथी चाहिए । तब राजा प्रह्लाद पथके समाचार जानि मंत्रियोंसों मंत्र कर रावणके समीप चलनेको उद्यमी भया । तब प्रह्लाद को चलता सुनकर पवनजयकुमार ने हाथ जोड़ि गोड़नितैं धरती स्पर्श नमस्कार विनती करी । हे नाथ ! भुक्त पुत्रके होते मते तुमको गमनयुक्त नाही, पिता जो पुत्र को पाल है सो पुत्रका यही धर्म है कि पिताकी सेवा करे तो जानिए पुत्र भया ही नाही । ततैं आप कृप न करै, मोहि आज्ञा करै । तब पिता कहते भये, हे पुत्र ! तुम कुमार हा, अब तक तुमने कोई युद्ध देख्य नाही, ततैं तुम यहां रहो, मैं जाऊंगा । तब पवनजयकुमार कमकाचन के तट समान जो वक्षस्थल ताहि ऊंचाकर तेज के अरुणहारे वचन कहता भया—हे तात ! मेरी शक्ति का लक्षण तुमने देख्या नाही, जगत के दाहवेमें अग्नि के स्फूर्तिने का क्या वीर्य परखना । तुम्हारी आज्ञारूप आशिषाकर पवित्र भया है मस्तक मेगा, ऐसा जो मैं इन्द्रको भी जीतनेको समर्थ हूं, यामें सदेह नाही । ऐसा कहकर पिताको नमस्कार कर महा हर्ष सयुक्त सठकरि स्वान भोजनादि शरीरकी क्रिया करी अरु आदरसहित जे कुल में वृद्ध हैं तिन्होंने असोस दीना । पाव सहित अग्रहंत सिद्ध को नमस्कारकरि परम कांति को धरता संता महा मंगलरूप पितासों विदा होवेको आया सो पिताने अरु माताने मंगल के भयतैं आंमू न काड़े, आशीर्वाद दिया । हे पुत्र ! तेरी विजय होव, छाती सों लगाय मस्तक चूम्या ।

पवनजयकुमार श्री भगवान का ध्यान अरु माता पिता को प्रणाम करि जे परिवार के लोग पायनि पड़े तिनको बहुत धैर्य बंधाय सबसे अति स्नेह कर विदा भए । पहले अपना दाहिना पांच आर्घ धर चले । फुरक है दाहिनी मुआ जिनकी अरु पूर्ण कलश जिनके मुख पर लाल पल्लव तिनपर प्रथम ही दृष्टि पड़ी । अरु शंभसों लगी हुई द्वार सड़ी जो अजना सुन्दरी आंमुखनिकरि भोज रहे हैं नेत्र जाके, तांबूलादिरहित घुसरे होय रहे है अधर आके, मानों घमादिये चकेरी पुतली ही है । कुमार की दृष्टि सुन्दरी पर पड़ी सो क्षणमात्रविष दृष्टि संकोच कोरकरि बोले । हे दुरीक्षणे कहिए दुःखकारी है दर्जन जाका, या स्थानकतैं जावो, तेरी दृष्टि उल्कापात समान है, सो मैं सहार न सकूं । अहो बड़े कुलकी पुत्री कुलवती ! तिनमें बड़ डीठपणा कि मनै किए भी निलंज्र ऊभी रहे । य पतिके अतिकूर वचन सुने तो भी याहि अति प्रिय लार्ग जैसै

घने दिन के तिसाए पपैये कों मेष की बूंद प्यारी लागी, सो पति के वचन मनकरि अमृत समान पीवती भई, हाथ जोड़ि चरणारविंद की ओर दृष्टि भरि गदगद बाणीकर डिगते डिगते वचन नीठि नीठि कहती भई—हे नाथ ! जब तुम यहां विराजते हुते, तबहुँ मैं वियोगिनी ही हुती; परन्तु आप निकट हैं सो आशाकरि प्राण कष्टतैं टिक रहे हैं, अब आप दूर पधारैं हैं मैं कैसे जीऊंगी । मैं तिहारे वचनरूप अमृत के आस्वादनकी अति आतुर, तुम परदेश कों गमन करते समय स्नेहतैं दयालु चित्त होयकर बस्ती के पशु पक्षियों को भी दिलासा करी, मनुष्यों की तो कहा बात ? सबको अमृत समान वचन कहे, मेरा चित्त तिहारे चरणारविंद विष है, मैं तिहारी अप्राप्तिकर अति दुःखी, औरनिकी श्रीमुखतैं एती दिलासा करी, मेरी औरनिके मुखतैंही दिलासा कराई होती । जब मोहि आपने सजी तब जगत मे शरण नाहीं, मरण ही है । तब कुमार ने मुख संकोचकर कोपसों कही, मर । तब यह सती खेद-खिन्न होय धरती पर गिर पड़ी । पवनकुमार यासों कुमयाही विष चले । बड़ी ऋद्धि सहित हाथी पर असवार होय सामंतों सहित पयान किया । पहले ही दिनविषै मानसरोवर जाय डेरे भए, पृष्ठ हैं वाहन जिनके, सो विद्याधरिनी की सेना देवों की सेना समान आकाशतैं उतरती संती अति शोभायमान आसती भई । कैसी है सेना ? नाना प्रकार के जे वाहन अर मत्स्य तेई हैं आभूषण जाके । अपने २ वाहनों के यथायोग्य यत्न कराए, स्नान कराए, स्नानपान का यत्न कराया ।

अथानंतर विद्या के प्रभावतैं मनोहर एक बहुल्लरा मंहुल बनाया, चौड़ा और ऊंचा सो आग मित्र सहित मंहुल ऊपर विराजे ? संग्राम का उपज्या है अति हर्ष जिनके, भरोखति की जाली के छिद्रकरि सरोवर के तट के वृक्षनिकों देखते हुते, शीतल मंद सुगंध पवनकरि वृक्ष मंद मंद हालते हुते अर सरोवरविषै लहर उठती हुती, सरोवर के जीव कछुवा, मीन, मगर अर अनेक प्रकार के जलचर पर्व के धरणहारे तिनकी भुजानिकरि किलोल होय रही हैं । उज्ज्वल स्फटिकमणि समान निर्मल जल है जामें नाना प्रकार के कमल फूल रहे हैं, हंस, कारंड, कौच, सारस इत्यादि पक्षी सुन्दर शब्द कर रहे हैं जिनके सुनने तैं मन अर कर्ण हर्ष पावैं अर अमर गुंजार कर रहे हैं । तहां एक चकवी, चकवे जिना अकेली विधोयरूप अग्नितैं तप्तायमान अति आकुल, नाना प्रकार चेष्टा की करणहारी, अस्ताचल की ओर सूर्य गया सो वा तरफ लग रहे हैं नेत्र जाके अर कमलिनी के पत्रनिके छिद्रों विषै बारंबार देखैं हैं, पांखनिकों हलावती उठैं हैं अर पड़ैं हैं ।

अर मृगाल कहिए कमल की नाल का तार ताका स्वाद विष-समान देखैं हैं, अपना प्रतिबिम्ब जलविषै देखकरि जानैं हैं कि यह मेरा प्रीतम है,

सो ताहि बुलावै है सो प्रतिश्रुति कहा आवै । तदि अप्राप्ति ते परम शोक को प्राप्त भई है । कटक आर्य उत्तर्या है सो नाना देशनिके मनुष्यों के शब्द भर हाथी घोड़ा आदि नाना प्रकार के पशुपति के शब्द सुनकर अपने बल्लभ चक्रवा की आशा कर भ्रम है चित्त, जाका, अश्रुपात सहित है लोचन जाके, तट के वृक्ष पर चढ़ि चढ़िकरि दशों दिशा की और देखै है, प्रीतम कों न देखकरि अति शीघ्र ही भूमिपर आय पड़ै है, पाँख हलाय कमलिनी को जो रज शरीर के लागी है सो दूर करै है सो पवनकुमार ने बनीबेर तक दृष्टि धारि चक्रवी की दशा देखी, दयाकर भीज गया है चित्त जाका, चित्त में ऐसा विचारै है कि प्रीतम के वियोग करि यह शोक रूप अग्निवियै बलै है ।

यह मनोज मानसरोवर और चंद्रमा की चादनी चंदन-समान शीतल सो या वियोगिनी चक्रवी कों दावानल समान है, पति बिना याकों कोमल पल्लव भी खड्ग समान भासै है । चन्द्रमा की किरण भी वज्र के समान भासै है, स्वर्ग हू नरकरूप होय आचरे है । ऐसा चितवनकर याका मन प्रिया विपै गया । और या मानसरोवर पर ही विवाह भया हुता सो वे विवाह के स्थानक दृष्टि में पड़े सो याको अति शोक के कारण भाग्य मर्म के भेदनदारे दुःख करौत समान लागे । चित्तविषै विचारता भया—हाय ! हाय ! मैं कूरचित्त पापी, वह निर्दोष वृथा तजी, एक शत्रु का वियोग चक्रवी न सहार सकै तो बाईस-वयं का वियोग वह महासुन्दरी कंसै सहारै ? कटुक वचन बाकी सखीने कहे हुते, बाने तो न कहे हुते, मैं पराए दोषकरि काहे को ताका परित्याग किया । धिक्कार है सो सारिखे मूर्ख को, जो बिना विचारै काम करै ।

ऐसे निष्कमट प्राणी को धिका कारण दुःख अवस्था करी, मैं पापचित्त हूँ, वज्र समान है हृदय मेरा जो मैंने एते वयं ऐसी प्राणवल्लभा को वियोग दिया, अब क्या करूँ, पितासों विदा होयकर धरतै निकस्या हूँ, कँधे पाछा जाऊँ, बड़ा संकट पड्या, जो मैं वासों मिले बिना संग्राम में जाऊ तो वह जीवै नाहीं और बाके अभाव भये मेरा भी अभाव होगया, जगत विषै जीतव्य समान कोई पदार्थ नाहीं तालै सर्व संदेह का निवारणद्वारा मेरा परम मित्र प्रहस्त विद्यमान है वाहि सर्वभेद पूछूँ । वह सर्वप्रीति की रीति में प्रवीण है । जे विचार कर कार्य करै हैं, ते प्राणी सुख पावै हैं ऐसा पवनकुमार कों विचार उपज्या सो प्रहस्त मित्र ताके सुखविषै सुखी दुखविषै दुखी याकों चित्तवान देख पूछता भया कि हे मित्र ! तुम रावण की मदद करने को वरुण सारिखे योधासों लड़ने को जावो हो, सो अति प्रसन्नता चाहिये तब कार्य की सिद्धि होय । आज तिहारा वदन रूप कमल क्यों मुरझाया दीखै है, लज्जा को

जबकि मोहि कहो, तुमको चितावान देखकर मेरे व्याकुल भाव गया है । तब पवनंजय ने कहा—हे मित्र ! यह वार्ता काहू सो कहनी नाहीं । परन्तु हम भरे सर्व रहस्य के भाजन हो तोमूं छतर नाहीं । यह बात कहते परम अजना उपजै है । तब प्रहस्त कहत भये जो तिहारे वित्त बिपै होय सो कहो, जो तुम आज्ञा करो सो बात और कोई न जानेगा, जैसे ताते लोहे पर पड़ी जलकी बुंद बिनाय जाय, प्रकट न दोखै, तैसे मोहि कही बात प्रकट न होय ।

तब पवनकुमार बोले—हे मित्र ! सुनो—मैं कदापि अजना-सुन्दरीसों प्रीति न करे सो अब मेरा मन अति व्याकुल है, मेरी भूरता देखो ऐसे वर्षे परसे आप सो अब तक विगोच रह्या, निष्कारण अप्रीति भई, सदा वह शोकभी गरी रही । अश्रुमान भरते रहे अर चलते समय द्वारे गड़ी त्रिरह रूप दाहसों पुराया गया है मुन्य रूप कमल जाका, सर्व लावण्य सौंदर्यहल मैंने देखी, अब ताके दीर्घ नव नीलकमल समान सेश हृदयको वागवन् भेई है, ताते ऐसा उभावकर जाकरि मेरा वासों मिलाय होय । हे सज्जन ! जो मिलाय न हो यना सो हम दोनों का ही मरण होयगा । तब प्रहस्त क्षणएक विचारकार बोले—तुम माता पितासों आज्ञा मांग शत्रु के जीतने को निकस हो, ताते पीछे चलना उचित नाहीं अर अब तक कदापि अजना-सुन्दरी याद करी नाहीं अर यहां बुलावै तो अजना उपजै है ताते गोप्य चलना अर गोप्य ही आवना, वहां रहना नाहीं । उनका अवलोकन कर सुख संभाषण करि आनंद रूप शीघ्र ही आवना । तब आपका चित्त निश्चल होयगा । परम उत्साहरूप चलना, शत्रु के जीतने का निश्चय किया सो यही उपाय है । तब मुद्गर नामा सेनापति को कटक रक्षा सौंपकरि मेरुकी बंदनाका मितकरि प्रहस्त मित्र सहित गुप्त ही सुसंधादि सामग्री लेय करि आकाशके मार्गसों चले । सूर्य भी अस्त होय गया अर सांभका प्रकाश भी गया, निशा प्रगट भई अजनासुन्दरी के महल पर जाय पहुँचे । पवन कुमार तो बाहिर खड़े रहे, प्रहस्त खबर देखेसों भीतर गए, दीपक का मंद प्रकाश था, अजना कहती भई कौन है ? वसंतमाला निकट ही सोनी हुनी, मा जगदी, वह सब आतीविपै निपुण उठकर अजनाका भय निवारण करत भई । प्रहस्तने नमस्कारकरि जब पवनंजय के आगमनका वृत्तान्त कथ्य तब सुन्दरी प्राणनाथ का समागम स्वप्न समान जान्या, प्रहस्त को गदगद वाणीकरि कहती भई हे प्रहस्त ! मैं पुण्यहीन पतिकी कृपाकरि वर्जित, मेरे ऐसा ही पाप कर्मका उदय आया, तू हमसों कहा हसै है, पतिसों जिसका निरादर होय बाकी कौन अवज्ञा न करै ? मैं अभागिनी दुःख अवस्थाकों प्राप्त भई, कहाँतें सुख अवस्था होय । तब प्रहस्त ने हाथ जोड़ि नमस्कारकरि

बिनती करी—हे कल्याणरूपिणि ! हे पतिव्रते ! हमारा अपराध क्षमा करो, अब सब अशुभ कर्म भए । तिहारे प्रेमरूप गुण का प्रेरणा तेरा प्राणनाथ आया । तेरेसे अति प्रसन्न भया तिनकी प्रसन्नताकरि कहा कहा आनंद न होय, जैसे चंद्रमाके योगकरि रात्रिकी अति मनोज्ञता होय ।

तब अंजनासुन्दरी क्षण एक नीची होय रही अरु वसंतमाला प्रहस्तसों कही—हे भद्रे ! मेघ बरसै जब ही भला, तातें प्राणनाथ इनके महल पधारे सो इनका बड़ा भाग्य अरु हमारा पुण्यरूप वृक्ष फल्यो । यह बात होय रही हुती ताही समय आनंदके अश्रुपातकरि व्याप्त होय गय हैं नेथ जिनके सो कुमार पधारे ही, मानों कल्याणरूप सखी ही प्रीतमकों प्रियाके द्विग ले आई । तब भय-भीत हिरणी के नेत्र-समान सुन्दर हैं नेथ जाके ऐसी प्रिया पतिकों देव सम्मुख जाय हाथ जोड़ि सीस निवाय पांयनि पड़ी । तब प्राण वल्लभने अपने करतें सीस उठाय खड़ी करी । अमृत समान वचन कहे कि हे देवी ! क्लेश का मकर खेद निवृत्त होई । सुन्दरी हाथ जोड़ि पतिके निकट खड़ी हुती । पति ने अपने करतें कर पकड़करि सेजवर बिछाई, तब नमस्कार कर प्रहस्त तो बाहिर गए अरु वसंतमाला हू अपने स्थान जाय बैठी । पवनंजय कुमारने अपने अज्ञानतैं लज्जावान होय सुंदरीसों बारंबार कुशल पूछी अरु कही हे प्रिये ! मैंने अशुभ कर्म के उदयतैं जो तिहारा वृथा निरादर किया सो क्षमा करो । तब सुन्दरी नीचा मुखकरि मंद मंद वचन कहती भई, हे नाथ ! आपने पराभव कुछ न किया, कर्मका ऐसा ही उदय हुआ ।

अब आपने कृपा करी, अति स्नेह जनाया सो मेरे सर्व मनोरथ सिद्ध भए । आपके ध्यानकर सयुक्त मेरा हृदय सो आप सदा हृदय ही विरें विराजते, आपका अनादरहू आदर समान भास्या । या भांति अंजना सुन्दरी ने कही तब पवनंजयकुमार हाथ जोड़ कहते भए कि हे प्राणप्रिये ! मैं वृथा अपराध किया । पराए दोषतैं तुमको दोष दिया सो तुम सब अपराध हमारा विस्मरण करो । मैं अपना अपराध क्षमावने निमित्त तिहारे पायनि पकूँ है, तुम हम सों अति प्रसन्न होबो, ऐसा कहकर पवनंजयकुमारने अधिक स्नेह जनाया तब अंजना सुन्दरी पति का ऐसा स्नेह देखकरि बहुत प्रसन्न भई । अरु पति कों प्रियवचन कहती भई, हे नाथ ! मैं अति प्रसन्न भई, हम तिहारे चरणारविंदको रज है, हमारा इतना विनय तुमकों उचित नाहीं ऐसा कहकर मुखयों सेज पर विराजमान किए, प्राणनाथ की कृपाकरि प्रिया का मन अति प्रसन्न भया अरु शरीर अतिकांतिको घरता भया, दोनों परस्पर अतिस्नेहके भरे एक चित्त भए । सुखरूप जागृति रहे, निद्रा न लीनी । पिछले पहर अल्प निद्रा आई, प्रभात आ

समय होय आया तब यह पतिव्रता सेजसों उतर पति के पाय पलोटने लगी, रात्रि व्यतीत भई, सो सुप्तमें जानी माहीं । प्रातः समय चन्द्रमा की किरण फीकी पड़ गई । कुमार आनंद के भार में भर गए घर स्वामी की आज्ञा भूल गए, तब मित्र प्रहस्त ने, कुमार के हितविषै है चित्त जाका, ऊंचा शब्द कर बसंतमाला को जगाकर भीतर पड़ाई घर मंद मंद आपहु सुगंधित महलमें मित्र के समीप गए । अर कहते भए, हे सुन्दर ! उठो, अब कहा सोवो हो ? चन्द्रमा भी तिहार मुँहकी कान्तिरनि रहित होय गया है । यह बचन सुनकर पवनजय प्रबोध को प्राप्त भए । शिथिल है शरीर जिनका, जंभाई लेते, निद्रा के आवेश करि लाल हैं नेत्र जिनके, कानोंको बाँध हाथ की तर्जनी अंगुलीसों खुजावते, खुले हैं नेत्र जिनके, दाहिनी भुजा संकोचकरि अरिहंतका नाम लेकर सेजसों उठे, प्राणप्यारी आपके जगनेत पहिले ही सेजसों उतरकरि भूमिषियै विराजै है, लज्जाकर नम्रीभूत हैं नेत्र जाके, उठते ही प्रीतम की दृष्टि प्रियापर पड़ी । बहुरि प्रहस्तको देखकरि, "आवो मित्र" शब्द कहकर सेजसों उठे । प्रहस्त ने मित्रसों रात्रि की कुशल पूछी, निकट बैठे, मित्र नीतिशास्त्रके वेत्ता कुमारसों कहते भए कि हे मित्र ! अब उठो, प्रियाजी का सम्मान बहुरि आयकर करियो, कोई न जाने या भाति कटक में जाय पहुँचै अन्यथा लजा है । रथतुपुरका बनी किन्नरगीत नगर का धनी रावण के निकट गया चाहै है सो तिहारी ओर देखै है । जो वे आगै आवैं तो हम मिलकर चलैं । अर रावण निरतर मन्त्रियोंतें पूर्ण है जो पवनजयकुमारके धरे कहां हैं अर कब आवेंगे, तातैं अब आप भीष्ट ही रावण के निकट गधारो । प्रियाजीसों विदा मांगो, तुमकों पिता की अर रावण की आज्ञा अवश्य करनी है । कुशल क्षेमसों कार्यकर शिताव ही आवेंगे तब प्राणप्रियासों अधिक प्रीति करियो ।

तब पवनजय ने कही, हे मित्र ! ऐसे ही करना । ऐसा कहकर मित्रकी तो बाहिर पठाया अर आप प्राणवल्लभासों अलिस्नेहकर उरसों नगाय कहते भए हे प्रिये ! अब हम जाय हैं, तुम उद्वेग मत करियो, थोड़े ही दिलोंमें स्वामी का कामकर हम आवेंगे, तुम आनंदसों रहियो । तब अजनासुन्दरी हाथ जोड़कर कहती भई, हे महाराजकुमार ! मेरा अस्तुसमय है सो गर्भ मोहि अवश्य रहेगा । अर अबतक आपकी कृपा नाहीं हुती, यह सब जानै हैं सो माता पितासों मेरे कल्याण के निमित्त गर्भका वृत्तांत कह आवो । तुम दीर्धदर्शी सब प्राणियोंमें प्रसिद्ध हो । ऐसे जब प्रियाने कहा तब प्राणवल्लभाकों कहते भए । हे प्यारी ! मैं माता पितासों विदा होय निकल्या सो अब उनके निकट जाना बनें नाहीं, सजा उपजै है । लोक मेरी चेष्टा जान हंसेंगे, तातैं जब तक तिहारा

गर्भ प्रकाश न पावै ताके पहिले ही मैं आऊँ हूँ, तुम चित्त प्रसन्न राखो और कोई कहै तो ये मेरे नाम की मुद्रिका राखो, हाथों के कड़े राखो, तुमको सब शांति होगी, ऐसा कहकर मुद्रिका दई और वसंतमाला को आजा दई इनकी सेवा बहुत नीके करियो, आप पेजसों उड़े, प्रिया निषेँ लगा रहा है प्रेम जिनका, कैसी है सेज ? संयोग के योगतैं बिखर रहे हैं हार के मुक्तकल जहां और पुष्प-निकी सुगंध मकरंदतैं भ्रमै हैं भ्रमर जहां । क्षीरसागर की तरंग समान अति उज्ज्वल बिछे हैं पट जहां, आप उठकर मित्र के सहित विमान पर बैठि आकाशके मार्ग चाले । अंजना सुंदरी ने अमंगल के कारण प्रांसू न आड़े । हे श्रेणिक ! कदाचित् या लोकविषे उत्तम वस्तु के संयोगतैं किंचित् सुख होय है सो अणभंगुर है और देहधारियों के पाप के उदयतैं दुःख होय है, सुख-दुःख दोनों विनश्वर हैं, तातैं हर्ष विषाद न करना । हो प्राणी हो ! जीवों को निरंतर सुख का देनहार दुःखरूप अंधकार का दूर करणहारा जिनवर-भाषित धर्म सोई भया सूर्य ताके प्रतापकरि मोह-तिमिर हरहु ।

इति श्रीरविशेषाचार्यविरचित महापद्मपुराण संस्कृत ग्रन्थ ताकी
भाषावचनिका विषे पवनंजय अंजनाका संयोग वर्णन करने वाला
सोलहवां पर्व पूर्ण भया ॥१६॥

[अंजना के गर्भ का प्रगट होना और सासू द्वारा घर से निकाला जाना]

अथानंतर कैयक दिनों विषे महेंद्र की पुत्री जो अंजना ताके गर्भ के चिन्ह प्रगट भए । कछुइक सुख पांडुवर्ण होय गया मानों हनुमान गर्भ में आया सो तिनका यश ही प्रगट भया है । मंद चाल चलने लगी जैसा मदोन्मत्त दिग्गज बिचरै है, स्तन युगल अति उन्नति को प्राप्त भए, श्यामलीभूत है अग्रभाग जिनके, आलसतैं बचन मंद मंद निसरै, भौहों का कंप होता भया, इन लक्षण-निकरि ताहि सासू गर्भिणी जानकर पुछती भई कि तैने यह कर्म कौनतैं किया । तब यह हाथ जोड़ प्रणाम कर पति के आवने का समस्त वृत्तांत कहती भई तदि केतुमती सासू क्रोधाग्रमान भई । महा निदुर वारणीरूप पाषाण कर पीडती भई और कहा हे पापिनि ! मेरा पुत्र तेरेतैं अति विरक्त, तेरा आकार भी न देख्या चाहै, तेरे शब्द को श्रवणविषे धारै नाहीं, माता-पितासों विदा होयकर रणसं

ग्राम को बाहिर निकल्या, वह धीरे धीसे तेरे मंदिरमें प्रार्थन, हे निर्लज्ज ! धिक्कार है तुझ पापनकों । चंद्रमाकी किरण समान उज्ज्वल वंशकों दूषण लगावनहारी, यह दोनों लोक मैं निज अशुभक्रिया लैनें आचरी अर तेरी यह सखी वसंतमाला याने तोहि ऐसी बुद्धि दीनी, कुलटाके पास बेश्या रहै सब काहेकी कुशल ? मुद्रिका अर कहे दिखाए तो भी ताने न मानी, अत्यंत कोप किया । एक क्रूर नामा किकर बुलाया । वह नमस्कार कर आय ठाढ़ा भया । तब क्रोध कर केतुमतीने लाल नेत्र कर कहा, हे क्रूर ! सखी सहित याहि गाड़ी में बैठाय महेंद्रनगरके निकट छोड़ आवो । तब क्रूर केतुमती की आज्ञातें सखी सहित अंजना को गाड़ी में बैठाकर महेंद्रनगर की ओर ले चल्या । कौसी है अंजना सुन्दरी ? अति कांक्षी है शरीर जाका, महा पवनकर उपड़ी जो बेल ता समान निराश्रय, अति आकुल कांतिरहित दुःखरूप अग्निकर जल गया है हृदय जाका, भयंकर सासूकों कटु उत्तर न दिया, सखीकी ओर धरे हैं नेत्र जानै, मनकर अपने अशुभ कर्मको चारंवार निदती अश्रुधारा नाखती, निश्चल नहीं है चित्त जाका, सो क्रूर इनको लेय चाल्या सो क्रूरकर्मविधिं अति प्रवीण है । दिवसके अंतमें महेंद्रनगरके समीप पहुंचाय कर नमस्कार कर मधुर वचन कहता भया । हे देवी ! मैं अपनी स्वामिनी की आज्ञातें तुमको दुःख का कारण कार्य किया, सो क्षमा करहु । ऐसा कहकर सखी सहित सुन्दरीकुं गाड़ीतें उतार बिदा होय गाड़ी लेय स्वामिनीपै गया । जाय विनती करी-आपकी आज्ञा प्रमाण तिनकुं तहां पहुंचाय आया है ।

अथानंतर महा उत्तम महा पतिव्रता जो अंजनासुन्दरी ताहि पतिके योगतें दुःख के भारतें पीड़ित देख सूर्य भी मानो चिंताकर मंद होय गया अर रुदनकर अत्यंत लाल होय गए हैं नेत्र जाके, ऐसी अंजना सो मानो याके नेत्र की अक्षयता कर पश्चिमदिशा रक्त होय गई, अंधकार फैल गया, रात्रि भई, अंजना के दुःखतें निकसी जो आंसून की धारा तेई भए मेघ तिनकर मानों दसों दिशा श्याम होय गई अर पंछी कोलाहल शब्द करते भए सो मानों अंजनाके दुःखतें दुःखी भए पुकारें हैं । वह अंजना अपवादरूप महादुःख का जो सागर तामें डूबी शुषादिक दुःख भूल गई अत्यंत भयभीत अश्रुपात नाखै, रुदन करै, सो वसंतमाला सखी वैन बंधार्य, रात्री को पल्लव का सांथर बिछाय दिया सो याकों निद्रा रंज भी न आई । निरंतर उष्या अश्रुपात पड़ै सो मानों दाहके भयतें निद्रा भाज गई, वसंतमाला पांव दाबै, खेद दूर किया, दिलासा करी, दुःखके योगकर एक रात्री वर्ष बराबर बीती । प्रभात में सांथरेको तजकर नाना संकल्प विकल्पनिके संकड़ानि शंका करि अति विह्वल पिता के घर की

और चाली । सखी छाया समान संग चाली । पिता के मन्दिर के द्वार जाय पहुँची । भीतर प्रवेश करती द्वारपाल ने रोकी, दुःख के योगतैं और ही रूप होय गया सो जानी न पड़ी । तब सखी ने सब वृत्तान्त कह्या सो जानकर शिलाकवाट नामा द्वारपाल ने एक और मनुष्य कों द्वारे मेसि आय राजा के निकट जाय नमस्कार करि विनती करी । पुत्री के प्रागमन का वृत्तान्त कह्या ।

तब राजा के निकट प्रसन्नकीर्ति नामा पुत्र बैछ्या हुता सो राजा ने पुत्र को आज्ञा करी—तुम सुम्मुख जाय उसका शीघ्र ही प्रवेश करावो, तुम तो पहिले जावो और हमारी शसवारी तैयार करावो, हम भी पीछेतैं आवैं हैं, तदि द्वारपालने हाथ जोड़कर नमस्कार कर यथार्थ विनती करी । तब राजा महेंद्र लज्जाका कारण सुनकर महा कोपवान भए । अर पुत्रको आज्ञा करी कि पापिनीकुं नगरमें तैं काढ़ देवो, जाकी वार्ता सुनकर मेरे कान मानों वज्र कर हते गए हैं । तब एक महोत्साह नामा बड़ा सामंत, राजा का अतिवल्लभ, सो कहता भया, हे नाथ ! ऐसी आज्ञा करनी उचित नहीं, वसंतमालासों सब ठीक पाइ लेहु । सासू केतुमती अति क्रूर है अर जिनधर्मतैं परान्सुख है । लौकिकसूत्र जो नास्तिकमत साविधैं प्रवीण है तानैं बिना विचार्या झूठा दोष लगाया । यह धर्मात्मा श्रावकके अतकी शरणहारी, कल्याण आचार विधैं तत्पर पापिनी सासू ने निकासी है अर तुम भी निकासो तो कौनके शरण जाय, जैसे व्याघ्रकी दृष्टितैं मृगी आसकों प्राप्त भई संती महा गहन बनका शरण लेय, तैसे यह भोलो निष्कपट सासूतैं शंकित भई तुम्हारे शरण आई है, मानों जेठके सूर्य की किरण के संतापतैं दुःखित भई महावृक्षरूप जो तुम सो तिहारे आश्रय आई है । यह गरोबिनी, विह्वल है आत्मा जाका अपवादरूप जो आताप ताकर पीड़ित तिहारे आश्रय भी साता न पावै तो कहाँ पावै ? मानों स्वर्ग तैं लक्ष्मी ही आई है । द्वारपाल ने रोकी सो अत्यंत लज्जा कों प्राप्त भई । धिलखि करि माथा ढांकि द्वारे खड़ी है, आपके स्नेह कर सदा लाइली है, सो तुम दया करो, यह निर्दोष है, मंदिर मांहि प्रवेश करावो अर केतुमती की क्रूरता पृथ्वी विषैं प्रसिद्ध है । ऐसे न्याय रूप वचन महोत्साह सामंत ने कहे, सो राजा कान न धरै, जैसे कमलोंके पत्रनिविधैं जलकी बूंद न ठहरै तैसे राजा के चित्त में यह बात न ठहरी ।

राजा सामंत सों कहते भए कि यह सखी वसंतमाला सदा आपके पास रहै अर याही के स्नेह के योगतैं कदाचित् सत्य न कहे तो हमको निश्चय कैसे आवैं, यार्त आपके शील विषैं संदेह है, सो आपको नगरतैं निकास देहु । जत्र यह

बात प्रसिद्ध होगी तो हमारे निर्मल कुल विषे कलंक आवेगा । जे बड़े कुलकी बालिका निर्मल हैं अर महा विनयवती उत्तम चेष्टाकी धरणाहारी हैं ते पीहर सासुरै सर्वत्र स्तुति करने योग्य हैं । जे पुण्याधिकारी बड़े पुरुष जन्म ही तैं निर्मल शील पालैं हैं, ब्रह्मचर्य को धारण करैं हैं अर सर्व दोष का मूल जो स्त्री तिनको अंगीकर नाहीं करैं हैं ते धन्य हैं । ब्रह्मचर्य समान और कोई व्रत नाहीं अर स्त्री के अंगीकार में यह सफल नाहीं होय है । जो वृषूत बेटा बेटी होय अर उनके अवगुण पृथ्वी विषे प्रसिद्ध होय तो पिताका धरतीमें गड़ जाना होय है । सब ही कुल की लज्जा उपजै है, मेरा मन आज अति दुःखित होय रह्या है, मैं यह बात पूर्व अनेक बार सुनी हूँ जो यह भरतार के अप्रिय है अर वह याहि ओखत नाहीं देखैं हूँ । सो ताकारि गर्भकी उत्पत्ति कैसे भई, तातैं यह निश्चय सेती संदोष है । जो कोई याहि मेरे राज्य में राखेगा सो मेरा शत्रु है । ऐसे वचन कहकर राजा ने कोपकर जैसे कोई जानें नाहीं या भांति याकों द्वारातें निकाल दीनी ।

सखी सहित दुःखकी भरी अंजना राजाके निज वर्ग के जहाँ जहाँ आश्रय के अधि गई, सो आने न दीनी, कपाट दिए । जहाँ बाप ही कोषायमान होय निराकरण करै, तहाँ कुटुम्ब की कमी याशा, जे तो सब राजा के अधीन हैं । ऐसा निश्चयकर सबतैं उदास हो सखीसों कहती भई । आंसुवों के समूहकर भीज गया है अंग जाका, हे प्रिये ! यहाँ सर्व पाषाण चित्त हैं, यहाँ कैसा बास ? तातैं बन में चालैं, अपमानतैं तो सरना भला । ऐसा कहकर सखी सहित बन को चाली, मानों मृगराजतैं भयभीत मृगी ही है । शीत उष्ण अर बात के खेदकरि पीड़ित बन में बैठि महा रुदन करती भई । हाय हाय ! मैं संदभंगिनी दुःखदर्शि जो पूर्वोपाजित कर्म ताकरि महाकष्टको प्राप्त भई । कौनके धरणा जाऊँ ? कौन मेरी रक्षा करै । मैं दुर्भाग्य सागरके मध्य कौन कर्मतैं पड़ी । नाथ ! मेरा अशुभ कर्मका प्रेरणा कहाँतैं आया ? काहेको गर्भ रह्या, मेरा दोनों ही ठौर निरादर भया । माता ने भी मेरी रक्षा न करी, सो वह कहा करै । अपने बनी की आज्ञाकारिणी पतिव्रतानिका यही धर्म है । अर नाथ मेरा यह वचन कह गया हूँ कि तेरे गर्भकी वृद्धितैं पहिले ही मैं आऊँगा सो हाय वह वचन क्यों भूले ? अर सासू ने बिना परखे मेरा त्याग क्यों किया ? जिनके शील में संदेह होय तिनके परखने के अनेक उपाय हैं अर पिताको मैं बाल-अवस्था विषे अति लाडली हुनी, निरंतर गोदमें खिलावते हुते सो बिना परखे मेरा निरादर किया, इनको ऐसी वृद्धि क्यों उपजी ? अर माताने मुझे गर्भमें धारी, प्रतिपाल किया, अब एक बात भी मुझतैं न निकाली कि इसके गुण दोष का निश्चय कर लैवैं ।

अर भाई जो एक माताके उदरसे उत्पन्न भया हुता, सोहू मो दुःखिनी को न राख सक्या, सब ही कठोर चित्त होय गए । जहां माता पिता आता ही की यह दशा, सहो काका बाबा के दूर भाई तथा प्रधान सामंत कहा करे अथवा उन सबका कहा दोष ? मेरा जो कर्मरूप वृक्ष फल्यो सो अवश्य भोगना । या भांति अंजना विलाप करे सो सखी भी याके लार विलाप करे । मनतें धैर्य जाता रह्या, अत्यंत दीन मन होय ऊंचे स्वरतें रुदन करे सो भृगी भी याकी दशा देख आसू डालवे लागी । बहुत देरतक रोनेतें लाल होय गए हैं नेत्र जाके तब सखी वसंतमाला महाविचक्षण याहि छातीसूं लगाय कहती भई—हे स्वामिनि ! बहुत रोनेतें क्या लाभ ? जो कर्म तेंगे उपाज्या है सो अवश्य भोगना है, सब ही जीवनिके कर्म प्रागे पीछे लग रहे हैं सो कर्मके उदयविषे शोक कहा ? हे देवी ! जो स्वर्ग लोक के देव सैकड़ों अप्सराओं के नेत्रनिकर निरंतर अवलोकिए है, तेह मुकुटके अंत होते परम दुःख पावै है । मनमें चितए कछु और, होय जाय काहु धीर ।

जगतके लोक उद्यम में प्रवर्तें हैं तिनको पूर्वोपाजित कर्मका उदय ही कारण है । जो हितकारी वस्तु प्राय प्राप्त भई सो अशुभकर्म के उदयतें विघटि जाय । अर जो वस्तु मनतें अशोचर है सो प्राय मिलै । कर्मनिकी गति विचित्र है तातें हे देवी ! तू गर्भके खेदकरि पीड़ित है, वृथा क्लेश मत कर, तू अपना मन हड़ कर । जो तेंगे पूर्व जन्म में कर्म उपार्ज हैं तिनके फल टारे न टरे । अर तू तो महा बुद्धिमती है तोहि कहा सिखाऊँ । जो तू न जानती होय तो मैं कहूँ, ऐसा कहकर याके नेत्रनिके आसू अपने वस्त्रतें पोछे । बहुरि कहती भई—हे देवी ! यह स्थानक आश्रय रहित है, तातें उठो, प्रागे चालें, या पहाड़ के निकट कोई गुफा होय जहां दुष्ट जीवनिका प्रवेश न होय, तेरे प्रभूतिका समय आया है सो कईएक दिन यत्नसूं रहना । तब यह गर्भके भारतें जो आकाशके मार्ग चलनेमें हू असमर्थ है तो भूमिपर सखीके संग गमन करती महा कष्टकरि पांव धरती भई । कैसी है बनी ? अनेक अजगरनितें भारी, दुष्ट जीवनिके नादकरि अत्यंत भयानक, अति सघन, नाना प्रकार के वृक्षनिकर सूर्यकी किरणका भी संचार नाहीं, जहां सूर्यके अग्रभाग समान डामकी अली घति तीक्ष्ण, जहां ककर बहुत अर माते हाथीनिके समूह अर भीलों के समूह बहुत हैं अर बनी का नाम मातंगमालिनी है, जहां मनकी भी गम्भ्यता नाहीं तो तनकी कहा गम्भ्यता ? सखी आकाशमार्गतें जायवेको समर्थ अर यह गर्भ के भारकरि समर्थ नाहीं तातें सखी याके प्रेम के बन्धनसों बंधी शरीरकी छाया समान लार लार बाल है । अंजना बनी को अति भयानक देखकर कांप है, दिशा भूल गई ।

हाकवि दौलतराम कासलीवाल—व्यक्तित्व एवं कृतित्व

तब वसंतमाला याकों अति व्याकुल जानि हाथ पकड़ि कहती भई, हे स्वामिनि ! तू डरै मत, मेरे पीछे पीछे चली आवो ।

तब यह सखीके कांधे हाथ मेलि चली जाय, ज्यों ज्यों डाम की अणी चुभै त्यों त्यों अति खेदविष होय, विलाप करती, देहकों कण्ठतँ धारती, जलके नीभरने जे अति तीव्र वेग संयुक्त बहै तिनकों अति कण्ठतँ पार उतरती, अपने जे सब स्वजन अति निर्दई तिनका नाम चितार अपने अशुभ कर्मकों बारंबार निदती, बेलों को पकड़ भयभीत हिरणी कैसे हैं नेत्र जाके, अंगविषै पसेब को धरती, कांटों से वस्त्र लयि जाय सो छुड़ावती, लहूतें लाल होय गए हैं चरण जाके, शोकरूप अग्निके दाहकरि ध्याम ताकों धरती, पत्र भी हार्ल तो त्रासकों प्राप्त होती, चलायमान है शरीर जाका, बारंबार विश्राम लेती, ताहि सखी निरंतर प्रिय वाक्य कर घेय बंधावै, सो घोर घीरे अंजना पहाड़ीकी तलहटी आई, तहां आंसू भर कर बैठ गई । योंसों कहती भई तब बुझमें एक पग धरने की शक्ति नाहीं, यहां ही रहूंगी, मरण होय तो होय । तब सखी अत्यंत प्रेमकी भरी महा प्रवीण मनोहर बचननिकरि याकों शांति उपजाय नमस्कार-करि कहती भई—हे देवी ! यह गुफा नजदीक ही है, कृपाकर इहांतें उठकर वहां सुन्नसों तिष्ठो, यहां क्रूर जीव विचरै हैं, ताकों गर्भकी रक्षा करनी है, तातैं हठ भक्तिकर ।

ऐसा कह्या तब वह आताप की भरी सखी के बचनकरि अर सघन वनके भयकरि चलनेको उठी, तब सखी हस्तावलंबन देयकर याकों विषमभूमितें निकासकर गुफाके द्वारपर लेय गई । बिना विचारे गुफामें बैठने का भय होय सो ये दोनों बाहिर खड़ी विषम पाषाण के उत्संधवे कर उपज्या है खेद जिनको तातैं बैठ गई । तहां दृष्टि धर देख्या । कैसी है दृष्टि ? श्याम श्वेत आरक्त कमल समान प्रभाकों धरै से एक पवित्र झिलापर विराजे चारणमुनि देखे । वर्यंकासन धरे अनेक श्रद्धा संयुक्त निश्चल हैं श्वासीच्छवास जिनके, नासिकाके अग्र भागपर धरी है सरल दृष्टि जिनके, शरीर स्तंभ समान निश्चल है, गोदपर धर्या को बांमा हाथ ताके ऊपर दाहिना हाथ, समुद्र समान गंभीर, अनेक उपमा सहित विराजमान आत्मस्वरूप का जो यथार्थ स्वभाव जैसा निजशासन-विषै गाया है तैसा ध्यान करते, समस्त परिग्रह रहित पवन जैसैं असंगी, आकाश जैसैं निर्मल, मानों पहाड़के शिखर ही हैं सो इन दोनों ने देखे । कैसे हैं वे साधु ? महापराक्रम के धारी, महाशांत ज्योतिरूप है शरीर जिनका । ये दोनों मुनि के समीप गई । सर्व दुःख विस्मरण भया । तीन प्रदक्षिण देय हाथ

जोड़ि नमस्कार किया, मुनि परम बाँधव पाए, फूल गए हैं नेत्र जिनके, जा समय जो प्राप्ति होनी होय सो ये दोनों हाथ जोड़ विनती करती भई मुनिके चरणारविन्दकी ओर धरे हैं अश्रुपातरहित स्थिर नेत्र जिनके । हे भगवाद् ! हे कल्याणरूप हे उत्तम चेष्टा के धरणाहारे । तिहारे शरीरमें कुशल है । कैसा है तिहारा देह ? सर्व तपव्रत आदि साधनेका मूलकारण है । हे गुणनि के सागर ! ऊपरां ऊपर तपकी है वृद्धि जिनके, हे महाक्षमावान ! शांतभावके धारी ! मन इन्द्रियोंके जीतनहारे ! तिहारा जो विहार है सो जीवनिके कल्याणनिमित्त है, तुम सारिखे पुरुष सकल पुरुषनिकों कुशलके कारण हैं सो तिहारी कुशल कहा पूछनी परन्तु यह पूछने का आचार हैं तातैं पूछी है, ऐसा कहि विनयतैं नम्रीभूत भक्त है शरीर जिहका सो पूछ हो रही अर मुनि के दर्शनतैं सर्व भय रहित भई ।

अथानंतर मुनि अभृततुल्य परमशान्ति के वचन कहते भये—हे कल्याण-रूपिणि ! हे पुत्री ! हमारे कर्मानुसार सब कुशल है । ये सर्वही जीव अपने कर्मोंका फल भोगवें हैं । देखो कर्मनिकी विचित्रता, यह राजा भर्हेंद्र की पुत्री अपराध रहित कुटुम्बके लोगनिने काही है । सो मुनि बड़े जानी, बिना कहे सब वृत्तांत के ज्ञाननहारे तिनको नमस्कार कर वसंतमाला पूछती भई—हे नाथ ! कौन कारणतैं भरतार यासों बहुत दिन उदास रहे ? बहुरि कौन कारण अनु-रागी भए अर यह महासुखयोग्य वन विषैं कौन कारणतैं दुःखकों प्राप्त भई ? मंदभागी कौन याके गर्भ में आया जाकरि याकों जीवने कासंश भया । तदि स्वामी श्रमितिगति तीन ज्ञान के धारक सर्व वृत्तांत यथार्थ कहते भए । यही महा पुरुषों की वृत्ति है जो पराया उपकार करें । मुनि वसंतमाला सो कहै हैं—हे पुत्री ! याके गर्भविषैं उत्तम बालक आया है, सो प्रथम तो ताके भव सुनि । बहुरि जो पूर्व भव में पापका आचरण किया, जा कारणतैं यह श्रंजना ऐसे दुःखकों प्राप्त भई, सो सुन ।

× × × × ×

[राम लक्ष्मण का वन गमन और भरत का राज्याभिषेक]

अथानंतर राम लक्ष्मण क्षण एक निद्रा कर अर्धरात्रि के समय जब मनुष्य सोय रहे, लोकनिका शब्द मिट गया अर अंधकार फैल गया तो समय भगवान्‌कूँ नमस्कार कर बखतर पहिर धनुष बाण लेय सीताकूँ बीच में लेकर चाले, घर-घर दीपकनिका उधोत होय रहा है, कापीजन अनेक चेष्टा करैं हैं ।

ये दोऊ भाई महाप्रवीण नगरके द्वारकी खिड़कीकी धीरेसे निकसि दक्षिण दिशा का पथ लिया। रात्रि के अन्त में दौड़कर सामंत लोक आय मिले। राघव के संग चलने की हे अभिलाषा जिनके, दूरतैं राम लक्ष्मणकुं देख महा विनय के भरे असवारी छोड़ प्यादे आए, चरणारविंदकों नमस्कारकरि निकट प्राय वचनालाप करते भए। बहुत सेना भाई भर जानकी की बहुत प्रशंसा करते भए जो याके प्रसादतैं हम राम लक्ष्मणकों आय मिले; यह न होती तो ये धीरे धीरे न चलते भर हम कैसे पहुंचते? ये दोऊ भाई पवन-समान शीघ्रगामी हैं भर यह सीता महासती हमारी माता है, या समान प्रशंसा योग्य पृथ्वी विषैं और नाही। ये दोऊ भाई नरोत्तम सीताकी चाल प्रमाण मंद मंद दो कोस चले।

खेतनिविषैं नाना प्रकारके अन्न हरे होय रहे है भर सरोवरनिमें कमल फूल रहे हैं भर वृक्ष महारमणीक दीर्घ हैं। अनेक ग्राम नगरादि में ठौर ठौर भोजनादि सामग्री करि लोक पूजैं हैं। भर बड़े बड़े राजा बड़ी फौजसे आय मिले जैसे वर्षा कालमें गंगा जमुना के प्रवाह विषैं अनेक नदियनिके प्रवाह आय मिलैं। कैइक सामंत मार्ग के खेद करि इनका निश्चय जान राजा पाय पीछे गए। भर कैइक सजाकर, कैइक भयकर, कैइक भक्ति कर लार प्यादे चले जाय हैं सो राम लक्ष्मण क्रीड़ा करते परिधावा नामा अटवी थिपैं गूँवै। कैसी है अटवी! नाहर भर हाथीनिके समूहनिकर भरी, महा भयानक वृक्षनिकर रात्रि समान अंधकार की भरी, जाके मध्य नदी है ताके तट आए, जहां भीलनिका निवास है, नाना प्रकारके मिष्ठ फल हैं। आप तहां तिष्ठ कर कैएक राजनिकों विदा किया भर कैएक पीछे न फिरे, राम ने बहुत कहा तो भी सग ही चले सो सबल नदीको महा भयानक देखते भए। कैसी है नदी? पर्वतनिसों निकसती महानील है जल जाका, प्रचंड है लहर जामें, महा शब्दायमान अनेक जे आह मगर तिनकर भरी दोऊ डांहां विदारती, कल्लोलनिके भयकर उड़े हैं तीरके पक्षी जहां, ऐसी नदीको देखकर सकल सामंत आसकर कंपायमान होय राम लक्ष्मणकुं कहते भए कि हे नाथ! कृपाकर हमें भी पार उतारहु। हम सेवक भक्ति-वंत हमसे प्रसन्न होवो। हे माता जानकी लक्ष्मणसे कहो जो हमकुं पार उतारें या भांति घांसू डारतैं अनेक नरपति नाना चेष्टा के करणहारे नदी विषैं गड़ने लगे। तब राम बोले, अहो अब तुम पाछे फिरो।

यह वन महा भयानक है, हमारा तुम्हारा यहां लग ही संग हुता, पिता-ने भरतकुं सबका स्वामी किया है सो तुम भक्तिकर तिनकुं सेवहु। तब वे कहते भए, हे नाथ! हमारे स्वामी तुम ही हो, महादयावान हो, हमपर प्रसन्न

होवो, हमको मत छोड़ो, तुम बिना यह प्रजा निराश्रय भई, आकुलतारूप कहो कौनकी शरण जाय ? तुम समान और कौन है ? व्याघ्र सिंह और गजेंद्र सर्पादिकका भरा भयानक जो यह वन तामें तुम्हारे संग रहेंगे । तुम बिन हमारे स्वर्ग हू सुखकारी नहीं । तुम कही पाछे जावो सो चित्त फिर नहीं, कैसे जाहि ? यह चित्त सब इंद्रियनिका अधिपति याहीतैं कहिएहैं जो यह अद्भुत वस्तु में अनुराग करै । हमारे भोगनिकर घरकर तथा स्त्री कुटुम्बादिकर कहा ? तुम नररत्न हो, तुमको छोड़ कहां जाहि ? हे प्रभो ! तुमने बालक्रीडा विषै हमसों कबहू वचन न करी, अब अत्यंत निष्ठुरताकूं धारो हो । हमारा अपराध कहो । तिहोरे चरण रज कर परम वृद्धिकूं प्राप्त भए, तुम तो भृत्य-वरसल हो । अहो माता जानकी ! अहो लक्ष्मण धीर ! हम शीघ्र नवाय हाथ जोड़ विनती करै, नाथकूं हम पर प्रसन्न करहु । ये वचन सबनिने कहै, तब सीता और लक्ष्मण रामके चरणनिकी ओर निरख रहे । तब राम बोले—जाहु, यही उत्तर है । सुखसों रहियो, ऐसा कहकर दोनों धीर नदी के विषै प्रवेश करते भए ।

श्रीराम सीता का कर गह सुखसे नदीमें ले गए जैसैं कमलिनीको दिग्गज से जाय । वह असराल नदी राम लक्ष्मणके प्रभावकर नाभि-प्रमाण वहने लगी, दोऊ भाई जलविहार विषै प्रवीण क्रीडा करते चले गए । राम के हाथ गहे ऐसी शोभै मानों साक्षत लक्ष्मी ही कमलदल में तिष्ठी है राम लक्ष्मण क्षणमात्र विषै नदी पार भए वृक्षनिके आश्रय आथ गए । तब लोकनिकी दृष्टितैं अगोचर भए । तब कई एक तो विलाप करते आसूं डारते धरनिकूं गए और कई एक राम लक्ष्मण की ओर धरी है दृष्टि जिनने सो काष्ठ से होय रहे और कई एक मूर्च्छा स्थाय धरतीपर पड़े और कई एक ज्ञान को प्राप्त होय जिनदीक्षा-को उद्यम भए, परस्पर कहते भए—जो धिक्कार है या असार संसार को और धिक्कार इन क्षणभंगुर भोगनिको ! ये काले नाग के फण समान भयानक हैं । ऐसे शूरवीरनिकी यह अवस्था तो हमारी कहा बात ? या शरीरको धिक्कार ! जो पानीके बुदबुदा समान निस्तार, जरा मरण इष्टवियोग अनिष्टसंयोग इत्यादि कष्ट का भाजन है । धन्य हैं वे महापुरुष भाग्यवंत उत्तम चेटाके धारक ! जे मरकट (बन्धर) की भाँह समान लक्ष्मी को चंचल जान तजिकर दीक्षा धरते भए । या भाँति अनेक राजा विरक्त होय दीक्षा को सम्मुख भए । तिनने एक पहाड़ीकी तलहटी में सुन्दर वन देख्या, अनेक वृक्षनिकर मंडित महासघन, नानाप्रकार के पुष्पनिकर शोभित, जहाँ सुगंध के सोलुपी भ्रमर गुंजार करै हैं तहां महापवित्र स्थानक में तिष्ठते ध्यानाध्ययनविषै तीन महातप

के धारक साधु देखे । तिनको नमस्कार कर वे राजा जिननाथ का जो चैत्यालय तहाँ गए । ता समय पहाड़निके शिखर विषे अथवा रमणीक वन विषे अथवा नदीनके तट विषे अथवा नगर ग्रामदिक विषे जिन मंदिर हुते तहाँ नमस्कार करि एक समुद्र समान गम्भीर मुनिनके गुरु सत्यकेतु आचार्य तिनके निकट गए, नमस्कार कर महाशांत रस के भरे आचार्य से वीनती करते भए—हे नाथ ! हमको संसार समुद्रतँ पार उतारहु । तब मुनि कहुँ—तुमको सब नार उतारन हारी भगवती दीक्षा है सो अंगीकार करहु । मुनि की यह आज्ञा पाय ये गरम हर्षकूँ प्राप्त भए ।

राजा विदग्धविजय मेरुकूर संग्रामलोलुप, श्रीनागदमन, धीर शत्रुदमन अर विनोद कंटक, सत्यकंठोर, प्रियवर्धन इत्यादि निर्भय होते भए, तिनका गज तुरंग रयादि सकल साज सेवक लोकनि ने जाय करि उनके पुत्रादिकनिकूँ सौप्या, तब वे बहुत चितावान भए । बहुरि समझकर नाना प्रकार के नियम धारते भए । कैयक सम्यग्दर्शन कूँ अंगीकार कर संतोषकूँ प्राप्त भए, कैयक निर्मल जितेश्वरदेश का धर्म श्रवणकरि पापतँ परान्मुख भए । बहुत समयतँ राम लक्ष्मणकी वार्ता सुन साधु भए, कैयक श्रावक के श्रणुव्रत धारते भए । बहुत रानी आशिका भई, बहुत आशिका भई, कैयक सुभट राम का सर्व वृत्तांत भरत दशरथ पर जाकर कहते भए सो सुनकर दशरथ अर भरत कष्टयक खेदकूँ प्राप्त भए ।

अनंतर राजा दशरथ भरतको राज्याभिषेक कर, कष्टयक जो राम के वियोग कर व्याकुल भया हुता हृदय सो समता लाय, विलाप करता जो अंतःपुर ताहि प्रतिबोधि नगरतँ बनकूँ गए । सर्वभूतहित स्वामी को प्रणामकरि बहुत नृपति सहित जिनदीक्षा आदरी । एकाकी विहारी जिनकल्पी भए । परम शुद्ध-ध्यान की है अभिलाषा जिनके तथापि पुत्र के शोक कर कबहुँ कछु एक कलुषता उगज आवै सो एक दिन ये विचक्षण विचारते भए कि संसार के दुःख का मूल जगतका स्नेह है, इसे चिक्कार हो ! या करि कर्म बंधै हैं ! मैं अनन्त जन्म धरे तिनविषे गर्भ—जन्म के अनेक माता—पिता भाई पुत्र कहाँ गए ? अनेक बार में देवलोकके भोग भोगे । अर अनेक बार नरक के दुःख भोगे, तिर्यच गति विषे मेरा शरीर अनेक बार इन जीवनिमें भर्या, इनका मैं भर्या ; नाना रूप ये योनियाँ तिन विषे मैं बहुत दुःख भोगे । अर बहुतबार रुदनके शब्द सुने । अर बहुत बार वीणावांसुरी आदि वादित्रों के नाद सुने, गीतसुने, नृप देखे देवसौकविषे मनोहर अप्सरानिके भोग भोगे । अनेक बार मेरा शरीर नरकविषे

कुल्हाड़निकर काटा गया । अर अनेक बार मनुष्यगतिविषे महासुगन्ध महावीर्य करणहारा षट्तरस संयुक्त अन्न आहार किया । अर अनेक बार नरकविषे गला हुआ सीसा अर ताँबा नारकियोने मार मार मुके प्याया । अर अनेक बार सुर नर गतिविषे मनके हरणहारे सुन्दर रूप देखे अर सुन्दर रूप धारे । अर अनेक बार नरक विषे महा दुःखी अरे । अर अनेक प्रकार के श्राव देखे । कैयप आर राजपद देवपदविषे नाना प्रकारके सुगन्ध सूँचे तिनपर अमर गुंजर करे । अर कैयक बार नरककी महा दुर्गन्ध सूँधी । अर अनेक बार मनुष्य तथा देवगति-विषे महालीला की धरणहारी, वस्त्राभरण मंडित, मन की चोरनहारी जे नारी तिनसों आलिंगन किया । अर बहुत बार नरकविषे कूटशाल्मलि वृक्ष तिनके तीक्ष्ण कंटक अर प्रज्वलित लोह की पुतलीनि से स्पर्श किया ? या संसार विषे कर्मनिके संयोगतैं मैं कहा कहा न सूँघा, कहा कहा न सुना, कहा कहा न भसा । अर पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, असकाय विषे ऐसा देह नाही जो मैं न धरा । तीनलोकविषे ऐसा जीव नाही जामूं मेरे अनेक नाते न भए, मे पुत्र मेरे कई बार पिता भए, माता भए, शत्रु भए । ऐसा स्थानक नाही, जहां मैं न उपजा, न मूझा ।

ये देह भोगादिक अनित्य, या जगतविषे कोई शरण नाही । यह चतुर्गति-रूप संसार दुःखका निवास है, मैं सदा अकेला हूँ । ये षट्द्रव्य परस्पर सब ही भिन्न हैं; यह काय अशुचि, मैं पवित्र; ये मिथ्यात्वादि अव्यक्तादि कर्म आस्रव के कारण हैं, सम्पत्त व्रत संवमादि संवर के कारण हैं । तपकर निर्जेरा होय है । यह लोक नानरूप मेरे स्वरूपतैं भिन्न, या जगत विषे आत्मज्ञान दुर्लभ है अर वस्तु का जो स्वभाव सोई धर्म तथा जीव धर्म सो मैं महाभाग्यतैं पाया । धन्य ये मुनि जिनके उपदेशतैं मोक्षमार्ग पाया सो अब पुत्रनिकी कहा चिता ? ऐसा विचार कर दशरथ मुनि निर्मोह दशाकूं प्राप्त भए । जिन देशों में पहिले हाथी चढ़े, चमर दुरते, छत्र फिरते हुते अर महारण संग्राम विषे उद्धत बैरि-निकूं जीते हेतु तिन देशनिविषे निर्ग्रन्थ दशा धरे, बाईस परीषह जीतते, शांति-भाव संयुक्त विहार करते भए ।

अर कौशल्या तथा सुमित्रा पति के बैरागी भए अर पुत्रनिके विदेश गए महा शोकवन्ती भई, निरंतर अश्रुपात धारें, तिनके दुःखकूं देख भरत राज्य विभूति को विष समान मानता भया । अर केकई तिनकूं दुःखी देख, उपजी है कछणा जाके, पुत्रको कहती भई कि हे पुत्र ! तू राज्य पाया, बड़े बड़े राजा सेवा करे हैं परन्तु राम लक्ष्मण बिना यह राज्य शोभे नाही सो वे दोऊ भाई

महाविनयवान् उन बिना कहा राज्य अर कहा सुख अर कहा देश की शोभा अर कहा तेरी धर्मज्ञता ? वे दोऊ कुमार अर वह सीता राजपुत्री सदा सुख के भोगनहारे पाषाणोंदिककर पूरित जे मार्ग ताविषै बाहुन बिना कैसें आवेंगे ? अर तिन गुण-तमुद्रनिकी ये दोनों माता निरन्तर रुदन करै हैं सो मरणाकूँ प्राप्त होगी, तातैं तुम शीघ्रगामी तुरंग पर चढ़ शिताबी जावो, उनको ले आवो, तिन सहित महागुल्लसों चिरकाल राज करियो अर मैं भी तेरे पीछे ही उनके पास आऊँ हूँ । यह माता की आज्ञा सुन बहुत प्रसन्न होय ताकी प्रशंसा कर अति आनुर भरत हजार अश्वसहित राम के निकट चला । अर जे रामके समीप वागिस आरु हुतैं जिनका संग जे चला आरु उत तुरंग पर चढ़ा, उतावलीं चालसे वन विषै आया । वह नदी असराज बहती हुती सो तामें वृक्षनिके लठे गेर, बेड़े बांध करामात्र में सेना सहित पार उतरे, मार्ग विषै नर नारिनसों पूछते जाय जो तुम राम लक्ष्मण कहीं देखे ? वे कहै हैं, यहाँतैं निकट ही हैं । सो भरत एकाग्रचित्त चले गए । सघन वनमें एक सरोवर के तट पर दोऊ भाई सीता सहित बंठे देखे, समीप हैं अनुष बाण जिनके । सीताके साथ ते दोऊ भाई घने दिवसविषै आए । अर भरत छह दिनमें आया । रामकूँ दूरते देख भरत तुरंगतैं उतर पाय पिथादा जाय राम के पांयति पर मूर्च्छित होय गया तब राम सचेत किया । भरत हाथ जोड़ सिर नवाय रामसूँ वीनती करता भया ।

हे नाथ ! राज्य देयकेकर मेरी कहा विडम्बना करी । तुम सर्व न्याय-मार्गके जाननहारे, महा प्रवीण मेरे या राज्यकरि कहा प्रयोजन ? तुम बिना जीवैकर कहा प्रयोजन ? तुम महा उत्तम चेष्टाके धरणहारे मेरे प्राणनिके आधार हो । उठो, अपने नगर चलैं । हे प्रभो ! सो पर कृपा करहु, राज्य तुम करहु, राज्य योग्य तुम ही हो, मोहि सुखकी अवस्था देहु । मै तिहारे सिर पर छत्र फेरता खड़ा रहूँगा अर शत्रुघ्न चमर डोलैगा अर लक्ष्मण मंत्रीपद धारेगा । मेरी माता पञ्चातापरूप अग्निकर जरै है अर तिहारी माता अर लक्ष्मण की माता महाशोक करै है, यह बात भरत करै हैं ताही समय शीघ्र रथपर चढ़ी अनेक सामंतनिसहित महाशोककी भरी केकई आई अर राम लक्ष्मणकूँ उरसूँ लगाय बहुत रुदन करती भई । राम ने धैर्य ब्रंवाया ।

तब केकई कहती भई—हे पुत्र ! उठो, अयोध्या चलो, राज्य करहु, तुम बिन मेरे सकल पुर वन के समान है । अर तुम महा बुद्धिमान हो, भरतकूँ सिखाय लेहु । बहुरि हम स्त्रीजन नष्ट बुद्धि हैं, मेरा अपराध क्षमा करहु । तब राम कहते भए—हे मात ! तुम बातनि विषै प्रवीण हो, तुम कहा न

जानो हो कि क्षत्रियन का नियम है जो वचन न चूकें; जो कार्य विचार्या ताहि और भांति न करें। हमारे तात ने जो वचन कहा सो हमकूं अर तुमकूं निवाहना, या बात विषै भारत की अकीर्ति न होयगी। बहुरि भरतसू कहा कि हे भाई! तू चिंता मत करै, तू अनाचारतैं शंकै है सो पिता की आज्ञा अर हमारी आशा पालवैतैं अनाचार नाहीं। ऐसा कहकर बनविषै सब राजनिके समीप भरत का श्रीराम ने राज्याभिषेक किया कर केकईकूं प्रणाम कर बहुत स्तुति कर बारंबार संभाषण कर भरतकूं उरसूं लगाय बहुत दिलासा करी, नीटितैं विदा किया। केकई अर भरत राम लक्ष्मण सीता के समीपतैं पाछे नगरकूं चाले, भरत राम की आज्ञा प्रमाण प्रजा का पिता समान हुआ। राज्यविषै सर्व प्रजाकूं सुख, कोई अनाचार नाहीं; ऐसा निकटक राज्य तोहू भरत का अणमात्र राग नाहीं। तीनों काल श्री अरनाथ को बंदना करै है अर मुनिन के मुखतैं धर्म अवण करै; छुति भट्टारक नामा जे मुनि, अनेक मुनि करै है सेवा अिदधा, तिनके इनकट भरत ने यह नियम लिया कि राम के दर्शन भाजतैं ही मुनिव्रत धारुंगा। तब मुनि कहते भए कि— हे भव्य! कमल सारिखे हैं नेत्र जिनके, ऐसे राम जी लग न आवैं तो लग तुम गृहस्थ के व्रत धारहु। जे महारमा निर्यन्त्र हैं तिनका आचरण अति विधम है सो पहिले आवक के व्रत पालने तासूं यति का धर्म सुखसूं सघै। जब वृद्ध अवस्था आवेगी तब तप करेगे, यह वार्ता कहते हुवे अनेक जड़बुद्धि मरणाकूं प्राप्त भए। महा अमोलक रत्न समान यति का धर्म, जाकी महिमा कहने विषै न आवै ताहि जे धारै हैं तिनकी उपमा कौन की देहि। यति के धर्मतैं उतरता अवक का धर्म है जे प्रमाद रहित करै हैं ते धन्य हैं।

यह अणुव्रत हू प्रबोध का दाता है। जैसे रत्नद्वीप विषै कोऊ मनुष्य गया अर वह जो रत्न लेय सोई देशांतर विषै दुर्लभ है तैसें जिनधर्म नियमरूप रत्ननिका द्वीप है, ता विषै जो नियम लेय सोई महाफल का दाता है। जो अहिंसारूप रत्नकूं अंगीकारकर जिनवरकूं भक्तिकर अरचै सो मुर नरके सुख भोग मोक्षकूं प्राप्त होय। अर जो सत्यव्रतका धारण मिथ्यात्व का परिहारकर भावरूप पुष्पनिकी माला कर जिनेश्वरकूं पूजै हैं, ताकी कीर्ति पृथ्वी विषै विस्तरै है अर अज्ञा कोई लोप न सकै। अर जो परधन का त्यागी जिनेंद्रकूं उरविषै धारै, बारंबार जिनेंद्रकूं नमस्कार करै, वह नव निधि चौदह रत्न का स्वामी होय अक्षयनिधि पावै। अर जो जिनराज का मार्ग अंगीकार कर परगारी का त्याग करै सो सबके नयनिकूं आनंदकारी मोक्ष-लक्ष्मी का वर होय। अर जो परिग्रह का प्रमाणकर संतोष अर जिनपतिका ध्यान करै सो

लोकपूजित अर्न्त महिमाकूँ पावै । अर आहार दान के पुण्य कर महासुखी होय, ताकी सब सेवा करै । अर अभयदान कर निर्भय पद पावै, सर्व उपद्रवतैं रहित होय । अर ज्ञानदान करै केवलज्ञानी होय सर्वज्ञपद पावै । अर औषधि-दान के प्रभाव कर रोगरहित निर्भयपद पावै । अर जो रात्रिकूँ आहार का त्याग करै सो एक वर्ष विषै छह महीना उपवास का फल पावै, यद्यपि गृहस्थपद के आरंभ विषै प्रवर्तै है तो हूँ शुभ गति के सुख पावै ।

जो त्रिकाल जिनदेव की वंदना करै ताके भाव निर्मल होय, सर्व पापका नाश करै । अर जो निर्मल भाव रूप बहुपनिकर जिननाथकूँ पूजै सो लोकविषै पूजनीक होय । अर जो भोगी पुरुष कमलादि जल के पुष्प तथा केतकी मालती आदि पृथ्वी के सुगंध पुष्पनिकर भगवानकूँ अरबै सो पुष्पक विमानकूँ पाय यथेष्ट क्रीड़ा करै । अर जो जिनराज पर अगर चंदनादि घूप खेवै सो सुगंध मरीर का धारक होय । अर जो गृहस्थी जिनमंदिर विषै विवेकसहित दीनोद्योत करै सो देवलोक विषै प्रभाव समुक्त शरीर पावै । अर जो जिनभवन विषै छत्र चमर झालरी पताका दर्पणादि मंगलद्रव्य चढ़ावै अर जिनमंदिरकूँ शोभित करै सो आश्चर्यकारी विभूति पावै । अर जो जल-चंदनादितैं जिनपूजा करै सो देवनिका स्वामी होय, महानिर्मल सुगंधमय शरीर जे देवांगना तिनका वल्लभ होय । अर जो नीरकर जिनैंद्र का अभिषेक करै सो देवनिकर मनुष्यादितैं सेवनीक चक्रवर्ती होय, जाका राज्यभिषेक देव विद्याधर करै । अर जो दुग्धकरि अरहत का अभिषेक करै सो क्षीरसागर के जलसमान उज्ज्वल विमान विषै परम कांति धारक देव होय बहुरि मनुष्य होय मोक्ष पावै । अर जो दधिकर सर्वज्ञ वीतरागका अभिषेक करै सो दधि समान उज्ज्वल यज्ञकूँ पायकर भवोदधिकूँ तरै । अर जो धृतकर जिननाथ का अभिषेक करै सो स्वर्ग विमान में महा बलवान देव होय परंपराय अर्न्त वीर्य कूँ धरै । अर जो ईल-रसकर जिननाथ का अभिषेक करै सो अमृत का आहारी सुरेश्वर होय नरेश्वर पद पाय मुनीश्वर होय अविनश्वर पद पावै । अभिषेक के प्रभावकार अनेक भव्य जीव देव अर इन्द्रनिकरि अभिषेक पद पावतै भए, तिनकी कथा पुराणनि में प्रसिद्ध है । जो भक्ति कर जिनमंदिर विषै मयूरपिच्छादिककर बुहारी देव सो पापरूप रजतैं रहित होम परम विभूति अर आरोग्यता पावै ।

अर जो गीत नृत्य वादिआदिकर जिनमंदिर विषै उत्सव करै सो स्वर्ग विषै परम उत्साहकूँ पावै अर जो जिनेश्वर के चैत्यालय करारै सो ताके पुण्य की महिमा कौन कह सकै, मुर मंदिर के सुख भोग परंपराय अविनाशी आम

पावै । अर जो जिनेंद्र की प्रतिमा विधि पूर्वक करावै सो सुर नर के सुख भोग परम पद पावै । अत विधान तप दान इत्यादि शुभ चेष्टनिकरि प्राणी जे पुण्य उपाजै हैं सो समस्त कार्य जिनबिब कराने के तुल्य नाहीं । जो जिनबिब करावै सो परंपराय पुरुषाकार सिद्ध पद पावै । अर जो भव्य जिनमंदिर के शिखर चढ़ावै सो इंद्र धरणिंद्र चक्रवर्त्यादिक सुख भोग लोक के शिखर पहुँचै । अर जो जीर्ण जिनमंदिरनिकी मरम्मत करावै सो कर्मरूप अजीर्णकूँ हर निर्मय निरोग पद पावै । अर जो नवीन चैत्यालय कराय जिनबिब पधराय प्रतिष्ठा करै सो तीन लोक विषे प्रतिष्ठा पावै । अर जो सिद्धलेशादि तीर्थनिकी यात्रा करै सो मनुष्य जन्म सकल करै । अर जो जिनप्रतिमा के दर्शन का जितवन करै ताहि एक उपवास का फल होय, अर दर्शनको उद्यम का अभिलाषी होय सो जेलाका फल पावै । अर जो चैत्यालय जायवे का आरंभ करै, ताहि तेला का फल होय । अर गमन किए चौला का फल होय । अर कछुएक आगे गए पंच उपवासका फल होय, आधी दूर गए पक्षोपवास का फल होय अर चैत्यालय के दर्शन तैं मासोपमास का फल होय । अर भाव भक्ति कर महास्तुति किए अनंत फलकी प्राप्ति होय । जिनेंद्रकी भक्ति समान और उत्तम नाहीं । अर जो जिनमूर्ति लिखवाय ताका व्याख्यान करै करावै, पढ़ै पढ़ावै, सुनै सुनावै, शास्त्रनिकी तथा पंडितनिकी भक्ति करै, वे सर्वांग के पाठी होय केवल पद पावै । जो चतुर्विध संघ की सेवा करै सो चतुर्गति के दुःख हर पंचमगति पावै । मुनि कहै हैं—हे भरत ! जिनेंद्र की भक्ति अर कर्म क्षय होय भए अक्षयपद पावै । ये वचन मुनिके सुन राजा भरत प्रणामकर आदिक का व्रत अंगीकार किया । भरत बहुश्रुत अतिधर्मज्ञ महाविनयवान श्रद्धावान चतुर्विध संघकूँ भक्ति कर अर दुःखित जीवनिकूँ दयाभाव कर दान देता भया । सम्भ्रमदर्शन रहन कुँ उर विषे धारता अर महासुन्दर आचक के अत विषे तत्पर न्यायसहित राज्य करता भया ।

भरत गुणनिका समुद्र ताका प्रताप अर अनुराग समस्त पृथ्वी विषे विस्तरता भया । ताके देवांगना समान राणी तिन विषे अमक्त न भया, जल में कमल की न्याईं अलिप्त रहा । जाके चित्त में निरंतर यह चिन्ता धरते कि कब यति के व्रत धरूँ, निर्धन्य हुआ पृथिवीविषे बिचरूँ । धन्य हैं वे वीर पुरुष जे सर्व परिग्रह का त्याग कर तप के बल कर समस्त कर्मनिक भस्मकर सारभूत जो निर्बीण का सुख सो पावै हैं । मैं पापी संसार विषे मग्न प्रत्यक्ष देखूँ हूँ जो यह समस्त संसार का चरित्र क्षणभंगुर है । जो अभात देखिये सो मध्याह्नविषे नाहीं । मैं मूढ़ होय रहा हूँ । जे रंक विषया-

भिलाषी संसार में राचे हैं तो छोटी मृत्यु मरें हैं, सर्ग व्याघ्र गज जल अग्नि
 अस्त्र विद्युरपात मूलारोपण असाध्य रोग इत्यादि कुरीतित्त शरीर तजेंगे ।
 यह प्राणी अनेक सहस्रों दुःख का भोगनद्वारा संसारविषै भ्रमण करे है । बड़ा
 आश्चर्य है कि यह अल्प आयु में प्रयागी होय रहा है । जैसे कोई मद्योन्मत्त
 क्षीरसमुद्र के तट सूता तरंगों के समूह से न डरे तैसें मैं मोहकर उत्पन्न भव-
 भ्रमण से नाहीं छलूँ हूँ, निर्भय होय रहा है । हाय हाय ! मैं हिंसा आरम्भादि
 अनेक जे पाप तिनकर लिप्त राज्य कर कौनसे घोर नरक में जाऊँगा ? कैसा
 है नरक, बाण खड्ग चक्र के आकार तीक्ष्ण पत्र हैं जिनके ऐसे शालमसीवृक्ष
 जहाँ हैं अथवा अनेक प्रकार त्रियञ्चगति ता विषै जाऊँगा । देखो जिनशास्त्र
 सारिखा महा ज्ञानरूप शास्त्र ताहूँको पाय करि मेरा मन पापमुक्त होय रह्या
 है । निस्पृह होकर यति का धर्म नाहीं धारै है सो न जानिए कौन गति जाना
 है । ऐसी कर्मनिकी नाशनहारी जो धर्मरूप चिता ताकूँ निरंतर प्राप्त हुवा
 जो राजा भरत सो जैनपुराणादि ग्रन्थनिके भवण विषै आसक्त है, सदैव
 साधुनकी कथाविषै अनुरागी रात्रि दिन धर्म में उद्यमी होता भया ।

इति श्रीरविवेणाचार्य विचरित महापद्मपुराण संस्कृत ग्रन्थ, ताकी भाषा
 वचनिका विषै दशरथ का वैराग्य, राम का विदेश गमन अर भरत का
 राज्य वर्णन करने वाला बत्तीसवां पर्व पूर्ण भया ॥३२॥

हरिवंश-पुराण

रचनाकाल :—संवत् १८२६ चैत्र सुदी पूर्णिमा

रचना स्थान :—जयपुर (राजस्थान)

अथ ग्रन्थ की उत्पत्ति

अथानन्तर— मैं हरिवंश नाम जो पुराण महा मनोहर उसे प्रकट करता हूँ, कैसा है यह पुराण संसार विषे कल्पवृक्ष समान उत्कृष्ट है । कैसा है कल्पवृक्ष झौंडी है जड़ जिसकी और कैसा है यह पुराण अति अगाध है । जड़ जिसकी महादृढ़ है । जिसकी जड़ जिनशासन है । और कल्पवृक्ष और पुराण दोनों पृथ्वी विषे प्रसिद्ध हैं और कल्पवृक्ष तो बहुशाखा कहिये अनेक शाखा उन कर शोभित है और यह पुराण बहुशाखा कहिये अनेक कथा उन कर शोभित है । दो । कल्पवृक्ष किरदारों का दाता है और यह पुराण महा-पवित्र पुण्य फल का दाता है और आप पवित्र है और कल्पवृक्ष भी पवित्र है । यह हरिवंश पुराण श्रीनेमिनाथके चरित कर महा निर्मल है ॥५१॥ जैसे छुमणि कहिये सूर्य उसकी ज्योति कर प्रकाशे पदार्थ तिनको दीपक तथा मणि तथा खद्योत कहिये (पटबीजना) तथा विजुनी यह लघु वस्तु भी अपनी शक्ति प्रमाण यथायोग्य प्रकाश करे हैं ॥५२॥ ऐसे बड़े पुरुष केवली श्रुतकेवली उनकर प्रकाशित जो यह पुराण उसके प्रकाश विषे अपनी शक्ति प्रमाण हम सारिखे अल्प बुद्धि भी प्रवर्ते हैं, जैसे सूर्य के प्रकाशे पदार्थों को कहा दीपादिक न प्रकाशें ऐसे केवली श्रुतकेवलीके भाषे पुराण को कहा हम सारिखेन प्रमाण अपनी शक्ति अनुसार निरूपण करें ॥५३॥ द्रव्य प्रच्छन्न १ क्षेत्रप्रच्छन्न २ कालप्रच्छन्न ३ भावप्रच्छन्न ४ । द्रव्यप्रच्छन्न कहिये कालाणु ॥१॥ और क्षेत्र-प्रच्छन्न कहिये, आलोकाकाश २ और कालप्रच्छन्न कहिये अनागत काल ३ और भाव प्रच्छन्न कहिये, अर्थ पर्यायरूप षट्गुणी हानिवृद्धि ४ ऐसे जे अगम्य पदार्थ आचार्यरूप जो सूर्य उन्होंने किया है प्रकाश जिनका उनको सकुमारता कर युक्त जो यह मन सो स्थूल पदार्थों को कैसे लोक वाच्यदृष्टि करने से देखे तैसे देखे हैं । द्रव्य क्षेत्रादिक के भेदों से पांच प्रकार के भेद हैं जिसका ऐसा यह आगम पुराण पुरुषों का भाषा होने से प्रमाण है ॥५५॥ इस ग्रंथ के मूल कर्ता आप श्री तीर्थंकर देव और उत्तर ग्रन्थ कर्ता गौतम नामा गसाधरदेव और उत्तरोत्तर ग्रंथकर्ता अनेक आचार्य वे सब ही सर्वज्ञदेव के अनुसार कथन करण हारे हमको प्रमाण हैं ॥५७॥ उन केवली और पांच चतुर्दश पूर्वके वारी श्रुत केवली और ग्यारह अज्ञ दश पूर्वके पाठी ग्यारह और एकादश अज्ञ के धारक पांच और एक आचारांगके धारक चार और यह पांच प्रकार के मुनि पञ्चम काल के आदि विषे होते भए तिनमें श्री वर्द्धमान के पीछे तीन केवली भए । इन्द्रभूत कहिये गौतम और सुघर्भाचार्य और जम्बू स्वामी अंतिम केवली भए । यह तीन तो केवली भए और विष्णु १, नन्दिमित्र २,

अपराजित ३, गोवर्द्धन ४, भद्रबाहु ५, ये पांच चतुर्दश पूर्वके धारक श्रुत-
केवली भए । और विशाखाचार्य १, घोष्ठलक्ष २, त्रिय ३, जय ४, नाग
५, सिद्धार्थ ६, धृतिप्रेम ७, विजय ८, बुद्धिल ९, गंगदेव १०, धर्मसेन
११, ये ग्यारह अंग और दश पूर्वके पाठी भए ॥६३॥ और नक्षत्र १, यशः
पाल २, पाण्डु ३, ध्रुवसेन ४, और कम्पाचार्य ५ ये पांच मुनि ग्यारह
अंग के पाठी भए ॥६४॥ और सुगम् १, यमोन्मा २, गयोन्मा ३, जीरा-
चार्य ४, ये चार मुनि एक आचारांग के धारक भये ॥६५॥ ये पूर्वाचार्य
और भी जो आचार्य उनकर विस्तार यह एक देश आगम उसका एक देश
व्याख्यान करिये है ॥६६॥ यह हरिवंश पुराण अपूर्व कहिये आदवयंकारी
अर्थ शकी तो बहुत है शब्द शकी अल्प है इससे शास्त्र के विस्तार के भय कर
अल्परूप सारवस्तु का संग्रह करिए है ॥६७॥ मन वचन कायकी शुद्धता को
धारे जे भव्य जीव सदा जैन सूत्र का अभ्यास करें उनको ब्रह्मापने कर और
श्रोतापने कर यह पुराण का अर्थ कल्याण का कर्ता होय है । बाह्य और
आभ्यन्तर के भेद कर जो तप की विधि है सो दो प्रकार की है उस विधि
स्वाध्याय नामा परम तप है क्योंकि जो यह स्वाध्याय नामा तप है सो अज्ञा-
नता को निवारे है ॥६८॥ इससे परम पुरुषार्थ का करण द्वारा यह पुराण
का अर्थ इस देश काल के जानन हारे पण्डित उन कर व्याख्यान करणे योग्य
है । और जो मत्सर भाव रहित श्रद्धावान पुरुष हैं उन कर सुनने योग्य है
मत्सर कहिये द्वेषक व्याख्यान करणे योग्य जो भाव भी सत्पुरुषों को
त्याज्य है ॥६९॥

आगे इस पुराण विधि आठ बड़े अधिकार हैं सो अनुक्रम से कहेंगे इन
विधि प्रथम ही ब्रह्मलोक्यका कथन ॥ १ ॥ और राजाओं के वंश की उत्पत्ति
॥ २ ॥ और हरिवंश का निरूपण ॥ ३ ॥ और वसुदेव का चरित्र ॥४॥
और नेमिनाथका चरित्र ॥ ५ ॥ और साद्यों का द्वारिका विधि निवास ॥६॥
और नारायण प्रतिनारायण के युद्ध का वर्णन ॥ ७ ॥ और नेमिनाथ के
निर्वाण का निरूपण ॥ ८ ॥ यह आठ महा अधिकार पूर्वाचार्यों ने सूत्रों के
अनुसार प्रणीत सो यह अष्टांतर अधिकारों कर शोभित है ॥७३॥ संग्रह कर
विभाग कर वस्तु के विस्तार कर इस जिनशासन विधि उपदेश होय है इस-
लिये अधिकारों के विभाग कहिए हैं ॥७४॥ प्रथम ही वर्द्धमान जिनेश्वर का
धर्म तीर्थ प्रवर्तन । फिर गणधरादिक गणों की संख्या । फिर राजगृह विधि
आगमन । और गौतम स्वामी से राजा श्रेणिक का प्रदत्त । और क्षेत्र कहिए
ब्रह्मलोक्य । और काल कहिए षट्कास तिनका निरूपण । फिर कुलकरीकी

उत्पत्ति और ऋषभजी की उत्पत्ति और क्षत्रियादिक के वंश का वर्णन । फिर हरिगंश की उत्पत्ति । और हरिगंश विषे मुनिसुव्रतनाथ की उत्पत्ति ॥७७॥ फिर दक्षप्रजापतिका चरित्र । फिर राजा वसु का वृत्तांत । फिर अंधकवृष्टि का दीक्षा । और समुद्रविजय का राज । और वसुदेव का सौभाग्य वर्णन और उपाय कर वसुदेव का घर से विदेश को निकसना ॥७९॥ और वसुदेव के राणी सीमा और विजयसेना का लाभ फिर वनगज का वध करणा और विद्याधर की पुत्री स्यामा का संगम ॥८०॥ फिर वसुदेव को अंगारक विद्याधर का ले उड़ना और चम्पापुरी विषे डारना और गंधर्वसेना का लाभ विष्णु कुमार मुनिका चरित्र फिर चारुदत्त सेठी की कथा और उसको मुनि का तर्पण और वसुदेव के नीलकण्ठारणी का लाभ और सोमश्री का लाभ ॥८२॥ और देवकी की उत्पत्ति का कथन, और राजा सीदास का कथन । और वसुदेव के कपिला राजकन्या का लाभ और पद्मावती का लाभ और राणी चारुहासिनी और रत्नवती की प्राप्ति और राजा सोमदत्त की पुत्री देववती का संगम और मदनवेगा का लाभ बालचन्द्रका अवलोकन तथा प्रियंगुसुन्दरी का लाभ, और बंधवती का समागम, प्रभावती की प्राप्ति और रोहिणी का स्वयंवर, उसके स्वयंवर विषे संग्राम और संग्राम विषे वसुदेव की जीत, और समुद्रविजयादिक बड़े भाइयों से मिलान ॥८६॥ और बलभद्र की उत्पत्ति कंस का व्यासमान और जरासिंधु की आज्ञा से राजा सिंहदत्त का बंधन ॥८७॥ और कंस को जरासिंध की पुत्री जीवजशाका लाभ और राज्य की प्राप्ति उससेन पिता का बधन फिर वसुदेव से देवकी का विवाह ॥८८॥ फिर कंस का बड़ा भाई जो अतिमुक्त उसके आदेश कर कंस की आकुलता का होता जो देवकी के पुत्र कर मेरा मरण है फिर वसुदेव से प्रार्थना करना जो देवकी की प्रसूति हमारे घर होय ॥८९॥ सो वसुदेव प्रमोद करी फिर वसुदेव का अतिमुक्त मुनि से प्रश्न, और देवकी अष्ट पुत्रों के पूर्वभय का श्रवण और पाप का नाश करण द्वारा श्री नेमिनाथ के चरित्र का श्रवण ॥९०॥ फिर श्रीकृष्ण की उत्पत्ति और गोकुल विषे बाल सीला और वसुदेव के उपदेश से ब्रह्मा शास्त्रों का ग्रहण ॥९१॥ फिर वसुदेव के धनुष रत्न का आरोपण और यमुना विषे नागकुमार का जीतना फिर हाथी को जीतना और चाणूरमल्ल का निपात, और कंस का विध्वंस ॥९२॥ और उससेन को राज और हरि का सत्यभामासों पारिग्रहण और तासे अधिक प्रीति ॥९३॥ और जीवजशा का जरासंध से जाना और विलाप करना जरासंध का यादवों पर रोष होना और बड़ी सेना भेजना रण विषे काल ययन का पराभव अपराजित का हरि के हाथ कर रण विषे मरण । और यादवों को परम हर्ष का उप-

जना और किसी का भय नहीं ॥६५॥ फिर शिवदेवी के नेमिनाथ की उत्पत्ति जब गर्भ में आयें तब षोडश स्वप्न का देखना और पति से स्वप्न का फल पूछना, पति कही तुम्हारे श्रीनेमिनाथ पुत्र होंवेंगे ॥६६॥ फिर भगवान का जन्म और सुमेरु विषे जन्मः विषेक फिर बाल श्रीड़ा और जिनराज का प्रताप और जरासंध का यादवों पर आक्रमण, और यादवों का समुद्र की ओर गमन ॥६७॥ और मार्ग में देवताओं ने जो माया दिखाई उसकर जरासन्ध पीछे फिरना फिर श्री कृष्ण का समुद्र के तीर दाभ की सेज पर तिष्ठ तेला करना ॥६८॥ और इन्द्र के वचन से गौतम नामा देवकर समुद्र का सङ्कोचना और कुवेर कर के द्वारिकापुरी का क्षणमात्र में रचना फिर रुक्मणि का शिवाह और सत्य भामा के देदीप्यमान भानुकुमार का जन्म और रुक्मणी के प्रद्युम्न का जन्म और पूर्वला देरी जो धूमकेतु उस कर प्रद्युम्न का हरण ॥६९॥ विजयाद्व विषे प्रद्युम्न की स्थिति काल संवर विद्याधर के मंदिर में और कृष्ण और रुक्मणी को प्रद्युम्न का खेद का निवारण प्रद्युम्न को षोडश लाभ की प्राप्ति और प्रजप्ती और विद्या की प्राप्ति ॥७०॥ और प्रद्युम्न का काल संवर से संग्राम, और नारद के आग्रह कर माता पिता के निकट आगमन और इंद्रकुमार की उत्पत्ति और प्रद्युम्न को बालश्रीड़ा और पिता का पिता जो वसुदेव उसने प्रद्युम्न से प्रश्न किया ॥ ७१ ॥ और प्रद्युम्न ने अपने परिभ्रमण का सकल व्याख्यान किया । फिर यादवों के सकल कुमारों का वर्णन, फिर यादवों की वार्ता के सुनने से जरासन्ध का क्रोध और यादवों के निकट दून पठावना उसके आगमन में यादवों की सभा विषे शोभ और दोनों सेनाओं का निकसना । और विजयाद्व विषे वसुदेव का आगमन, विद्याधरों का शोभ, वसुदेव का पराक्रम ॥७२॥ और अक्षोहिणी का प्रमाण और ग्धी अतिरग्धी अर्द्ध ग्धी जे राजा महासर्थ तिनका कथन ॥७३॥ और जरासंध ने चक्रव्यूह रची, उसके भेदिवे अर्थ कृष्ण के कटक विषे गरुड व्यूह की रचना और कृष्ण के गरुडवाहिनी विद्या की प्राप्ति और बलिदेव को सिंहवाहनी विद्या की प्राप्ति और नेमिनाथ के द्विमात भाई रथनेमि और कृष्ण के भाई अनावृष्टि और अर्जुन इन चक्रव्यूह भेदा, और कृष्ण की सेना विषे मुख्य पांडव । और जरासन्ध की सेना विषे मुख्य धृतराष्ट्र के पुत्र जो कौरव उनमें परस्पर महायुद्ध फिर कृष्ण जरासन्ध का महायुद्ध ॥७४॥ उस समय कृष्ण के हाथों में चक्र का आवना और जरासन्ध का वध, वसुदेव की विजय सो वसुदेव को विजयाद्व विषे विद्याधारी प्रगट भई और कृष्ण का कोटि शिला का उठावना और वसुदेव का विजयाद्व से आगमन और बलदेव वसुदेव की दिग्विजय और देवी पुनीत रत्न की प्राप्ति ॥७५॥ और दोनों

भाईयों को राज्याभिषेक और द्रौपदी का हरण फिर घातकी खंड में कृष्ण सहित पांडव जाय द्रौपदी ल्याये ॥११॥ फिर नेमिनाथ के शरीर के बल का वर्णन व नेमिनाथ के विवाह का हर्ष ॥१२॥ फिर जीवों को बन्ध से छुड़ाना और नेमिनाथ की दीक्षा, और केवलज्ञानका उपजना, देवों का आगमन समवसरण की विश्रुति का वर्णन, राजमती को प्राप्ति तप की । और यति श्रावक के धर्म का उपदेश और भगवान का तीर्थ विहार और देवकी के षट् पुत्रों का संयम ॥१४॥ फिर भगवान् का गिरनार गिरि विषे आगमन और देवकी के प्रश्न का उत्तर और रुक्मणी सत्यभामा आदि आठों पटराणियों के भवांतर का कथन ॥१५॥ फिर राजकुमार का जन्म और उसकर दीक्षा ग्रहण और वसुदेव टार नव भाइयों का वैराग्य और त्रिषष्टि मालाका के पुरुषों की उत्पत्ति का वर्णन और जिनराजा के अन्तराल का कथन और बलभद्र का प्रश्न । प्रद्युम्न की दीक्षा और रुक्मणी आदि कृष्ण की स्थियों का और पुत्रों का संगम और द्वीपायन मुनि के क्रोध से द्वाखावती का नाश ॥१६॥ और बलभद्र नारायण का द्वारका से निकलना और कुटम्ब का भस्म होना और दोनों भाइयों का शोक सहित कौशांबी नगरी के धन विषे प्रवेश ॥१७॥ और बलभद्र का जल के अर्थ जाना और कृष्ण का अकेला रहना और बिना जाने जरद कुमार के हाथ से छूटा जो बाण उसकर दैवयोग से हरि का परभय गमन करना ॥१८॥ उसकर जरदकुमार को शोक उपजना और बलभद्र के अति दुस्तर दुःख का उपजना फिर सिद्धार्थ देव के उपदेश से बलभद्र को वैराग्य उपजना तप धरना । और पांचवें स्वर्ग में जाना और पांडवों को वैराग्य होना और गिरनार विषे नेमिनाथ का मुक्ति होना ॥१९॥ और पांचवें पांडव महापुरुषों को उपसर्ग का जीतना, और जरदकुमार को दीक्षा लेना । और जरदकुमार की सन्तान से हरिवंश का रहना और उनके वंश के दीपक जे राजा जितशत्रु उनको केवल ज्ञान की प्राप्ति और जो राजा श्रेणिक हरिवंश शिरोमणि उनका राजगृह विषे राज ॥२०॥ और वर्द्धमान भगवान का दीपमालिका के दिन निर्वाण गमन उससे देवों का वह दिन उत्सव रूप मानना । तब दीप्यमान दीपमालिका प्रसिद्ध भई और गणधरों का निर्वाण गमन यह हरिवंश पुराण का विभाग संक्षेप कर कहा है ।

अथानन्तर—भव्य जीव प्रसिद्धि के अर्थ विस्तार सहित व्याख्यान सुनें । २६। एक ही पुरुष का चरित्र सुना हुआ पाप का नाश करे और जो सर्व तीर्थेश्वर ऋद्धेश्वर हलधर उनका चरित्र भव्य जीव जे सुने उनका क्या पूछना, वह तो जन्म जन्म के पाप निवार है जैसे महामेघ की बूंद ही महा ताप का विच्छेद

करे तो समस्त लोक विषे ध्याप रहे जे भेष उनकी जो माला के समूह उनकी जो सहस्रधारा भरे उनकर घाताप क्यों न दूर होय सर्वथा दूर होय ॥२७॥ जो भिन्नी जग हैं सो जिनके बहभाग ऐसे लौकिक कुरारु आतिरूप उनको तज कर जैन पुराण की पदवी महासरल कल्याण की करणहारी हितकारी उसे गहो, मोह ही है बाहुल्यता जिसमें ऐसी द्रिभूढ़ता कहिये दिशा भूलपना उसे तजकर भव्य जीव शुद्ध मार्ग लेवो । जिन कहिये भगवान् बेई भये भास्कर कहिये सूर्य तिन कर प्रगट किया जो शुद्ध मार्ग महा विस्तीर्ण उसके होते सन्ते शुद्ध है दृष्टि जिसकी ऐसा सम्यक् दृष्टि सो खाड़े विषे काहेको परे ।

भावार्थ—सूर्य के प्रकाश विना ग्रन्थ पुरुष संकीर्ण मार्ग विषे खाड़े में पड़े और सूर्य के उदय कर प्रगट भया मार्ग विस्तीर्ण उस विषे दिव्य नेत्रों का धारक काहेको खाड़े में पड़े ॥२८॥

इति श्री भरिष्ठनेमिपुराण संग्रहे हरिवंश जिनसेना चार्यस्य कृती
संग्रहविभागवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

× × × × × ×

आठवां अधिकार ।

श्री नेमिनाथ का निर्वासन गमन

अथानन्तर—सर्व देवन के देव तीर्थ के कर्त्ता धर्मोपदेश कर भव्यन को कृतार्थ कर उत्तर दिशातः सोरठ की ओर गमन किया ॥ १ ॥ जब जिन रवि उत्तरायणते दक्षिणायन आये तब या तरफ पूर्वते उद्योत भयो ॥ २ ॥ अरहत पद की विभूति कर मंडित महेश्वर जब दक्षिण को विहार किया तब जे दक्षिण के सर्व देश स्वर्ग की शोभा को धारते भये ॥ ३ ॥ भगवान् भूतेश्वर निर्वासन कल्याणक आया है निकट जिनके सुर असुर नरक कर अचित्त गिरनार घास बिराजे ॥ ४ ॥ पूर्ववत् समवसरणकी रचना तहां भई देव दानव मानव तथा तिरयंच सब ही प्रभु की दिव्य ध्वनि सुनते भये ॥ ५ ॥ श्री भगवान् सम्प्रदर्शन चारित्र्य रूप जो महा पवित्र जिनेश्वर धर्म ताका व्याख्यान करते भये सो धर्म स्वर्ग मोक्ष के सुख का साधन है अर साधुन को प्रिय है ॥ ६ ॥ जैसा केवल ज्ञान के उदय विषे पहले धर्म का उपदेश दिया हुता तैसा ही बिस्तार सहित निर्वासन कल्याणक का एक मास

रहा तब लग दिया ॥ ७ ॥ जैसे अग्नि का गुण उष्ण भर ऊर्ध्व जलन भर जल का गुण शीत भर पवन का गुण शीघ्र गमन और तिरछा गमन भर सूर्य का गुण प्रकाशपना भर आकाश का गुण अमूर्तत्व भर पृथ्वी का गुण अनेक वस्तु का धारण भर सहनशीलपना, तैसे कृतार्थ जे जिनेन्द्र तिनका गुण धर्मोपदेश है ॥ ८ ॥ जैसे ज्ञानावरणी दर्शनावरणी मोहनीय अंतराय यह चार घातिया कर्म क्षय किये हुते तैसे योग का निरोध कर नाम गोत्र आयु भर सेवनीय इन चार अदायित्यामकाह अन्त कर अनेक मुनिवरों सहित जिनवर सिद्ध लोक को सिधारे ॥ १० ॥ तब इन्द्र को आदि देव चतुर्निकायनके देव निर्वाण कल्याणक की पूजा करते भये ॥ ११ ॥ जब भगवान् मुक्त होय तब देहबंध रूप स्कन्ध परमाणु होय जाय अनादि कालकी यह रीति है जैसे विजुरी बिलास तैसे जिनेश्वर का देह बिसाय गया और मायामयी शरीर रच कर इन्द्रादिक दाह किया करते भये ॥ १२ ॥ अग्निकुमार भवनवासी देव तिनके इन्द्र के मुकुट से प्रगट भई अग्नि लाकर जिनेन्द्र की देह का दाह भया ॥ १३ ॥ गंध पुष्पादि मनोहर द्रव्यन कर प्रभु की पूजा कर देव अपने अपने स्थान गये । इन्द्र वज्रकर गिरनार गिर विधे सिद्ध सिला उकीर गया । वरदत्तादि मुनि को बंदना कर इन्द्रादिक और नरेन्द्रादिक अपने अपने स्थान गये ॥ १५ ॥ और समुद्रविजयादि नव भाई और देवकी के छे पुत्र भर प्रद्युम्न शंबु श्रीकृष्ण के पुत्र भर अनिरुद्ध प्रद्युम्न का पुत्र यह गिरनार गिरते जगत के शिखर गये सो भव्य जीवन कर बंदनीक है गिरनार बड़ा तीर्थ है जहां अनेक भव्य जीव यात्रा को आवे हैं ॥ १७ ॥

अथानन्तर—पांडव महावीर प्रभु का सिद्ध लोक गमन सुन कर शत्रुञ्जय गिर विधे कायोत्सर्ग धर तिष्ठे ॥ १८ ॥ तहा दुर्गोवन के वंश का यवरोवन पापी आय कर बैर के जोग से महा दुष्सह उपसर्ग करता भया ॥ १९ ॥ लोहे के मुकुट अति प्रज्वलित इनके सिर पर धरे और लोहे के कड़े सर कटि सूत्रादि लोहे के आभरण अग्नि भई इनको पहराये ॥ २० ॥ तिन कर दाहका उपसर्ग अति रौद्र होता भया परन्तु वे महावीर मुनि धीर कर्मके विपाक के जानन होरे कर्म के क्षय करने को समर्थ दाह का उपसर्ग हिम हिम समान शीतल मानते भये ॥ २१ ॥ तिनमें युधिष्ठिर भीम अर्जुन यह तीनों साधु क्षपक श्रेणी विधे आरुढ़ होय शुक्ल ध्यान कर अष्टम भूमि जो निर्वाण ताकों पधारे अन्त कृत केवली अविनाशी भये ॥ २२ ॥ और नकुल सहदेव ने उपशम श्रेणी मांडी हुती सो ग्यारहवां गुणठाण से फिर गिर चौधे गुणठाणे आय देह तज सर्वार्थसिद्धि पधारे । तहांते चम मनुष्य होय जगत् के

मुकुट मणि होहिये ॥ २३ ॥ ऐसे भाइयों के अन्तर्गत देख उनका दिल कुछ धम
अधिर भया अर अन्य हू भव्य जीव कैंडक तद्भव मोक्षगामी शुद्ध रत्नत्रय के
धारक मोक्ष प्राप्त भये अर कर्ष्यवा स्वर्गवासी देव भये सो भवधर अभय पद
पावेंगे ॥ २४ ॥ अर नारद भी आयु पूर्ण कर परभव पधारे । भवान्तर में
भवरहित होहिये ॥ २५ ॥

अथानन्तर—बलदेव स्वामी तुंगीगिर शिखर पर नाना प्रकार के
दुर्द्धर तप किये एक उपवास दोय उपवास तीन उपवास, पक्ष उपवास च्चः
मासोपवास कर शरीर अद्भुत सौख्या अर कषाय सोखे अर धैर्य पोख्या ॥ २७ ॥
नगर ग्रामादि विषे तो गमन निधारा ही हुता आहार के अर्थ काना चर्चा
धारी हुली सो चन विषे विहार करते लोकोंने देखे, मानों माधव चद्रमा
ही है ॥ २८ ॥ उनकी वार्ता पुर ग्रामादि विषे अतिद्व भई सो दुर्जित भूपति
बलदेव के समाचार सुन कर अंका मान नाना प्रकार के आयुध घर उपसर्ग
करने को आये तब सिद्धार्थ देव उनको ऐसी माया दिखाई वे जहा देखें तहां
दीखें ॥ २९ ॥ मुनि के चरणागके समीप सिंहनको देख दुष्ट राजा मुनिकी
सामर्थ्य जान प्रणाम कर ज्ञात रूप होय गये ॥ ३० ॥ तबमे बलदेव को
लोग नरसिंह मानते भये दुष्टन को नरसिंह रूप भाये वे महा मुनि सो वर्ष
तप कर चार प्रकार आराधना आराध पांचमां ब्रह्म नामा स्वर्ग तहां पदमोत्तर
विमान विषे अद्भुत भये ॥ ३१ ॥ वह विमान रत्नभयी देदीयमान महा-
मनोहर देव देवियों के समूह कर भंडित सुन्दर हैं भन्दिर अर उपवन आ
विषे ॥ ३२ ॥ ऐसे रमणीक विमान विषे महा कोमल उत्पादक सज्या ला
विदे हलधर मुनिवर का जीव अद्भुत भया । जैसे समुद्र विषे महा मणि
उपजे तैसे स्वामी स्वर्ग विषे उपजे ॥ ३३ ॥ आहार कहिये कर्म वर्गणाका
आकर्षण अर बैक्यिक शरीर अर पांच इन्द्री अर श्वासीश्वास अर भाषा
अर मन इन पट पर्याप्ति तत्काल पूरे कर वस्त्राभरण भंडित सेज पर विराज
नव यौवन महा सुन्दर देवन के राजा वह स्वर्ग संपदा देख अर देवांगनान के
गीत सुन अर सब देवन को तस्त्रीभूत देख मनमें विचारी यह सब लोग मेरा
मुख विलोके हैं मो विषे अनुरागी हैं अर या लोक के सकलही चन्द्र सूर्य हूँ
अधिक ज्योतिवन्त हैं ॥ ३४ ॥ यह कौन मनोहर देश है यहां के सब लोक
हर्षित हैं अर मैं कौन हूँ जो यहां का अधिपति भया हूँ अर मैं कौन धर्म
उपाध्यायी जो ऐसा उत्तम भव पाया है ॥ ३५ ॥ तब वहां के जो मुख्य देव है
तिन विनती करी जो यह पांचवां ब्रह्म नामा स्वर्ग है । अर आप अद्भुत होय
यहां सबनके स्वामी भये हो महा तप कर यहां आय उाजे हो तब आप अवधि

कर सब वृत्तान्त जाना ॥४१॥ पूर्व भवका सब चरित्र प्रत्यक्ष जाना अर देव इनका अभिषेक करावते भये अर इन्द्रपदकी विभूति दृष्टिगोचर करी ॥४२॥ अर वासुदेवसे अधिक है प्रेम जिनका सो जाय कर भाईसे मिले परस्पर अवलोकन कर दोऊके हर्ष उपज्या वासुदेव कही आपो दोऊ मनुष्य भव पाय भीतराग का धर्म आराध केवल प्रगट कर मोक्ष पावेंगे । अर द्वारिकाके दाह कर अर यदुवंशके क्षय कर लोकापवाद भया सो तूम ऐसा करहु जो भरतक्षेत्र विषे मेरी मूर्ति शंख चक्र मदा पद्मदि कर शोभित लोग पूजें यह बचन वासुदेवके उरुमें धार बलदेव याही भांति करते भये देवनका किया कहा न होय ॥४६॥ ठौर ठौर पुर ग्रामादि विषे वासुदेवके मन्दिर कराय तिनकी सेवाकी विधि बताय बलदेव स्वर्ग विषे जाय जिनैस्वरकी सेवा करते भये ॥४७॥ अनेक देव अर देवी तिन कर मंडित स्वर्गके अधिपति सुख भोगते भये । यह कथा गीतम स्वामीने राजा श्रेणिकसे कही फिर कहे हैं—हे श्रेणिक ! यह स्नेही जगतके जीवनको जगत विषे भ्रमण करावे है स्नेहके योग कर जहां मित्र होय तहां जाय कर स्नेहसी अधिकतासे आपको सुख प्राप्त भये हैं ते न भोगवे अर दुखका उद्यमी होय तातें यह संसारका स्नेह ही मोक्षके सुखका विघ्न करनहार है ॥४८॥ श्री नेमिनाथ जिनैद्रका तीर्थ महा मोहका बिच्छेद करन हारा ता विषे जरदत्त नामा मुनि केवली भये हरिवंश विषे जरत्कुमार राजा राजकी धुराके धोरी भये ॥५०॥

इति श्री अरिष्टनेमि पुराण संग्रहे हरिवंशे जिननेनाचार्यस्य कृतो भगवन्तिर्वाणवर्णनो नाम पंचषष्ठितमः सर्गः ॥६५॥

अथानन्तर—राजा जरत्कुमार राज्य करे ताके राज्यमें प्रजा आनन्दको प्राप्त होती भई राजा महा प्रतापी जिनधर्मी ताके राजको लोग प्रति चाहें ॥१॥ सो जरत्कुमारने राजा कलिंगकी पुत्री परनीताके राजवंशकी ध्वजा समान वसुध्वज नामा पुत्र भया ॥२॥ ताहि राजका भार सौंप जरत्कुमार मुनि भये सत पुरुषनके कुलकी यही रीति है पुत्र को राज देय आप चारित्र्य धारे ॥३॥ फिर वसुध्वजके सुवसु नामा पुत्र भया सो चन्द्रमा समान प्रजाको प्रिय राजा वसु सारिखा प्रतापी होता भया ॥४॥ अर वसुके भीम वर्मा भया कलिंग देशका पालक अर ताके वंशमें अनेक राजा भवे ॥५॥ फिर ताही वंशमें हरिवंशका आभूषण राजा कपिष्ठ भया अर ताके अजातशत्रु भया ताके शत्रुकेन भया । अर ताके जितार नामा पुत्र भया ॥६॥ ताके जितशत्रु भया सो हे श्रेणिक ! ताहि तू कहा न जाने है जो राजा सिद्धार्थ महावीर स्वामीके पिताकी छोटी बहन परमा महा प्रतापवान शत्रु मंडलका जीवन हारा जगत

विषे प्रसिद्ध भया । श्री भगवान महावीरका फूफा सो प्रभुका जन्म भया तब कुण्डलपुर आया । सो राजा सिद्धार्थने बहुत सन्मान किया ॥८॥ राजा जितशत्रु महा जिनधर्मी इन्द्र समान पराक्रमी ताके यशोदा नाम रानी ताके अशोकवती नामा पुत्री सो यश अर दया कर महा पवित्रताका अनेक राजकन्या सहित श्रीमहावीर से विवाह मंगल वांछता भया यह हर्ष देखने के मनोरथ रूप विषे आरुढ़ था सो भगवान बीतराग कहा विवाह करें जे स्वात्मानुभूति रूप मिदिके करन हारे तिनके स्त्रीका कहा प्रयोजन ? जब तीर्थेश्वर तप कल्याणकको प्राप्त भये तब वे राजकन्या आर्यका होय गई अर भगवान स्वयंभू जब केवल कल्याणक विषे जगतके सारवे अर्थ बिहार किया तब राजा जितशत्रु राज तत्र मुनि राज भया महातप विषे प्रवर्ता ॥१०॥ सो तपके प्रभावकर जितशत्रुके केवल ज्ञान प्रगट भया मनुष्य भवका यही फल है जो केवल पाय मुक्ति जाय ॥११॥ हे ध्येयिक यह कथा हरिवंशकी कथा तोहि संक्षेपसे कही यह कथा लोक विषे प्रसिद्ध है अर चौबीस तीर्थेश्वर अर बारह चक्रेश्वर अर नव बलदेव नव वासुदेव नव प्रति वासुदेव यह त्रिषष्टि शलाकाके महा पुरुष तिनका चरित्र तोहि कहा सो यह पुराण पढ़ति तोहि कल्याणके अर्थ होहु ॥१३॥ यह परमेश्वरी कथा गौतम स्वामीके मुख अनेक राजाओं सहित राजा ध्येयिक सुनकर नगरमें गया बारंबार नमस्कार करता भक्ति रूप है बुद्धि जाकी सो धित विषे धर्महीकी धारता भया । अर चतुर्निकायके देव अर विद्याधर प्रभुको प्रणाम कर अपने २ स्थानक गये धर्मकथाके अनुरागी धर्महीकी सार जानते भये ॥१४॥ निर्वाणकी है हृच्छा जिनके अर जितशत्रु केवली जगत पूज्य भावं क्षेत्र विषे बिहार कर अघातिया कर्म हू क्षपाय अक्षय धामको प्राप्त भये अनंत सुखका है अभाव जहां जाके अर्थ यती यत्न करे हैं सो पद पाया ॥१५॥ अर बीरजिनेन्द्र है भव्य जीवनके समूहको संबोध कर पावापुरीके मनोहर नामा उद्यानते कार्तिक वदी अमावस प्रभात समय स्वाति नक्षत्र विषे योगनका निरोध कर अघातिया कर्म हैं खपाये जौरो घातिया कर्मनका घात किया था तैसे अघातियान हु का घात कर बन्ध तै रहित जो अपवर्ग स्थानक सिद्धक्षेत्र तहां सिधारे निरन्तर है अनन्त सुखका संबंध जहां ॥१७॥ वे जिनेश्वर शंकर मुगत सदा शिव परम विष्णु शुद्ध बुद्ध महेश्वर पंच कल्याणकके नायक चतुर्निकायके देवन के देव निर्वाण प्राप्त भये तब इन्द्रादिक देखोने निर्वाण कल्याणक किया प्रभुके माया मई शरीर की पूजा कर दाह किया करी ॥ १८ ॥ प्रभु परम धाम पधारे ता दिन चतुर्थ काल के वर्ष तीन और मास साठा आठ थाकी हुते । दीपोत्सव के दिन जिनवर जगत के शिखर पधारे तिस दिन देवन दीवन के समूह कर वह पुरी प्रकाश रूप करी आकाश और धरती पिते

दीपन की माला प्रज्वलित भई ॥ १६ ॥ इंद्रादिक सब देव और श्रेणिकादि सकल भूप श्री महावीर स्वामी का निर्वाण कल्याणक देख प्रभु से ज्ञान की प्राप्ति की प्रार्थना कर अपने २ स्थान गये ॥ २० ॥ उस दिन से इस भरत-क्षेत्र बिचे दीप मालिका प्रसिद्ध भई प्रति वर्ष भव्य जीव निर्वाण की पूजा करें भर लोक दीपोत्सव करें ॥ २१ ॥ अर भगवान को मुक्ति गये पीछे बासठ वर्ष में केवली भये गौतम सुधर्म और जंबू स्वामी सो यह तीनों चतुर्थ कालके उपजे पंचम काल में पंचम गति जो निर्वाण तहां पधारे और इन पीछे सो वर्ष में पांच श्रुत केवली भये ॥ २२ ॥ और उन पीछे वर्ष एकसौ तीरासी में ग्यारह अंग अर दस पूर्व के पाठी मुनि दस भये और तिन पीछे बरस दो सो दोस में पांच मुनि ग्यारह अंग के पाठी भये और तिन पीछे वर्ष एकसौ अठारह में चार मुनि एक आचारारण के पाठी भये तिनके नाम सुभद्र जयभद्र पद्मेकादु लोहानार्य यहीं तक अंग रहे ॥ २३ ॥ फिर इन पीछे अंगन के पाठी तो न भये परन्तु महा विद्यावान ब्रतनके धारक भये तिनमें कई एकनके नाम कहे हैं—महा तपकी है वृद्धि जिनके ऐसे नयंधर ऋषि, श्रुति, ऋषि, गुप्ति, शिवगुप्त, अर्हद्वलि, मंदराचार्य, भिववीर, बलमित्र, सिद्धवल, वीरवित ॥ २४ ॥ पद्मसेन, गुणपद्म, गुणागुणी, जितदण्ड, नन्दीवेण, दीपसेन, तप ही है धन जिनके ऐसे श्री धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिसेन, सूरसेन, अभयसेन ॥ २५ ॥ सुसिधसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शांतिसेन, समस्त सिद्धान्त के वेत्ता षट् भाषानमें गुणवान पटखड के अखड नाथ ही हैं जिनके शब्द अर्थ अगोचर नाही ॥ २६ ॥ फिर जयसेन नामा सद्गुरु होते भये कर्म प्रकृति नामा श्रुति ताके पारगामी इन्दीन के जेता प्रसिद्ध बैयाकरणो महा पण्डित प्रभाववान समस्त शास्त्र समुद्र के परगामी ॥ २७ ॥ तिनके शिष्य अमित तेज नामा सद्गुरु पवित्र पुत्राडगण के अग्रणी जिन शासन की है वात्सल्यता जिनके महा तपस्वी सो वर्ष ऊपर है अवस्था जिनकी शास्त्रदान के बड़े दाता पण्डितों में मुख्य जिनके गुण पृथिवी में प्रसिद्ध तिनका बड़ा भाई, धर्म का सहोदर महा शांत संपूर्ण बुद्धि धर्ममूर्ति जिनकी तपोमई कीर्ति जगत में विस्तार रही ऐसे कीर्तिलेन तिनका मुख्य शिष्य श्रीनेमिनाथ का परभ भक्त जिनसेन ताने अपनी शक्ति के अनुसार अल्प बुद्धि से प्राचीनग्रन्थ के अनुक्रम हरिवंश की पद्धति कही सो यामें प्रमाद के दोष से शब्द में तथा अर्थमें कहीं भूल होय तो पुराण के पाठी पण्डित सुधार लीजो एक केवली भगवान ही कथन में न चूकें और समस्त चूकें ताकां अचरज नाही । कहां यह प्रशंसा योग्य हरिवंश पुराण रूप पर्वत और कहां भरी अल्प से अल्प बुद्धि की शक्ति ॥ ३४ ॥ जो काहू और आसछे तो कहा अचरज है । या पुराण विषे

जिनेन्द्र के वंश के स्तवन कर पुण्य की उत्पत्ति है यही बाँझा कर मैंने वर्णन किया और काश्यप ऋषि से प्रबन्ध कर कीर्ति की कामना राक्षस कथन न किया ॥ ३५ ॥ काश्यप रचना के गर्भ कर तथा अन्य पण्डितों से ईर्ष्या कर मैंने यह प्रारम्भ न किया । केवल जिनेश्वर की हृदि ही का यह जन्म स्थित । चौबीस तीर्थेश्वर और द्वादश चक्रधर और नव हलधर नवहरि और नव प्रतिहरि इनका वर्णन किया और अन्य अनेक राजान के चरित्र कहे । भूमि-गोचरी और विद्याधर मन्वनके वंश का वर्णन या विषय है ॥ ३७ ॥ जो धर्म अर्थ काम मोक्ष के साधन हारे पुरुषार्थ के धारक धीर पुरुष कीर्ति के पुंज तिनकी स्तुति कर मैं पुण्य उपाज्या गुण संचय किया तबका यही फल दूजियो जो या मनुष्य लोक के भव्य जीव जिन शासन विषे श्रद्धा करें अर अशुभ कर्म को हरे ॥ ३८ ॥ यह नेमि जिनेश्वर का चरित्र सकल जीवादि पदार्थ का प्रकाशक है यामें षट् द्रव्य सप्त तत्त्व नव पदार्थ पचास्ति काय की प्ररूपणा है ॥ ३९ ॥ जो महा पण्डित हैं सो याकी सभाविषे व्याख्यान अपने अर पराये हितार्थ करियो अर सभा विषे आवें जे भव्य जीव ते कानक्ष्य हस्तांजली कर हरिवंश कथा रूप अमृतका पान करियो जिनेन्द्र नाम ग्रहणकर नव ग्रहकी पीडा दूर होय है । यह समस्त पुराण आधोपान्त बाँचे अथवा सुने तो पापका नाश होय इसलिये एकाग्र चित्त कर पण्डित जन याका व्याख्यान अपने अर पराये कृतार्थ के अर्थ करहु व्याख्यान निज परका तारक है ॥ ४२ ॥ यह पुराण मंगल के अर्थियों की महा मंगल का कारण है अर जो धन के अर्थी हैं तिनको धनकी प्राप्ति का कारण है । अर निमित्त जानियों को निमित्त ज्ञान का कारण है अर महा उपसर्ग विषे शरण है शान्तिका कर्ता है अर जैन का बडा शकुन शास्त्र है शुभ सूचक है ज्ञानार्थीन को ज्ञान, ध्यानार्थीन को ध्यान, योगार्थीन को योग, भोगार्थियों को भोग, राज्यार्थीन को राज्य, पुत्रार्थीन को पुत्र, विजयार्थीन को विजय सब वस्तु का यह दाता सर्वज्ञ वीतराग का पुराण है । जो चौबीसों तीर्थेश्वर का महा भक्त चौबीसों शासन देवता चक्रेश्वरी पद्मावती अम्बिका ज्वालाभालिनी आदि सम्पद्गृष्टिनी सो सब इस पुराण के आश्रित हैं कैसे हैं यह शासन देवता सदा जिनधर्म अर जिनधर्मिन के समीप ही हैं ॥ ४४ ॥ अर गिरनार गिरि विषे श्रीनेमिनाथ का मन्दिर ताकी उपासक सिंहबाह्वी चक्र की चम्पहारि जाके आगे क्षुद्र देवता न टिकें ऐसी अम्बिका कल्याण के अर्थ जिन शासन की सेवक है तहाँ परचक्र का विघ्न कैसे होय ॥ ४५ ॥ नवग्रह अर असुर नाग भूत पिशाच राक्षस यह लोगों की हित की प्रवृत्ति विषे विघ्न करे हैं । ताते बुध जन जिन शासन के देवतान के जे गुण तिन कर क्षुद्र देवन को शान्त करे हैं ॥ ४६ ॥ जे भक्ति कर यह

हरिवंश पुराण पढ़ें तिनके बिना खेद मनवाञ्छित काम की सिद्धि होय अर
धर्म अर्थ मोक्ष की प्राप्ति होय ॥४७॥ तासैं जे निष्कपट आर्य पुरुष हैं ते
पूजा सहित या पुराण को पृथिवी विषे विस्तारहु । कहा कर मांकुं विस्तारहु
मात्सर्य कहिये परार्थ उच्चता का न सहना ऐसा अदेखसका भाव ताहि धर्म के
बल कर प्रबलता रूप जो बुद्धि ताके प्रभाव से निवार कर अर जेने मायाचार
के आचरण हैं तिन सवन को तज कर साका रहस्य विचारहु ॥४८॥ अथवा
भव्य जीवन से यह प्रार्थना है कौन अर्थ, वे स्वतः स्वभाव ही याहि पढ़ेगे
वांचेगे विस्तारेंगे, जैसे पर्वत मेहुकी बारा को सिर पर धारे अर पृथिवी विषे
विस्तारे ॥४९॥ यह श्रेष्ठ पुराण प्राचीन पुराण के गम्भीर शब्द तेई भये
जल तिन कर पूर्ण सो मुनि मण्डली रूप नदी दोय नयन रूप ढायेन की भरन
हारी तिन कर पूर्ण चारों दिश समुद्रान्त विस्तरेगा ॥५०॥ वे जिनेश्वर देख
तत्त्व के द्रष्टा देवन के समूह पर सेवने योग्य जयवन्त होहु प्रजा को अति
शांति के देनहारे शान्त है मार्ग जिनका अर निर्मल हैं निद्वारहित केवल नेत्र
जिनके ॥५१॥ अर जिनधर्म की परम्पराय जयवन्त होहु जो अनादि काल से
काहु कर जीति न जाय । अर प्रजा विषे कुशल होहु । कवहु दुमिक्ष मति
होहु मरी मति होहु पापी मति होहु पापी राजा मति होहु । अर सुख के अर्थ
प्रति वर्ष भली वर्षा होहु अर अति वृष्टि अनावृष्टि मति होहु पृथिवी अन्न
जल तृण कर सदा शोभित रह्यो । प्राणीनको काहु प्रकार की पीडा मति
होहु ॥५२॥ विक्रमादित्य को सात सौ पांच वर्ष व्यतीत भये तब यह ग्रन्थ
भया । ता समय उत्तर दिशा का राजा इन्द्रायुध कृष्णराजका पुत्र था । अर
दक्षिण दिशा का राजा श्रीवल्लभ हुता अर पूर्व दिशा का राजा अवन्ति हुता
अर पश्चिम का राजा कत्सराज हुता । यह चारों दिशा के चारों राजा महा
सूरवीर जीत के स्वरूप पृथिवी मण्डल के रक्षक हुते ॥५३॥ कल्याण कर
बडी है विस्तीर्ण लक्ष्मी जहां ऐसा श्री वर्धमानपुर तहां श्रीपार्ष्वनाथ के
चैत्यालय विषे राजा रत्न के राज विषे यह ग्रन्थ आरम्भ अर पूर्ण भया फिर
शान्तिनाथ के मन्दिर विषे ग्रन्थ समाप्त किया पूजा भई अति उच्छ्रव भया ।
जीती है अर संघ की शोभा जाने ऐसा श्रेष्ठ पुन्नाट नामा संघ ताकी परिपाटी
विषे उत्पन्न भये श्रीजिनसेन नामा आचार्य तिन सभ्यक्ज्ञान के लाभ के अर्थ
रचा यह हरिवंशचरित्र लक्ष्मी का पर्वत सो या पृथिवी विषे बहुत काल अति
निश्चल तिष्ठो सब दिशि विषे सब जीवन का हरा है शोक जाने ॥५४॥

इति श्रीअरिष्टनेमिपुराणसंग्रहे हरिवंशे जिनसेनाचार्यस्य गुरु पर्व

कमल वर्णानो नाम षट्षष्टितमः सर्ग ॥६६॥

परमात्म प्रकाश भाषा टीका

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

अथ "परमात्मा प्रकाश" ग्रंथ "श्री योगिन्दाचार्य" कृत, ता परि संस्कृत टीका 'श्री ब्रह्मदेव' कृत ताकी भाषा कचनिका रूप लिखिए है ।

दोहा

चिदानंद चिद्रूप जो, जिन परमात्म देव ।

सिद्ध रूप सुचि सुद्ध जो, नमो ताहि करि सेव ॥ १ ॥

परमात्म निज वस्तु जो, गुण अनंत मय सुद्ध ।

ताहि प्रकासन के निमित्त, बंदू देव प्रबुद्ध ॥ २ ॥

मलोक— चिदानंदैकरूपाय, जिनाय परमात्मने ।

परमात्मप्रकाशाय, नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥

अर्थः—

श्री जिनेश्वर देव शुद्ध परमात्मा ज्ञान आनन्द रूप चिदानंद चिद्रूप तिनिक ताई मेश सदाकाल नमस्कार होह । कैसे अर्थ नमस्कार होह । परमात्मा का स्वरूप ताके प्रकासवे अर्थ । कैसे हवे भगवान सुद्ध परमात्मा स्वरूप के प्रकासक है । निज अर पर सबके स्वरूप कूं प्रकासक है । बहुरि कैसे हैं सिद्धात्मने कहीये कृत कृत्य है, आत्मा जिनका । नमस्कार योग्य परमात्मा हो है । ताई परमात्मा कूं नमस्कार करि परमात्म प्रकाश नामा ग्रंथ का व्याख्यान करू हूँ ॥ १ ॥

श्री योगिन्द्र देवकृत परमात्म प्रकाश नाम दोहक छंद ग्रंथ ता बीप प्रक्षेपक हीये उक्त च तिमि बिना व्याख्यान के अर्थ अधिकारनिको परिपाटी कहीये है । प्रथमही पंच परमेष्ठी के नमस्कार की मुख्यता करिजे है ॥ २ ॥

जे जाया ज्मारागिए—इत्यादि सात दोहा जानने । बहुरि बिजापना की मुख्यता करि भावें पराकि वि इत्यादि दोहातीन ॥ ३ ॥

बहुरि बहिरात्मा अंतरात्मा परमात्मा इनके भेद करि तीन प्रकार आत्मा के कथन की मुख्यता करि पुरा पुरा पण बिबि इत्यादि दोहा पांच ॥ ५ ॥

अथानंतर मुक्ति कूं प्राप्त भये जे प्रगट स्वरूप परमात्मा ताके कथन की मुख्यता करि तिहु इण वंदिउ इत्यादि दोहा दस ॥१०॥

अथानंतर देह विषै तिष्ठता सत्किरूप परमात्मा ताके कथन की मुख्यता करि जेहु निम्मल इत्यादि चोबीस दोहा ॥२४॥

जिनि में पांच उक्त च है ॥५॥

अथानंतर जीव का निज देह प्रमाण कथन ता विषै स्व मत परमत के विचार की मुख्यता करि भणति जिउ सख गउ इत्यादि दोहा छह ॥६॥

बहूरि द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप ताके कथन की मुख्यता करि आप जणिय उ इत्यादि दोहा तीन ॥३॥

बहूरि कर्म विचार की मुख्यता करि जीवह कम्म अणार जीय इत्यादि दोहा आठ ॥८॥

बहूरि सामान्य भेद भावना ताके कथन की मुख्यता करि अप्पा-अप्पुजि इत्यादि दोहा तीन ॥३॥

बहूरि कर्म विचार की मुख्यता करि जीवह कम्म अठाइ जिपरि अप्पे अप्पु इत्यादि दोहा एक ॥१॥

बहूरि मिथ्या भाव के कथन की मुख्यता करि पज्जु इरतउ इत्यादि दोहा आठ ॥८॥

बहूरि सम्यग दृष्टी की भावना की मुख्यता करि काल है, विरगु इत्यादि दोहा आठ ॥८॥

बहूरि सामान्य भेदभाव की मुख्यता करि अप्पा संयम इत्यादि दोहा इकतीस ॥३१॥

इति श्री योगिन्द्र देव विरचित परमात्मा प्रकास ग्रंथ ता विषै एक सो सेईस ॥१२३॥

अंतिम भागः—

अशानन्तर ग्रंथ के अंतिमंगल के अर्थ आसीर्वाद रूप नमस्कार है ॥

॥ मालिनी छन्द ॥

परम पय गद्याणं भास उ दिव्यकाउ ।

मणि सि मुणि वराणं मुख दो दिव्य जोउ ॥

विसय सुहरयाणं दुल्ल होजो हुलोए ।

जयउ शिव सरुवो के वलोको विवोहो ॥४३॥

अर्थः—जइस कहिए सभोन्कर्म लखनि रुदि कुं भावा होउ बंसा है वह परमतत्व दिव्य काउ कहिए दिव्य है ग्यान आनन्द रूप शरीर जाके अथवा अरहंत पद की अपेक्षा दिव्य काय कहिए परम औदारिक शरीर, कुं धारे है । बहुरि कैसा हैं हजारो सूर्यनिर्त अधिक है, तेज जाका सकल प्रकासी है । जे परम पद कुं प्रापत भए है, केवली तिनिकुं ती साक्षात् दिव्य काय भासै है पुरषाकार भासि रह्य है । अरजे महा मुनि है तिनिके मन विपै द्वितीय सुकल ध्यानरूपी भीतराग निर्विकल्प समाधियोग रूप भास्या है । कैसा वह तत्व मोक्ष दो कहिए मोक्ष का देगहारा है अर केवल ग्यान है स्वभाव जाका ऐसा अपूर्व ग्यान योति सदा कल्याण रूप शिव स्वरूप अनते परमात्म भावनां ताकरि उत्पन्न जो परमानंद अतिद्री सुख तातैं विमुख जे पंच इंद्रिनि के विषय तनि सृ जे आसक्त है तिनिकुं सदा दुर्लभ है ॥ या लोक विषईजीव जाकुं न पावै ऐसा वह परम तत्व सो जयवंत होऊ ॥ या भाति या परमात्मा प्रकामनामा ग्रंथ विषै प्रथम ही जे जाया, भरिए इत्यादिक एक सौ तेईस दोहा १२३ अर प्रक्षेपक तीन ३ तनि सहित पहला अधिकार कहा । बहुरि एक सौ चौदा ११४ दोहा अर प्रत्येक ५ पांच तनि सहित दूसरा महा अधिकार कहया ।

अर पर जाणं तु वि परम मुणि, पर ससग जयति । इत्यादिक एक सौ सात १०७ दोहा नि में तीसरा महा अधिकार कहा प्रक्षेपक अर अंति की दोय काव्य तनि सहित तीन सौ पैंतालीस ३४५ दोहानि में परमात्मा प्रकाश का व्याख्यान अह्य देवकृत टीका सहित संपूर्ण भया ॥ छ ॥

या ग्रंथ विषै प्रचुरताकरि पदनि की संधि करनी ॥ अग वचन भी भिन्न भिन्न कहिए जुदे जुवे धरे सुख सुं समझिबे के अर्थ कटिन संस्कृत न धर्या तातैं इहा लिंग वचन क्रिया कारक संधि समास विशेषण दूषण

न लेने जो पंडित जन विशेषग्य है ते असा जानहुं ॥ जो इह ग्रंथवाल बुद्धिनिके समझिवे कूं सुगम कीया है या परमात्मा प्रकाश की टीका का व्याख्यान जानि करि भव्य जीवनिकूं ऐसा विचार करना ॥ जो मैं सहज सृद्ध जानानंद स्वभावि निर्विकल्प हूं उदासीन हूं । निजानंद निरंजन सुदालम सम्यक् दर्शन सम्यक ज्ञान सम्यक चारित्र्य रूप निश्चय रत्नत्रय मई निर्विकल्प समाधि करि उपज्या वीतराग सहजानन्दरूप आनंदानुभूति मात्रा जो सु संवेदन ज्ञान ताकरि गम्य हूं और उपायनि करि गम्य नांही ॥ निर्विकल्प निजानंद ज्ञान ही करि प्राप्ति है, मेरी भरितावस्थ कहिए पूर्ण हूं राग द्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ पांच इंद्रिणिके विषय व्यापार भनकाय द्रव्य कर्म भावकर्म नो कर्म क्षाति पूजा लाभ देखे सुने अनुभए जेभोग तिति की वांछा रूप निदान बंधभया । मिथ्या शून्य त्रियादि विभाव परिणाम रहित सूख्यो हूं कहिए सब प्रपंचति तैं रहित हूं ॥ तीनलोक तीनकाल विषैं मन वचन काय करि कृत कारित अनुमोदना करि शुद्ध निश्चय नय की मैं आतमाराम ऐसा हूं तथा सर्व ही जीव ऐसे हैं इह निरंतर भावना करनी ॥छ॥

यह परमात्म प्रकाश ग्रंथ का व्याख्यान प्रभाकर भट्ट के संबोधने अर्धि श्री योगिन्द्र देव नै किया ता परि श्री ब्रह्मदेव नै संस्कृत टीका करी । श्री योगिन्द्राचार्य नै प्रभाकर भट्ट संबोधिवेकैं अर्धि दोहा तीन सैं तीयालीश कीए ॥ ता परि श्री ब्रह्मदेव नै संस्कृत टीका हजार पांच चारि ५००४ कीएता परि दौलति राम ने भाषा वचनिका का श्लोक अडसठि सैं निबै ६८१० संख्या प्रमाण कीए ॥ श्री योगिन्द्राचार्य कृत मूल दोहा ब्रह्मदेव कृत संस्कृत टीका का दौलतिराम कृत भाषा वचनिका पूर्ण भई ॥ छ॥ इति श्री योगिन्द्राचार्य विरंचित परमात्मा प्रकाश की भाषा वचनिका संपूर्ण ॥छ॥

दोहा:—

कटि कुवडि कर बेगडी, नीचा मुख अर नैण ।
इस संकट पुस्तक लिखूं, नीका राखो सैण ॥

x

x

x

x

x

आदिपुराण

रचनाकाल :—संवत् १८२४ चैत्र सुदी पूर्णिमा

रचना स्थान :—जयपुर (राजस्थान)

अथ तीसवां पर्व ।

अथानंतर पृथ्वी का प्रभु पश्चिम दिशा के जीतिवेकूँ उद्यमी भया, नैऋत्य कोण के मार्ग अपनी सेना के साधन करि पृथ्वी कूँ बधि करता चालया ॥१॥ आगे आगे छोड़े जाय हैं तिनि के पीछे रथ चले अर मध्यविषै हाथनिकी घटा चाली अर पयाड़े सर्वत्र चाले ॥२॥ या भांति चतुरंगबल देवनि के अर विद्याधरनिके कटक सहित पडंग पृथ्वी विषै विस्तरया ॥३॥ चालता कटक का क्षोभ ता शकी समुद्र चलायमान भया सो मातूँ सेवक जे मुभट तिनि कूँ स्वामी के पीछे चालता पहुँचावने कूँ संग होना प्रगट दिखावै है ॥४॥ कटक के लोकनि बलात्कारतें भोषे बुझनि के फल सो फल तोड़वै वृक्ष नय गए अर नदीनिका जल सुसि गया कीच होय गया अर बड़े बड़े पहाड़ यल होय गए ॥५॥ याके कार्य की सिद्धि सब सफल होतो भई अतिरसकी भरी सुखकी करणहारी सेवक जननिकरि बाँझिके योग्य महा उत्साह सहित अत्यंत फलती भई याकी मंत्र शक्ति उरसाहशक्ति प्रभुत्वशक्ति ॥६॥

अर सेना, पृथ्वीके जीतिवेकी है इच्छा जाकै सो देदीप्यमान होती भई कंसी है शक्ति अर सेना—काहुतें भेदी न जाय, दृढ़ है प्रबन्ध जिनिका अर शत्रुनि के क्षयका कारण ॥७॥ याके योद्धा बारानिसहित जीतिके भावकूँ प्राप्त भए, कंसे हैं बाण अर योद्धा बाण तो फल कहिए भाला तिनिकरि संयुक्त हैं अर योद्धा मनवांछित फलकरि युक्त हैं अर बाणहू तीक्ष्ण हैं अर योद्धाहू तीक्ष्ण हैं अर बाण तो पक्ष कहिए पांख तिनिकरि सहित हैं अर योद्धा पक्ष कहिए सहायी तिनिकरि संयुक्त हे अर बाणहू दूरगामी अर योद्धाहू दूरगामी ॥८॥ अर याके विपक्षी कहिए शत्रु ते सत्यपनै विपक्ष कहिए पक्षरहित सहायरहित होते भए, सेना के लोकनि तिनि कूँ दूरि काढि दीए, ते सब सामग्रीसूँ रहित होय गए ॥९॥ एक बड़ा अचिरज है याके विरोधी याके कोपकूँ होतसंतें भी कुपति कहिए कुमाणस होय गए सब सामग्रीरहित भए, अर दूजा अर्थ-व्यंग्यरूप-कुपतिनाम पृथ्वीपतिका है । अर याके विरोधी पहाड़निकूँ उलंघि दूरि भागे अर दूजा अर्थ भूभृत् नाम राजानिका है अर याके विरोधी जैसे होय गए जो अन्न न मिले वनफल छाया प्राजीविका पूर्ण करते भए अर दूजा व्यंग्य अर्थ-फलसंपदा भोगवते भए ॥१०॥ याकै संधि कहिए मिलाप अर विग्रह कहिए युद्ध ताकी चर्चा शास्त्रविषै होती भई समस्त शत्रुकी पक्षका निराकरण करणहारा ताकै कौनसूँ संधि ? अर कौनसूँ युद्ध ? याकै सब सेवक है कोऊ समान होय तो

संधि मित्रह संभव ॥११॥ या भांति इह प्रजेतव्यपक्ष कहिए नांही रहया कोऊ प्रबल शत्रु जीतिवे योग्य जाकै याकै दिन सब दीन हैं तथापि इह दिग्विजयकू उद्यमी भया सो मानुं अपना पालिकेका भरत जेव ताकी दिग्विजयके मिसकनि प्रदक्षिणा देता भया ॥१२॥

याकी सेनाके लोकनि समुद्रके तोरकों भूमि सब बशीभूत करी कैसी है तीरकी भूमि-सुपारीके वृक्षनिकरि करी है छाया जहां घर नारेलनिके बनकरि मंडित है ॥१३॥ याकी सेना के लोक सरोवरनिके तीर वृक्षनिकी छाया तहां विश्राम करसहारे तरुण नारेलनिका चया जो रस ताहि पीवते भए ॥१४॥ घर याकी सेना के लोक ताल बनविषै सुनते भए सुखे पाननिके शब्द, पवन के हलायवेकरि पडे हैं ताडपत्र तिनिके पडिवेकी भट्टा कठोर ध्वनि होय रही है ॥१५॥ घर बूड़ नृपनिका पति तांबूलनिकी बेलिसहित देखता भया खैर के वृक्ष, सो परस्पर मिलिरहे हैं मानुं लोकनिकू ऐसी दिखावे हैं जो पाननिका घर हमारा एक कार्य है जहां पान तहां काथ ॥१६॥ नृपनिका शत्रु तांबूलनिकी बेलिसू लगरहे खैर के वृक्ष तिनिकू देखता संता इनि वृक्षनिकरि बेढी तांबूलकी बेलि तिनिकू अवलोकिकरी हषित भया, मानुं ए स्त्री-पुरुष के युगलभावकू आचरे हैं ॥१७॥ घर बनविषै विहग जे पक्षी तिनिकू देखता संता हषित भया मानुं ए पंखी मुनिसारिखे सोहै हैं मुनिहकी यह रीति है जहाँ सूर्य अस्त होयवेका समय निकट आवै तहांही निवास करै रात्रीकू गमन न करै घर पंछीहू निशा-विषै गमन न करै घर पंखी निरंतर शब्द करै है सो मानुं स्वाध्यायही करै हैं ॥१८॥

घर कटहल के वृक्ष मांही गृध्र घर बाहरि जिनिकी त्वचा कांटेनिकरि युक्त तिनिके मिष्टरस असृतसमान सेनाके लोक पदेष्ट भखते भए ॥१९॥ नारेलनिका रस पीबना घर कटहलका भोजन घर मिरचनिकी तरकारी, यहां बनका निवासहु सुखकारी है ॥२०॥ घर तीक्ष्णगमकी भरी मिरच तिनिका आस्वादकार पंखी शब्द करै हैं घर परै हैं आंखिनिसू अभ्रुपात जिनिके तिनिकू भ्रुपेद्र देखता भया ॥२१॥ घर तरुण मर्कट महातीक्ष्ण मिरचनिकी मंजरी ताहि भखिकरि मशंकित भए सिर हलावै हैं तिनिकू पृथ्वीका पति निरखता भया ॥२२॥ ता समै कटकके जन लोकके उपकारी जे वनके वृक्ष तिनिकू फलनिकरी नम्रीभूत देखि कल्पवृक्षनिके अस्तिस्वविषै निःसंदेह भए, मनमें विचारी -ए वृक्षही फलदाता हैं ती कल्पवृक्ष तो फलदाता होयही होय ॥२३॥ सतारूप स्त्री ताकरि मंडित घर फूलरूप प्रसूतिकरि संयुक्त अंसे वनके वृक्ष मानुं

पृथ्वीपतिके करदेवा किसानही हैं, ते वृक्ष लोकनिकुं फलनिकरि पोषते भए ॥२४॥ नालेरनिका रस सोई भया आसव ताकरि मदींभक्त कछुइक घुमै हैं नेश जिनिके असी सिंहलदेशकी श्री पृथ्वीपतिका यश श्रुतिगभीर स्वरसूँ गावती भई, वह यश सुनतहारेनिके अवशानिकुं अतिसुन्दर ॥२५॥

अर त्रिकूटाचल मलयाचल तिनिके तटविषैं अर पांड्यकणाटक नामा पर्वत ताविषैं याका यश जिनरीदेवी अतिगम्भीर स्वरसूँ गावती भई ॥२६॥ अर मलयाचलके निकट वननिविषैं अर सह्याचलके वनविषैं याका यश पृथ्वीके जीतिबेकरि उपज्या सो भीलनिकी श्री गावती भई ॥२७॥ अर चंदन का उद्यान ताहि स्पशिकरि मन्द सुगन्ध पवन ब्राजती भई, मलयाचलके कुम्भजनिहरे हैं नीभरणनिके जलकरा जानैं ॥२८॥ दक्षिणदिशाकी पवन घोगिरद विस्तरती नृपका खेद हरती मानूँ पाहुणगतिकरि सेनाके लोकनिका सत्कारही करै है ॥२९॥ अर केरल देशकी श्री लींग इलायची आदि सुगन्ध वस्तुनिकी बास तिनिकरी सुगन्ध है मुखके आस जिनिके अर जिनिके स्तन सघन चन्दनके द्रवकरि चरचे गाँठु होय रहे हैं ॥३०॥ अर लीलासहित मन्द है गमन जिनिका मानूँ नितंबनिके भारकरि मन्द चालें हैं अर कामके पुष्पवारा तिनिकी कलीके खिलबेकेसे विभ्रमकूँ धरे सुन्दर है मुलकनि जिनिकी ॥३१॥ अर कोयलके आलाप समान मधुर हैं वचन जिनिके ते वचन अतिप्रकट नांही भीणें स्वरकूँ धरें है अर अतिकोमल जो बाहुलता अतिसुभग हिडोरे समान तिनिकूँ हुनावती मनोज है चेष्टा जिनिकी ॥३२॥ अर महासुन्दर नृत्य करती नृत्यसमय स्खलित होय है पगनिकी रचना जिनिकी अर बाहुल्यताकरि मोतीनिके आभूषण पहरे जीते हैं भंवरनिके गुन्जार जिनि अंसे मन्द मनोहर गान करती ॥३३॥

तमालवनकी कुंजगलीनिमें यथेष्ट विचरती नवयौवनकूँ धरे केरलदेशकी श्री याका मन प्रसन्न करती भई ॥३४॥ सो राजेंद्र दक्षिणदिशाकूँ वशिकरि चोल देश केरलदेशके राजा तनि सबनिकूँ जीतिके साधनतैं वशिकरि प्रणाम करावता भया, सब राजा आय पांय परे ॥३५॥ कलिगदेशके उपजे गज मलयाचलपर्वतसमान ऊँचे मानूँ अपने उच्च शरीरकरि गिरिनिकी उच्चताकूँ उलंघै हैं ॥३६॥ दिग्भिजयविषैं सेनाके गज सब दिशानिमें विश्राम करते दिग्भजपणां अंगीकार करते भए, लोकनि जानी—एही दिग्गज हैं अर और दिग्गज कहिए हैं सो उपमार्क अर्थ कहिबेमात्र हैं ॥३७॥

बहुति भरतक्षेत्रका भूपाल पश्चिमदेशकूँ प्राप्त होय सह्याचलके समीप पश्चिमदिशिके समुद्रके तटके राजा तिनिकूँ जीतता भया ॥३८॥ जीतिका

साधन याका कटक पश्चिमदिशाके समुद्रके तीर निवास करता भया ॥४६॥
उपसिधु कहिए खारडी समुद्र सो अपने दोऊ तटनिविधे राजानिके राजाका
कटक देखि भयधकी क्षोभकूँ प्राप्त सोय मानूँ आकुल व्याकुल भया ॥४७॥
सेनाके क्षोभतैं समुद्र या तट की उर प्राप्त होय अर या तट की उर निवास
करती सेनाके क्षोभतैं वा तटकी उर प्राप्त होय है ॥४८॥ हरितमणि तिनिकी
प्रभाके विस्तारकर समुद्रका जल अँसा सोहता भया मानूँ चिरकालतैं सिवाले
नीचें हुता सो ऊपरि आव गया है ॥४९॥ अर कहूँइक पद्मरागमणिनिकी
किरणनि करि समुद्रका जल अँसा सोहता भया मानूँ कटकके क्षोभतैं समुद्रका
हृदय विदार्या गया है तातैं उचलै है रुधिरकी छटा ॥५०॥ सह्याचल पर्वतके
तटकूँ समुद्रका जल स्पर्श है सो मानूँ याकी गोहर्म लोटता संता अपना दुख
नियेदन करै है अर वह याकूँ धारना संता मानूँ भाईका भाव प्रगट करै है
॥५१॥ न सह्या परै अँसा बलका संघट्ट ताकरि सो सह्याचल भग्न भए जे
वृक्ष तिनिकरी मानूँ हाथ ऊँचेकरि पुकारही करै है ॥५२॥ सह्याचल कटक-
करि विदार्या, चलायमान हैं प्राणी जहाँ सो गुफाके छिद्रनिकरि आकुल शब्द
करता मानूँ मृत्युदशाकूँ प्राप्त होय है, कैसा है पर्वत—सिंहादि प्राणी ते ही हैं
प्राण जाके । भावार्थ—जो मृत्यु दशाकूँ प्राप्त होय है ताके प्राण चलायमान
होय हैं अर याके प्राणी चलायमान हैं ॥५३॥ चलायमान हैं वृक्ष जाके अर
चलायमान हैं प्राणी जहाँ अर शिथिल होय गई है कतिनो जाकी सो पर्वत या
भाति चलाचल होता थका कहियेसात्रही अचलनाम धरावता भया, लोकन
जानी—कहियेका अचल है ॥५४॥

प्राणीनिके समुद्रनैं किया है वनका भोग अर सुरागनिके सुरघट्टनकरि
तथा कटकके लोकनिके पायनिकरि चूरी संती सह्याचलकी भूमि क्षणमात्रमें
स्थलके भावकूँ प्राप्त भई ॥५५॥ चक्रवर्तीके विजय गज पश्चिमके समुद्रके
तटपर्यंत अर मध्यसावलगिरीपर्यंत अर तुंगवर पर्वतपर्यंत अमते भए, कैसा है
तुंगवर-ऊँचे पाषाणनिकरि संयुक्त है ॥५६॥ बहुरि कृष्णागिरीकूँ उलंघि अर
सुमंदरगिरीकूँ उलंघि बहुरि मुकुंदगिरिकूँ उलंघि राजेद्रके गजराज भूमिमें
अमते भए ॥५७॥ तहाँ पश्चिमदिशिके समीपके हाथी छोटी है पीवा कहिए
नारी जिनिकी अर जांबे हैं दांत जिनिके अर सुंदर हैं नेत्र जिनिके अर मृदु है
त्वचा जिनिकी सचिकूरा अंघाम महापुष्ट ॥५८॥ बड़ा है शरीरका ऊपला भाग
जिनिका उत्तुंग है अंग जिनिका अर रक्त है जीभ होठ तालवे जिनिके
महामानके धरणहारे अर दीर्घ है पूंछ जिनिकी अर कमलसमान सुगंध करै है
अद जिनिके ॥५९॥ अपने वनविषैं संतुष्ट अर महाशूखोर हृद है चरण जिनिके

अर सुंदर है शरीर जिनि का ऐसे पश्चिमके हस्ती बननिके स्वामी अति आदरसू
भेट ल्याए तिनिकुं आप राखता भया ॥५३॥

सो पृथ्वीका राजा अनेक नदी उलंघता भया, कैसी हैं नदी-वन ही हैं
रोमावली जिनि कं अर ऊंचे तट तेई हैं नितंब जिनि के, केई नदी पूर्वगामिनी केई
नदी पश्चिमगामिनी मानूँ सहाचलकी पुत्रीही हैं, तिनिकुं उलंघता भया ॥५४॥
विचरै है भोयरा ग्राह जिनि में असी भीमानामा नदी अर भीमरथी जलचरके
समूह तिनिकरि उठ्या है भंवर जिनि में असी दारुवेरा अर दारुणा महानदी
तिनिकुं उलंघता भया ॥५५॥ अर नीरानामा नदी नीरके तीर जे वृक्ष तिनिके
षाखाके अग्रभागकरि आच्छादित है जल जाका अर मूलानामा नदी ढाहेनिकुं
उपाई असा है प्रवाह जाका सो अपने प्रवाहकरि मूलतैं उखारै हैं तटके वृक्ष
जानै ॥५६॥ अर बाणा नामा नदी, सो कैसी है—निरंतर बहै है जल जामैं
अर केतवा नामा नदी सदा जलकरि भरी बहुरि करीरीनामा नदी सो कैसी है—
करी जे हाथी तिनिके दांतनिकरि विदारे हैं तट जाके इत्यादि महानदी तिनिकुं
नृपनिका इंद्र उलंघता भया ॥५७॥ बहुरि प्रहरा नामा नदी विषम जे ग्राह
तिनिकरि द्विपत मानूँ वह नदी असती कहिए दुराचारिणी नारीही है, दुराचा-
रिणी स्त्री विषम ग्राह जे नीचजन तिनिकरि द्विपत है बहुरि मुररा नामा नदी
दुराचारिणी के पंछी तिनिकरि मेध्य स; नदी कीच रहित मानूँ महासतीही है
महासतीह पंक कहिए कलंक ताकरि रहित है ॥५८॥

अर पारा नामा नदी जाके जलके तीर शब्द करै हैं कुरंछि कलईस
सारस । अर मदना नामा नदी कैसी है मदना—समानस्थल अर नीचेस्थल तनि-
जिमें जलकरि समान है अर अखंड है गति जाकी ॥५९॥ अर वेशुकानामा नदी
मानूँ इह नदी सहाचलरूप राजकी मदधारा ही है । अर गोदावरी अखंड है प्रवाह
जाका अति विस्तारकुं धरै है ॥६०॥ अर करीरवनकरि मंडित है तीरकी भूमि
जाकी असी तापी नामा नदी आतापके संतापतैं कछुइक उष्णजलकुं धरतीसंती
बहै है ॥६१॥ अर रम्या नामा नदी ताके तीरके वृक्ष तिनिकी छाया सूते हैं
मृगनिके बालक, अर सांगल खातिकानामा नदी कैसी है मानूँ पश्चिम दिशाकी
खाई ही है ॥६२॥ इत्यादि अनेक नदी तिनिकुं सेनापति सेनासहित उलंघता
भया जहां जहाँ सेनापति गया तहां तहां बनके साथे हाथी अहता भया ॥६३॥
चक्रवर्तिका कटक सह्याचलकुं उलंघि विष्णुचल जाय प्राप्त भया, कैसा है
सह्याचल पसारी हैं नदीरूप जीभ जानै सो मानूँ समुद्रकुं पोबेकुं उद्यमि भया
है ॥६४॥

अथ कटक विद्याचल आला को विमानलकू भृपनिका रूप आपममान देखता भया—वह गिरिनिका पति उत्तुंग अर वह आपह उत्तुंग अर आप ती बडे वंशकू घरे अर वह बडे बांसनिकू घरे, आप दीर्घताकू घरे अर वहह दीर्घताकू घरे, आपह श्रीरनिकरि अलंघ्य अर गिरिहू श्रीरनिकरि अलंघ्य तातै गिरीद्रकू आप तुल्य देखि प्रसन्न भया ॥६५॥ कैंसा है गिरी—अपने ऊंचे शिखरनिकरि सोहै है उच्छलिकरि दूरि जाय परै हैं निभरने जिनतैं अर ध्वजा-सहित विमाननिके समूहकरि मानू विश्रामकैं अथि धाका आश्रय ले हैं ॥६६॥ जो विद्याचल अपनी पूर्व अर पश्चिमकी अणो तिनिकरि समुद्रकू अवगाहिकरि तिष्ठया है मानू दावानलके भयत समुद्रसू मितता कीया चाहै है ॥६७॥

अर निरन्तर भरै हैं नीभरने जाकैं तलहटोके वृक्षनिके सीचिवेकैं अथि सो मानू इह गिरि अैंसा भाव कहै है—बडे नृपनिकू इह योग्य है जो अपने चरणनि लागे तिनिकू पालन करै ॥६८॥ अर तटविषै तिष्ठते ऊंचे पाषाण तिनिसू स्खलित होय उछले है जस जाका अैंसी नदीक्ष्य नारी तिनिकू मानू शब्दसहित नीभरने तिनिकरि हसैंसी है ॥६९॥ अर दावानल नीचले विस्तोरां वन तिनिकू जसकी सरदीकरि दाहिबेकू असमर्थ तातैं भृगुपात कहिए गिरितैं गरिवेकैं अथि शिखरकू चढ है भावार्थ—तलैं सरदी जलकी घनी है अर शिखरपरि जल ठहरै नाही तातैं शिखरपरि दावानल लागै है सो मानू भंषा-पात बेलेकू चढ़ी है ॥७०॥ प्रज्वलित दावानल ताकरि संयुक्त जे गिरिके शिखर तिनिकू वनचर जे भील ते ज्येष्ठ आपादके दिनानिमें सुवर्णसारिसे लखै हैं ॥७१॥

जाके वन मातंग जे हाथी अथवा भीलादिक चांडाल तिनिकरि संयुक्त हैं अर भुजंग कहिए सर्प अथवा विषके भरे दुष्ट जीव तिनिका है संचार जहाँ अर विजाति कहिए पक्षी अथवा नीच जाति तेई भए कटक तिनिकरि पूर्ण हैं तातैं कहूँदक अतिकष्टकू धरै हैं ॥७२॥ अर माते हाथी तिनिका है योग जहाँ अर समुद्र लवराकी है बाहुल्यता जहाँ अर विपन्न कहिए पंखीनिकी पांख जहाँ बहुत पड़ी हैं अर पत्र तथा कूपल तिनिकरि बहुत सोहै है ॥७३॥ अर कहूँदक फटि गए हैं बांस जिनिके उदरतैं गिरे जहाँ तहाँ विखरि रहे हैं मुक्ताफल तिनिकरि मानू वनलक्ष्मी प्रगट जो दांसनिकी किरण ताकरि वनविषै हसैंही है ॥७४॥ अर इह विद्याचल गुफानिके मुख तिनिकरि भरै है नीभरने तिनिके शब्दकरि मानू गाजैही है, अपनी महिमाकरि करी है कुलाचलनिसू स्पंदी जानै ॥७५॥

अर इह पहाड नीचे ऊँचे स्थानक तिनिकरि अर नानाप्रकारकी गेरु
यादि धातु तिनिकरि अर नानाप्रकारके मृगनिके रूप तिनिकरि मानूँ चित्रपटके
आकारकूँ धरे है ॥७६॥ अर जाके वनविषैं रात्रिसमें औषधि प्रज्वलित होय है
सो मानूँ देखनि ए दीपक प्रज्वलित कीए है अन्धकारके हरणहारे ॥७७॥
अर कटुकके दूरैतनि बिदारे हैं अजैँ निके पुष्पस्थल तिनिके उद्गारे हैं मोनी
तिनिकरि जाका समीपस्थल बिखरे पुष्पनिकी शोभाकूँ धरै है ॥७८॥ सो
नृपनिका नृप दूरिहीतें महागिरिकूँ देखि परम आनन्दकूँ प्राप्त भया मानूँ वह
भिरि राजराजेंद्रकूँ पवनकरि हासते तट के वृक्ष तिनिकरि बुलावै है ॥७९॥
सो चक्रेश्वर विध्याचलके किरात कहिए भील अर करी कहिए हाथी तिनिकूँ
समुद्रसहित दूरत देखता भया, कैसे हैं किरात अर कैसे हैं करी—कालीघटा-
नयान काले अर भील तो बांस के धनुष धरै अर हाथी धनुषके आकार वंश
कहिए पीठ ताहि धरै ॥८०॥ ता पर्वतके तटविषैं नदीए स्त्री चंचल जे
मच्छी तेई हैं नेत्र जिनिके अर पच्छीनिके शब्द तेई है अव्यक्त सुन्दर शब्द
जिनिके औसी नदीरूप नारी तिनिकूँ नरपति निरखता भया ॥८१॥

अर विध्याचलके मध्य नर्मदा नदीकूँ देखता भया सो नर्मदा नदीनिमें
बड़ी मानूँ विध्याचलकी समुद्रपर्यंत कीति बिस्तरी है काहूँ निवारी न जाय
॥८२॥ तरंगरूप है जलका वेग जाका औसी नर्मदा मानूँ पृथ्वीकी लांबी चोटीही
है अर विध्याचलपर्वतकी पताकाही है समस्त पर्वतनिकूँ जीतै ताकी प्रशंसा
प्रगट करणहारी ॥८३॥ सो नदी कटकके ओभतें उठी है पंखीनिकी पंक्ति
जाविषैं सो मानूँ पृथ्वीका पति अपने स्थल आया ततें तोरणही बांधे है,
पंखीनिके उडिवेतै क्षणैक औसी भासी ॥८४॥ अर इह सांचिली नर्मदा है जो
राजानिकी रानीनिकूँ नर्म कहिए क्रीडा ताकी देनहारी ताके मध्य मच्छी केल
करै है ॥८५॥ ता नर्मदाकूँ उतरिकरि राजेश्वरका कटक विध्याचलके पैलें तट
जाय पहाँच्या घरकी देहलीकी बुद्धिकरि विध्याचलकूँ उलछ्या अर नर्मदाके पार
भए, कैसे हैं नर्मदा—कटकके ओभतें उठी है पंखीनिकी पंक्ति जाविषैं ॥८६॥

अर विध्याचल नर्मदाकें दक्षिणादिशिभी देख्या अर उत्तरदिशिभी देख्या
मानूँ विध्याचलने दोऊदिशाविषैं अपना रूप दोयप्रकार कीयां है दोऊही
दिशानिमें जाका छेह ताही ॥८७॥ चक्रीका कटक नर्मदाकी चौगिरद विध्या-
चलकूँ बेढिकरि निवास करता भया मानूँ इह कटक दूजा विध्याचलही है
॥८८॥ वह कटक अर विध्याचल परस्पर भेद न धारते भए, कटकमें तो गज
अर गिरीमें गंडोपल कहिए ऊँचे स्थानक अर कटकमें अश्व अर पर्वतमें अश्व-

चक्र कहिए किनर देव, अद्वह चपल अर किनरह चपल ॥८६॥ कटकन भस्त्रे समस्त फल अर पल्लव अर तह सो विध्याचल दल फल पुष्प बेलि पत्र तिनिकरि रहित होयगमा सो मातृ, विध्याचल बंध्याचल होय गया। बंध्या नाम निफलका है ॥८७॥ बांसनिके चावल बांसनिके मोती निकरि मिथित तिनिकरि कटकके लाग जिनेंद्रको अर्चा करते अपनी इच्छाकरि सुखसु तिष्ठते महा-मनोजह विध्याचल की स्थली ॥८८॥ तहां पृथ्वीपतिनै निवास किया तत्र वनके राजा राजाधिराजकू देखते भए अर वनकी नानाप्रकारकी वस्तु प्रशंसायोग्य रोगकी निवारणहारी महाऔषध भेट करते भए ॥८९॥ हाथीनिके दांत अर गजमोती अर बांसनिके मोती भीसनिके अश्विपति भेट करते भए सो उचितरी है पृथ्वीपतिका सत्कार करना ॥९०॥

नर्मदाकू उत्तरि विध्याचलकू उलंघि चक्रवर्तीका कटक पश्चिमदिशाके जीतिबेकू प्रयाण करता भया ॥९१॥ पहली ककुदक उत्तरदिशाकी तरफ कटक जायकरि पश्चिमदिशाकू चक्रसहित प्राप्त भया, याका प्रताप तौ पहिलीही सब उर व्यापि रह्य है ॥९२॥ कटकके अद्वह तिनिके खुरनिनै उठी पृथ्वीकी रज सो सूर्यके तेजकू रोकती भई केवल वैरीनिकाही तेज न रोख्या जाके तेज भागें सूर्यहूका तेज रुकियया ॥९३॥ लाट देशके राजा ललाटककरि स्पर्श है पृथ्वीनल जिनि अतिसुन्दर भाषा बोलते प्रभुकी आज्ञाके वशि होय लाभालिक पदकू प्राप्त भए। जो स्वामीका अभिप्राय जानै अर आज्ञाप्रमाण कार्य करिबेकू समर्थ नाहि लालाटिक कहिए ॥९४॥ कंक वनके अधिपति सोरठदेशके गज अर पंचनदीके वननिके गज भेंटकरि पृथ्वीनाथका दर्शन करते भए, चक्रकरि सब चलायमान होय गए ॥९५॥ चक्रके देखिबेत्त डरे, देश तजि पृथ्वीनाथकें समीप आए तनि जानी इह सब पृथ्वी चक्रेश्वरकी है जाहि जो स्थल देय सो पार्व कंक राजा क्रूरअह समान महाक्रूर हुते सो चक्रीकें वशि भए ॥९६॥

भरतक्षेत्रका पति सब दिशानिके देशपति पाते हाथी समान मदोन्मत्त तिनिकू अपने बलतैं दबाय सूये करता भया कैसे हैं राजा अर कैसे हैं गजराज— राजा तौ बड़े वंशके उपजे अर गज बड़े पीठिकू धरें, वंशनाम पीठहूका है, अर हाथी मदोन्मत्त राजाहू मदोन्मत्त सो सब राजा राजेंद्रके प्रतापतैं निर्मद होय गए ॥९७॥ सोरठदेशके राजा अर उष्ट्रदेशके राजा ल्याए हैं अनेक प्रकार भेटनिके समूह तिनिकू पृथ्वीनाथ संतुष्ट करता तनिपरि कृपा करना गिरिनार-गिरिकी धली आया ॥९८॥ सोरठदेशविधे गिरिनारगिरि सुमेरुसारिका पर्वन तहां भरतक्षेत्रका पति आय पहुँच्या, असवारीतैं उत्तरि गिरिनारिकी प्रदक्षिणा

देय होनहार बाथीसमै तीर्थकर तिनिका ध्यान करता मिरिकी बंदना करी ॥१०२॥ रोमी कपड़े अर रेशमी कपड़े अर चीन पाटंबर इत्यादि अनेक प्रकार-के वस्त्र भेंटकरि भूपति भूपेद्रका दर्शन करते भए ॥१०३॥ कैयकनिकू सन्मान दान-करि कैश्कनिकू स्नेहवचनकरि कैयकनिकू कृपाकी हृष्टिकरि अतिहर्षित करता भया ॥१०४॥ अर नानाप्रकारके गज अर ऐराकी घोड़े अर नानाप्रकारके रत्न तिनिकरि पश्चिमदिशाके राजा सोरठमें आया नृपतिका नाथ ताहि पूजते भए ॥१०५॥ महासेजस्वी शरीर जिनिका अतिसुन्दर बुद्धिमान तरुण वय पराक्रमगुण-करि मंजित सुरुक्षदेशके उपजे सुरंगम तिनिकरि कैश्कराजा राजेश्वरकू पूजते भए ॥१०६॥ अर कैयक राजा कांजोजदेश के घोड़े अर सातहीकदेशके घोड़े तथा तैतिलदेशके अर शत्रुदेशके सिंधुदेशके वनायुदेशके गांधारदेशके दारुणदेशके इत्यादि अनेक देशनिके सुरंगम तिनिकरि भूपेद्रकू आराधते भए ॥१०७॥ महाकुलीन औराकी जातिके घोड़े नानादेशके विचरणहारे पूर्ण हैं अंग जिनिके तिनिकरि भूप भूपेद्रकू सेवते भए ॥१०८॥ प्रयाण प्रयाण प्रति याकै केवल रत्ननिहीका लाभ न भया दए ता अनेक लाभ भया जे राजा दुःसाध्य हुये ते अपने बलतें सब वशि कीए ॥१०९॥ जल और थलके गंध तिनिकू सब घोरतें रोकि अपनी जीतिके साधनकरि गए सिंधुके सब राजानिकू सेनापति जीतता भया ॥११०॥

नानाप्रकारके देश अर वन नदी पर्वत तिनिकू उलंघि सेनापति पश्चिमके राजानिकू पृथ्वीपतिकी आज्ञा सुनावता भया ॥१११॥ जो काहु ठीर कछु अपराध न होय, हिसादिक पाप अर अनीति कोऊ करि न सकै, चोरी जोरी न होय, या भांति आज्ञा सुनाय जैसे पूर्वके भूपाल वशि कीये हुते तैसे पश्चिमके अनुक्रमतें वशि कीए, हर्या है तिनिका मानधन, या भांति सबनिकू वशिकरि राजेंद्र पश्चिमके समुद्र आया ॥११२॥ सो समुद्र तरंगनिरूप कर तिनिकू विस्तारता दूरहीतें मानू तरेंद्रका सत्कार करता भया तरंगनिमें नानाप्रकारके रत्न विस्तरे सो मानू समुद्र अर्घपाछही करे है ॥११३॥ जवाहरनिकरि प्रशंसायोग्य जे बड़े जवाहरी तिनिकरि या समुद्रके रत्न अल्पमूल्य गिनिये हैं अर या चक्रेश्वरके रत्न बहुमूल्य गिनिये हैं ॥११४॥ अर इह नामकरि लवणसमुद्र सो लघु भया तातें तासमै नृपति ऐसा माना जो इह चक्रही रत्नाकर है अनेक रत्ननिकी राशि है, या भांति सब राजति बहुत प्रशंसा करी ॥११५॥

या पश्चिमदिशाविषे सूर्य आवै है तब सूर्यहका तेज भंद होय जाय है सो याहु दिशिमें नृपेद्रका तेज अति देदीप्यमान होता भया, पश्चिमके सब राजा जीते ॥११६॥ इह चक्रेश्वर शत्रुनिकू तीव्र उद्वेग उपजावता सूर्यसमान दिपता

भया चक्ररत्नकूँ धारता सकलप्रजाके दुख दारता गुणरूप समुद्रकूँ पूर्ण करता भया, सब मनु कंपायमान करे ॥१७॥ समुद्रके तीर चाल्या, पश्चिमके तीर पङ्क्त्या जो द्वारहीय सिंधुनदी समुद्रमें प्रवेश कीया है असा सिंधुद्वार ताके समीप कटकके डेरे कराए, कैसा है कटक—अपने चित्तसमान निराकुल है चक्रेश्वर महालक्ष्मीदान जा समान अन्य कोऊ विभूतिवन्त नाहीं ॥१८॥ सिंधुके तटके वन तहां सेनाके डेरे भए फौजके हाथी तिनिके चरिबेकरि पेड़मात्र रहिगये ॥१९॥ तहां मंत्रसहित चक्ररत्नकी पूजा करो समस्त रीतिका वेत्ता पुरोहित, पंचपर-मेष्ठीकी विधिपूर्वक पूजा करो ॥२०॥ पवित्र गंधोदकसूँ मिश्रित आसिकासहित अक्षत देयकरि पवित्र आशीर्वाद देय पुरोहित चक्रकूँ आनन्द उपजावता भया ॥२१॥ तासमें धरे हैं देवोपनीत शस्त्र जानै पहली रातिप्रमाण रथादिवे आरुद्ध होय लवणोदधिकूँ गायके श्रोज समान अल्प जाति पृथ्वीका पति लवणोदधिकूँ अशगाहता भया ॥२२॥ उत्कृष्ट है दीप्ति जाकी असा प्रभासनामा देव ताहि जीत्या पृथ्वीका पति अपनी प्रभाके समूहकरि सूर्यकी प्रभाकूँ तिरस्कार करे है ॥२३॥ जो वीरलक्ष्मी सोई भई मच्छी ताके दशि करिबेकूँ जालसमान मोतीनिका जाल अर संतान जातिके कल्पवृक्षनिकी माला अर सुवर्णका जाल ए सब प्रभासदेव भेट करी सो चक्रधर अही ॥२४॥ या भाति पुण्यके उदयतं पृथ्वीपति बड़े देवनिकूँ जीतता भया तार्त बुद्धिमान पुण्यरूप धनका निरंतर उपार्जन कहहु, सो पुण्यधन महाप्रबल है ॥२५॥

चक्रवर्त्तीनिमें आदि प्रथमचक्री अतुल है लक्ष्मी जाके अर नाचने उछलने उत्तुंग तुरंग तिनिके खुरनिकरि चूर्ण कीए हैं विषमस्थल जानै, तुरंगनिके खुर-निकरि उठी रेणु ताकरि समुद्रकूँ श्यामता उपजावता संता प्रभासदेवकूँ जीति-करि तायकी गारभूत वस्तु लीन्हो ॥२६॥ लक्ष्मीके हींदिवेकी लतासमान संतान-जातिके कल्पवृक्षनिके पुष्पनिकी माला अरबिबे धारी अर मोतीनिका अर सुवर्ण-का जालजुगल ताकरि संयुक्त जैसे कोऊ बीद बीदनी परणि भीतरत बाहर निकस तैसे लक्ष्मीका ईश लक्ष्मीकूँ परणकरि समुद्रतें निर्भय निकसता सूतन वरकी शोभाकूँ धरता अत्यन्त मोहता भया ॥२७॥ समुद्रपर्यन्त पूर्वके राजा अर समस्त दक्षिणके राजा वैजयंतद्वारपर्यन्त तिनिकूँ जीतिकरि पश्चिमका समुद्र है सीमा जाकी असी पश्चिमदिशा तहांके दिक्पालनिजुल्य भूपाल तिनितें प्रणाम करावता समस्त देवनिकूँ कंपायमान करता समस्तदिशाके चक्रकूँ अरिचक्ररहित करता भया ॥२८॥ यह कथा गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसूँ कहे है—
हे राजन् ! पुण्यके प्रयाशर्तें इह जीव भूमंडलकी जीतनहारी चक्रवर्त्तीकी लक्ष्मी

ताहि पावै है अर इन्द्रपदकी दिव्यलक्ष्मी पावै है अर पुष्पधकीही तीर्थङ्गकी
विभूति पावै है अर पुष्प ही सकी परंगराय मोक्षकी अविनाशी लक्ष्मी पावै है ।
या भांति पुष्पके प्रभावत ए अगारु विभूतिनेका अव्यजीय भाजन होय है तानै
सैसा जानि जे सुकुटि है ते पवित्र जिनंदके आगमते पुष्पकू उपार्जो ॥१२६॥

इति श्री भगवज्जिनसेनाचायेविरचित त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पश्चिमार्ग-
बद्धारविजयवर्णन नाम तीसवां पर्व पूर्ण भया ॥६०॥

× × × × ×